विक्रमादित्य

विक्रमादित्य

[ऐतिहासिक उपन्यास]

लेखक

रायबहादुर पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र साहित्यवाचस्पति
(मिश्रबंधु में से एक) तथा
पंडित प्रतापनारायण मिश्र (भ्रातृपुत्र)

—— :※: ——

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड
लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सं० २००३ वि०] [सजिल्द ५)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुख्य प्राप्ति-स्थान

१. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद
३. काशी-ग्रंथागार, मच्छोदरी-पार्क, काशी
४. लखनऊ-ग्रंथागार, लखनऊ
५. साहित्य-रत्न-भंडार, सिविल लाइंस, आगरा
६. हिंदी-भवन, अस्पताल-रोड, लाहौर
७. एन्० एम्० भटनागर ऐंड ब्रादर्स, उदयपुर
८. दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार-सभा, त्यागरायनगर, मदरास

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके यहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

भूमिका

राजा वीर विक्रमादित्य का शुभ नाम और यश हम भारतीयों को परम प्रिय है। इन दिनों हमने दो अन्य उपन्यास भी (मिश्र-बंधु-कृत) लिखे हैं। श्रीयुत पं० कृष्णदत्त वाजपेयी एम्० ए०, लखनऊ-पाषाण-विभाग-संग्रहालय के अध्यक्ष ने हमारे पुष्यमित्र उपन्यास के विषय में बहुत कुछ ऐतिहासिक मसाला हमें दिया था। इन दिनों विक्रम-द्विसहस्राब्दि-जयंती के संबंध में इस लोक-प्रिय विषय पर बहुत कुछ घटनाएँ निकाली गई हैं। उपर्युक्त वाजपेयीजी ने भी कुछ और मसाला हमें कृपा-पूर्वक इस विषय पर भी दिया। कुछ ऐतिहासिक विवरण स्वयं हमारे इतिहास-ग्रंथ में है, तथा यत्र-तत्र भी मिलता है। वही सब एकत्र करके हमने इस ग्रंथ का आधार प्राप्त किया, तथा उपन्यासों के योग्य घटाव-बढ़ाव अपनी रुचि के अनुसार बहुतायत से किया है। इस ग्रंथ का सत्रहवाँ परिच्छेद परिशिष्ट है, जिसमें तीनो प्रधान शकारि विक्रमों का ऐतिहासिक विवरण दे दिया गया है। यथासाध्य काल-विरुद्ध दूषण बचाने का प्रयत्न हुआ है। इतिहास में स्वयं प्रतिकूलताएँ इस विषय पर हैं। उनमें से यथेच्छ घटनाएँ चुनी गई हैं।

स्वयं विक्रम, उनकी तीनो माताएँ, भर्तृहरि, मंत्री अमरगुप्त, वीरवर, गंधर्वसेन, लाटेश्वर, ताम्रलिप्तर्षि, भूमक, लिअक, पतिक, राजबुल, षोडास, खरओस, हन (हनेंदुदेवी), अमोघभूति, हगाम, हगामस आदि ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। उनके विषय में जितनी बातें कथित हैं, वे सब ऐतिहासिक नहीं हैं। यथासाध्य इतिहास से

प्रतिकूलता नहीं की गई है, केवल उसकी अंग-वृद्धि हुई है। अमर-फल की भी मूल-कथा जनश्रुति में प्रचलित है। भर्तृहरि की राज्य-प्राप्ति और रानी को क्षमा-प्रदान औपन्यासिक घटनाएँ हैं। ग्रंथों में विक्रम के एक ही पुत्र के दो नाम हैं। भास कवि ऐतिहासिक हैं, किंतु उनका योगाभ्यास नहीं। सिंधुक शातवाहन तथा सुशर्मन आदि काण्व ऐतिहासिक हैं। प्रेम-कथाएँ औपन्यासिक हैं ही।

लखनऊ } शुकदेवविहारी मिश्र
सं० २००३ } प्रतापनारायण मिश्र

सूची-पत्र

पहला परिच्छेद

मालव-संघ तथा गणमुख्य-निर्वाचन

वर्तमान मालव-प्रांत ईसा पूर्व १०० (संवत् पूर्व ४३) के पहले से आकर और अवंति-नामक दो प्रांतों में विभक्त था। आकर पूर्वी भाग को कहते थे, और अवंति पश्चिमी को। राजधानी अवंतिका उपनाम उज्जयिनी थी। इसके पश्चिम में कर्कोटक-प्रांत का मुख्य नगर कर्कोटक था, जो मालव-संघ राज्य का केंद्र समझा जाता था; यद्यपि पूरे संघ की भी राजधानी थी उज्जयिनी ही। इस प्रांत के भी दक्षिण की ओर फैलता हुआ प्रतिष्ठान (पतित्थान उपनाम पैठन) मुख्य नगरवाला प्रांत था, और उत्तर वह प्रांत, जिसे अब दक्षिणी जयपूर कहते हैं। ये ही पाँचों प्रांत मिलाकर मालव राज्य का गठन था। इसमें किसी एक का स्वत्व न था, वरन् मालव क्षत्रिय स्वामी थे, जिनमें से सारे वयस्क लोग मिलकर अपने में से एक मनुष्य को गणमुख्य चुन लेते थे, जो जीवन-पर्यंत उनका राजा कहलाता तथा सबकी सम्मति से लोक-तंत्र चलाता था। सारी वयस्क क्षत्रिय जनता प्रत्येक प्रांत में अपने प्रतिनिधि नियत संख्याओं में निर्वाचित कर लिया करती थी, जो उसकी ओर से राजसभाओं में सम्मति प्रदान किया करते थे। स्वतंत्रता आदि के गुरुतम विषयों पर तो भी सब वयस्कों की सम्मति ली जाती थी। सारे क्षत्रिय अपने को न्यूनाधिक स्वामी समझने के कारण पूर्णतया राजभक्त होते थे। 'मालवानां जयः' उनका जातीय मंत्र था, जिसके रक्षणार्थ सारे तरुण मालव सुख

से जीवन अर्पण करने को प्रस्तुत रहते थे। उस काल गणमुख्य राजा नभोवाहन थे, जो बहुत ही प्रवीण वीर तथा प्रजा-प्रिय शासक थे। उनकी रानी का शरीरांत उस समय से थोड़ा ही पूर्व हो चुका था। एकमात्र पुत्र गंधर्वसेन युवराज थे। उनका विवाह उत्तरी गुजरात के राजा ताम्रलिप्तर्षि की एकमात्र कन्या मदन-रेखा से इसी वर्ष हो चुका था। राजा नभोवाहन शैव थे, जिनके प्रभाव से गंधर्वसेन तथा इनकी रानी ने भी शुद्ध और दृढ़ भाव से महाकालेश्वर की चिरकाल पूजा-अर्चा की। अवंतिका (उज्जयिनी) विशाल नगरी थी, जिसमें एक सुदृढ़ दुर्ग नभोवाहन ने बनवाया था। उसके रथपथ, चक्रपथ, राजपथ, पशुपथ आदि श्रेष्ठ थे, तथा नगरी उच्च श्वेत भवनों, अट्टालिकाओं, शिखरों, गवाक्षों, अलिंदों आदि से सुशोभित थी, मानो श्वेत कैलास गिरि हो। क्षिप्रा (सिपरा) नदी नगरी को प्रेम-पूर्वक क्रोड़ में लिए हुए तीव्रता के साथ प्रवाहित रहती थी। उज्जयिनी भारत की सप्त परम पुनीत पुरियों में परिगणित थी। द्वादश महापुनीत ज्योतिर्लिंगों में से महाकालेश्वरजी ने उसे अपना पावन स्थान बना रक्खा था। यह देव-मंदिर विशाल और ऊँचा था। सारी जनता पूर्ण श्रद्धा-भक्ति के साथ इसकी सेवा-अर्चा करती थी। नगरी में बहुतेरे महा सधन व्यापारी भी थे, जिनके व्यापार सारे भारतीय प्रांतों अथच बाह्य प्रदेशों से भी होते थे, तथा हुंडियाँ सब कहीं सकारी जाती थीं। निष्क-नामक स्वर्ण-मुद्राओं का विशेष चलन था। रजत-मुद्राओं को पण कहते थे, और ताँबेवालों को कार्षापण (कहापन)। जनता धन-धान्य से संपन्न और सुखी थी। राजकर नियमित एवं मृदु था, और उसके उगाहने में भी राज्य की ओर से अत्याचार का प्रयोग नहीं होता था।

यद्यपि युवराज महोदय प्रायः पच्चीस वर्ष के ही थे, तथापि

बहुत श्रेष्ठ पुत्र की प्राप्ति के परमोत्सुक होने से सपत्नीक शैव पूजा-अर्चा में साल-दो साल बड़े मनोयोग-पूर्वक रत रहे। विवाह के तीन वर्ष पीछे (४० संवत् पूर्व में) रानी मदनरेखा से उन्हें पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ, जो बड़ा सुंदर तथा देखने में बलिष्ठ समझ पड़ता था। नाम उसका विक्रमादित्य रक्खा गया। साल-दो साल में युवराज महोदय ने सौम्यदर्शना नाम्नी एक अन्य राजकुमारी से विवाह किया। पर इसके कोई संतान न हुई, और इसने भी स्वपुत्र के ही समान विक्रम का सदैव प्यार किया। दोनो रानियों में सपत्नियों के-से वैमनस्य का पूर्ण अभाव था—वे सदैव प्रेम-पूर्ण भगिनियों के समान रहा करती थीं। युवराज महोदय पहले तो देवपूजक, श्रद्धावान् व्यक्ति थे, तथा बहुत श्रेष्ठ पुत्र-रत्न की प्राप्ति में दैवत कृपा से समर्थ समझे गए थे, किंतु द्वितीय विवाह के पीछे न्यूनाधिक इंद्रिय-लिप्सा में रत हो गए, यहाँ तक कि रानियों से इतर सुंदरी स्त्रियों की नैमित्तिक प्राप्ति के भी प्रयत्न में रहा करने लगे। तो भी रानियों ने अपने पति-प्रेम में तिल-मात्र लाघव न आने दिया। राजा नभोवाहन अपने युवराज के दुश्चरित्रों से भी न्यूनाधिक अभिज्ञ थे, और बिना विशेष क्रोध प्रकट किए युक्ति-पूर्वक उसे इन बातों से दूर करने के भी प्रयत्न किया करते थे। इन प्रयत्नों का फल यह हुआ कि बेटे का चरित्र बहुत न बिगड़ने पाया, यद्यपि उनका गुप्त एवं अंतरंग प्रमदा-प्राप्ति-विभाग चलता न्यूनाधिक बराबर रहा, जिससे प्रजावर्ग में इनके प्रतिकूल अश्रद्धा बढ़ती रही, जो पिता के परमोच्च अथच प्रजा-प्रिय आचरणों के कारण और भी तीव्र होती गई। जितनी ही पिता की प्रशंसा होती थी, उतनी ही अधिक युवराज की निंदा हो जाती थी, यद्यपि उनके आचरण उतनी घोर निंदा के योग्य थे भी नहीं। शनैः-शनैः प्रजा की न्यूनाधिक अश्रद्धा का प्रभाव युवराज पर भी पड़ने लगा, और

वह जनता में बहुत कम आने-जाने लगे। इधर राजकुमार विक्रमादित्य समय के साथ द्वितीया के चंद्र-सा बढ़ने लगा। इसके आचरण आदि से ही परमोच्च दिखे, तथा विद्या एवं शस्त्रास्त्र-प्रयोग के ज्ञान में इसका चित्त सदैव परम विशेषता से निरत रहता था। शारीरिक शक्ति भी बहुत बढ़िया थी। धीरे-धीरे जब विक्रम का वयक्रम तेरहवें वर्ष में आया, तब वृद्ध राजा नभोवाहन का शरीरांत थोड़ी ही अस्वस्थता के पीछे हो गया। विधिवत् मरणोत्तर संस्कार किए गए, और मरण से चौदहवें दिन गणमुख्य-निर्वाचनार्थ तुरगामी साँडिनीसवार पाँचों प्रांतों को पहले ही भेजे जा चुके थे, जिनके तथा स्थानीय संवाददाताओं के प्रयत्नों से सारे प्रतिनिधियों को सूचना मिल गई, और वे सब यथासमय उज्जयिनी में उपस्थित हो गए। राज्य की ओर से उनके सारे सुपासों का प्रबंध नियमानुसार किया गया, और वे मुख्य राजकर्मचारियों तथा आपस में एक दूसरों से मिल-मिलकर गणमुख्य के निर्वाचन पर मत-परिवर्तन करने लगे।

राजकीय निधन पर शोक मनाने का समय व्यतीत हो चुका था, और कामकाजू बातें पूर्ण मनोयोग के साथ चलने लगीं। सब ओर नगरी में झुंड-के-झुंड प्रतिनिधि फिरते थे, क्योंकि २५० ऐसे सज्जन आ चुके थे। सब कहीं 'मालवानां जयः' का उच्च निनाद सुन पड़ता था। बहुतेरे मालव प्रणाम-आशीर्वाद आदि छोड़कर 'मालवानां जयः' कहकर ही एक दूसरे से अभिवादन करते थे। नभोवाहन बहुत ही प्रजा-प्रिय, कृपालु और योग्य शासक थे, किंतु गंधर्वसेन से जनता यों भी प्रसन्न न थी; उधर शकों के अति शीघ्र बढ़नेवाले असर से प्रतिनिधियों की अपने गणमुख्य में विशेष योग्यता-संबंधी चिंता और भी प्रबल थी। वे लोग बहुत व्याकुलता से सोच रहे थे कि क्या किया जाय? गंधर्व-

सेन का न तो आचरण शुद्ध था, न युद्ध-संबंधी विषयों में उन्हें विशेष रुचि थी, यहाँ तक कि मृगयार्थ भी बहुत कम जाते थे। प्रजा के सुख-दुःखों से वह बहुत कुछ उदासीन हो रहे थे। इधर विक्रम को सारी जनता परम प्रेम-पूर्वक चाहती थी। उनका व्यवहार साधारण लोगों से लेकर उच्चातिउच्च मनुष्यों तक से एकरस ललक के साथ प्रगाढ़ प्रेम-पूर्ण था। फिर भी उनकी अवस्था केवल तेरहवें वर्ष में थी। प्रतिनिधि वर्ग तो भी सोचते थे कि पाँच-छः वर्षों के लिये कोई योग्य अभिभावक नियत होकर यदि किसी भाँति वही गण-मुख्य नियत हो सकें, तो मालवों का भविष्य समुज्ज्वल दिखने लगे। उनका व्यवहार सबों से ऐसा शुद्ध था कि विमाता भी उन्हें स्वयं माता के समान चाहती थी। फिर भी इतना भय सबको था कि स्वयं अपने पितृचरण के सामने वह यह पद स्वीकार न करेंगे। इन्हीं कारणों से प्रतिनिधिगण इस बार के निर्वाचन में बहुत ही चिंतित थे।

उधर राजनीतिक दशा यह थी कि सिंध में प्रायः डेढ़ सौ वर्षों से यवन और अनंतर शक शासक हो रहे थे। यही दशा न्यूनाधिक पाश्चात्य पंजाब की साकलनगर और प्रांत के पश्चिम से थी। इधर प्रायः पैंतीस वर्षों से माउवस और फिर अन्य शक स्वयं तक्षशिला पर अधिकृत हो गए थे। जिस वर्ष युवराज गंधर्वसेन का विवाह हुआ था, प्रायः उसी वर्ष से सिंध-प्रांत से बढ़कर शकों ने माथुर मित्र नरेश को ध्वस्त करके उधर अपना विशाल राज्य विस्तृत किया था। कुनिंद गणराज्य पर भी शकों का प्रचंड आक्रमण हो चुका था, जिसमें दोनो पक्षों की भारी हानि हुई थी, विशेषतया कुनिंदों की। था यह गणराज्य स्थापित तो भी, किंतु इसका भविष्य संदिग्ध हो रहा था। इस प्रकार तक्षशिला और मथुरा में पृथक् शासक महाक्षत्रपों के रूप में स्थापित हो चुके थे। सिंध में यद्यपि

थीं ६६ शाहियाँ, और उनका राजनीतिक व्यवहार शाहानुशाही से बहुत प्रेम पूर्ण न था, तो भी उन्हें दबानेवाला कोई न दिखता था। इधर सौराष्ट्र में किसी प्रबला भारतीय शक्ति का प्रभाव-क्षेत्र न था, जिससे वहाँ भी सिंधी शकों के प्रसर का भय था। दक्षिणी जयपूर-प्रांतवाले मालवों को तथा आकर अवंतिवालों को माथुर शकों के प्रसर का विचार घेरे रहता था। उधर सौराष्ट्र पर किसी शत्रु का अधिकार होने से मालवों से अनबन संभव थी। अतएव बढ़ता हुआ शक-प्रभाव दो ओर से मालवों को चिंता-जनक था, अथच तक्षशिलावालों का यदि कभी दाक्षिणात्य प्रसर होता, तो वह भी एक संदिग्ध घटना हो सकती थी। इन सब कारणों से गंधर्वसेन के गणमुख्य होने से मालवों को अपनी भावी स्वतंत्रता परशत्रु-आघात का बीजरूप दिखता था। त्रिधारात्मिका इस प्रचंड शक-शक्ति का प्रसर कैसे रुके, यही एक विचारणीय प्रश्न था। आवश्यकता इस काल बड़े ही चतुर शासक की थी, किंतु गंधर्वसेन में शौर्य तथा राजनीतिक योग्यता के स्थान पर चरित्र-संबंधी गड़बड़ तक दिखता था। अंततोगत्वा पाँचों प्रांतों के कुछ-कुछ प्रतिनिधि गुप्त-भावेन जुड़कर आपस में अंतिम विचार-विनिमय करने लगे—

आकरवाले—क्यों भाइयो! मालव-संघ का भविष्य अब कैसा दिख रहा है?

कर्कोटकवाले—आजकल तो होने जाने का प्रश्न सम्मुख है। कहते ही हैं कि "बचौ, तौ चाखौ प्रेम-रस; गिरौ, तौ चकनाचूर।"

प्रतिष्ठानवाले—अभी तो कोई ऐसा भय समझ पड़ता नहीं। यों तो स्वतंत्रता का वृक्ष केवल हृत्तल के रुधिर से सिंचित होकर ही फूलता-फलता है। फिर भी अभी निकट भविष्य में कुछ दिखता नहीं।

दक्षिणी जयपूरवाले—केवल निकट भविष्य का विषय तो अपने सम्मुख है नहीं, यहाँ तो सुदूर भविष्य तक पर ध्यान देना है। अभी

हमारे गंधर्वसेनजी ३८ वर्ष के हैं। प्रायः चालीस वर्षों का प्रश्न है।

उज्जयिनीवाले—इतनी दूर की सोचने से तो जीवन-पर्यंत के लिये एक ही गणमुख्य का चुनाव भयप्रद हो जायगा। फिर भी वृद्धों ने स्थिर यही प्रणाली रक्खी है, और चिरकाल से यह साफल्य के साथ चल भी रही है।

कर्कोटकवाले—कहने को तो हमारे गणराज्य प्रजातंत्र हैं, किंतु जीवन-पर्यंत के लिये एक ही व्यक्ति के गणमुख्य हो जाने से वंश-परंपरागत राजाओं से उसकी नियुक्ति प्रायः मिल जाती है, क्योंकि एक के मरने पर भी झख मारकर हम लोगों को उसी का उत्तराधिकारी चुनना पड़ता है। ऐसी दशा में निर्वाचन का यह ढकोसला ही अनावश्यक-सा दिखता है।

उज्जयिनीवाले—इतनी दूर की कौड़ी लाना बेकार है; जो बात सम्मुख है, उस पर विचार हो। कौन-सी प्रणाली योग्य अथवा अयोग्य होगी, यह प्रश्न नवसंस्थापित गणों के लिये विचारणीय है। अपना तो विधान जैसा शताब्दियों से चला आता है, उसी के अनुसार होना ठीक है।

आकरवाले—यही बात है, भाइयो! अब यह सोचिए कि जो मामला सामने है, वह किस प्रकार निबटाया जाय?

जयपूरवाले—समझ तो ऐसा पड़ता है कि युवराज महोदय का चलाया हुआ यह संघ चलेगा नहीं। यदि साधारणी स्थिति होती, तो और बात थी, किंतु इस काल शकों के प्रबल प्रताप से भय उपस्थित है, जो दूर का न होकर निकट का ही है।

प्रतिष्ठानवाले—है तो बात नितांत सत्य। यह बात उज्जयिनी-वाले ही बतला सकते हैं कि युवराज महोदय से निश्चित आशाएँ कैसी हैं, क्योंकि केवल संदेह पर इतना बड़ा प्रश्न निर्णीत हो सकता नहीं, विशेषतया ऐसी दशा में, जब राजकुटुंब में कोई अन्य वयस्क

पुरुष है नहीं, तथा इस कुटुंब से इतर भी कोई निकलता हुआ व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।

उज्जयिनीवाले—इतना तो निश्चित समझ पड़ता है कि युवराज का चलाया हुआ यह संघ न चलेगा। उन्हें अपने तरुणी-विभाग-वाले आंतरिक कार्यकर्ताओं की मंत्रणाओं से इतना समय कहाँ मिला जाता है कि लोकतंत्र-संचालन के-से शुष्क विभागों पर समुचित समय दे सकें ? फिर उसके निगूढ़ रहस्यों पर पैनी दृष्टि डालकर सत्य निर्णय पर पहुँचना कोई दाल-भात का कौर नहीं। उस पर तो पूर्ण परिश्रम करनेवाले बड़े-बड़े राज्य-संचालक पूरा ध्यान देने पर भी कभी-कभी चूक जाते हैं। तब ऐसों का क्या कहना, जो उस पर समुचित समय लगाना तक अनावश्यक भार समझें।

आकरवाले—है तो हम लोगों का भी यही सम्मत। देख ऐसा पड़ता है कि दोनो रानियों से गुप्त मंत्रणा करके किसी योग्य अभिभावक के साथ राजकुमार विक्रमादित्य को ही गणमुख्य बनाना उचित होगा।

कर्कोटकवाले—अभिभावक मिला अच्छा कौन जाता है ? दोनो रानियों को ही सम्मिलित अभिभाविका बनाने से संभवतः काम चल जाय। करेंगे सब काम विक्रम ही, केवल कठिन प्रश्नों पर माताओं की सम्मति महामंत्री से पूछ-गछ के पीछे ले लेनी होगी।

प्रतिष्ठानवाले—क्या रानियाँ यह बात मान लेंगी ? हमें तो निश्चय बैठता नहीं।

जयपूरवाले—सब ऊँच-नीच सुझाकर यदि बात कही जायगी, तो क्यों न मानेंगी ? कोई प्रसन्नता-पूर्वक तो ऐसा कहता नहीं ; सारी मालव-शक्ति के अस्तित्व तथा लाखों वीरों के जीवन-मरण का प्रश्न है। कोई हँसी-खेल थोड़े ही है।

आकरवाले—है तो बात यही। क्या इस विषय पर बहुमत है, अथवा सर्व-सम्मति ? लघुमत तो हो सकता नहीं।

यह सुनकर पाँचों प्रांतों के प्रतिनिधि सर्व-सम्मति से अपना-अपना स्वीकार प्रकट करते हैं, और प्रत्येक प्रांत से दो-दो परम प्रवीण प्रतिनिधि चुने जाकर राजप्रासाद को भेजे जाते हैं। वे लोग दोनो रानियों से यह बिनती करवाते हैं कि गुप्त सम्मतार्थ अंतरंग सभा-भवन में मंत्र किए जाने की प्रार्थना है। यह सुनकर कुछ चिंतित हो दोनो रानियाँ महामंत्री को बुलवाकर दसों प्रतिनिधियों से उनके सहित मिलती हैं।

महामंत्री—भाइयो ! आप महाशयों ने इस गुप्त सभा में अपने विचार दोनो स्वामिनियों के सम्मुख उपस्थित करने की जो प्रार्थना की थी, एतदर्थ उनके सहित मैं भी सेवार्थ उपस्थित हूँ। जो कुछ कहना हो, निःसंकोच भाव से प्रकट करने की कृपा कीजिए।

जयपूरवाले—आर्य ! हम लोगों के सम्मुख गणमुख्य-निर्वाचन का जो प्रश्न उपस्थित है, वह वर्तमान भारतीय स्थिति देखते हुए बड़ा ही गंभीर समझ पड़ता है। बुद्धि काम नहीं देती कि किस भाँति क्या कहें, जिसमें किसी प्रकार से राजभक्ति में त्रुटि न देख पड़े, क्योंकि इस कुटुंब के बाहर हम लोग भी नहीं जाना चाहते, केवल वैयक्तिक प्रश्न जटिल रूप धारण किए हुए समझ पड़ता है।

रानी मदनरेखा—आप सज्जनों को जो कुछ कहना हो, निःसंकोच भाव से कहिए। राजभक्ति से प्रतिकूलता का कोई प्रश्न है नहीं ; क्योंकि राजा इस काल कोई नहीं है, वरन् उसी के निर्वाचन का प्रश्न है। आप लोग निर्भयता-पूर्वक अपने विचार प्रकट कीजिए।

प्रतिष्ठानवाले—तब बिनती यह है कि शकों की वर्तमान प्रभाव-वृद्धि इस प्रबल वेग से चल रही है कि हम लोग इस काल ऐसा मालव-नेता चाहते हैं, जो युद्ध-विद्या का अच्छा पंडित अथच राज्य-रक्षण में पूर्णतया उत्साही हो, एवं जनता के सुख-दुःखों में पूर्ण सहृदयता अथच प्रेम रखता हो। ये गुण हमें अपने युवराज महोदय में नहीं

देख पड़ते, और उनके आचरण भी संदिग्ध हैं। ऐसी दशा में हमारा विचार है कि यदि देवियों की ही अभिभावकता में राजकुमार विक्रम गणमुख्य बना दिए जायँ, तो हम लोगों के होनेवाले सारे संकट कट सकते हैं।

रानी सौम्यदर्शना—इस विषय में आप लोग राजकुटुंब के प्रतिकूल तो जा नहीं रहे हैं, केवल आर्यपुत्र की सहृदयता तथा आचरण से असंतोष दिखता है। आप लोगों की विचार-धारा विद्रोहात्मिका न होकर आत्मरक्षण के भाव-मात्र पर आधारित है। प्रश्न ऐसा है कि उच्च जीवन में बहुतेरे सज्जन न्यूनाधिक उच्छृंखलता कर जाते हैं। आर्यपुत्र ने इस अशुभ मार्ग पर कुछ गमन अवश्य किया, किंतु इस आधिक्य से नहीं कि किसी को विशेष आपत्ति का अवसर मिले। इस विषय में सबसे अधिक आग्रह हमीं दोनो को संभव था, जो बात अब तक उत्पन्न हुई नहीं। क्यों न जीजी!

रानी मदनरेखा—यही बात है बहन! हमारे आगे पति और पुत्र में कोई विशेष भेद है नहीं। किसी के भी अधिकारभोगी होने से दोनो की योग्यता का लाभ संघ को प्राप्त होगा ही। पुत्र को पिता का आज्ञाकारी होना ही चाहिए। अतएव पिता के राजा होने से पुत्र की पूर्ण योग्यता का लाभ आप लोगों को मिलेगा ही। उधर पुत्र का आज्ञाकारी पिता नहीं हो सकता, अतः अधिकार-च्युत होने से उसकी उदासीनता बढ़ जाने से राज्य और कुटुंब, दोनो की हानि संभव है। आप ही लोग सोच लीजिए।

कर्कोटकवाले—माताजी की आज्ञा ठीक ही हो रही है, किंतु प्रश्न साधारण नहीं, बड़ा ही गंभीर है। यदि लोकतंत्र का प्रबंध थोड़ा भी शिथिल हुआ, जिससे सामरिक बल में कुछ भी क्षति आई, तो शकों की बढ़ती हुई प्रबलता से लाखों मालव भाइयों का हताहत हो जाना संभव है ही, स्वयं राजकुटुंब के भी कुशल-मंगल

का प्रत्यक्ष प्रश्न है। यह समय साधारण नहीं, वरन् मालव-संघ के लिये बड़ा ही शंका-जनक है। ऐसे अवसर पर न केवल युद्धार्थी भाइयों को आत्मत्याग करना होगा, वरन् राजकुटुंब के भी विना ऐसा किए अपने राज्य का अस्तित्व ही मिट जाना बहुत कुछ संभव है। यह विकराल समय गणमुख्य तथा सारे भाइयों के लिये इंद्रिय-सुखादि का न होकर पूर्ण तपस्या का है। इसीलिये हम लोगों का चित्त गत अनुभवों के कारण युवराज महोदय के संबंध में दृढ़ता नहीं पकड़ पाता।

आकरवाले—देखा जाय, देवीजी! कि जिस काल भावी देवासुर-संग्राम के कारण दैत्य-दानवों पर शंका-पूर्ण समय उपस्थित हुआ, तब सर्व-सम्मति से बलि दैत्येश बनाए गए, यद्यपि उनके पिता विरोचन तथा पितामह स्वयं प्रह्लाद प्रस्तुत थे, जो साधारण पुरुष न होकर योग्यता में बलि से श्रेष्ठतर भी थे, जैसा पीछे की घटनाओं से प्रमाणित हो गया, क्योंकि यद्यपि बलि की अनुचित दानशीलता तथा कुप्रबंध से दैत्यों का राज्य निकल गया, तथापि पीछे से प्रह्लाद ने दैत्येश बनकर देव-दल को पराजित किया। वह स्वयं इंद्र हो गए, और देवताओं को उस देश से हटकर इंद्रालय में बसना पड़ा। ऐसी दशा में भी बलि के नेतृत्व में स्वयं विरोचन और प्रह्लाद ने सेना में सम्मिलित होकर देवताओं से युद्ध किया था। बिनती यह है कि यदि सारे भ्रातृवर्ग-सहित राज्य के भी होने जाने का प्रश्न हो, तो पिता-पुत्रादि के संबंधों पर न जाकर सबको केवल योग्यता पर जाना चाहिए। यद्यपि राजकुमार विक्रमादित्य अभी हैं बालक ही, तथापि हम सबों को उनकी योग्यता, मिलनसारी, स्वार्थ-त्याग, शुद्धाचरण, कर्तव्य-पालन आदि पर इतना भारी भरोसा है कि समझ पड़ता है कि वह हमारी शक्ति को रण-दुर्मद शकों के कठोर आघातों से न केवल बचा लेंगे, वरन् स्वयं भारत को प्रचंड शक-आक्रमण से मुक्त कर सकेंगे।

रानी सौम्यदर्शना—धन्य है आप सज्जनों के उच्च विचारों को ! जब हमारे ही बेटे पर आप सबकी ऐसी महती श्रद्धा है, तब स्वयं हम उसके प्रतिकूल सम्मति कैसे दे सकती हैं ? क्यों न जीजी !

रानी मदनरेखा—क्यों नहीं बहन ! फिर भी हमें संदेह है कि बेटा बालक होने पर भी बहुत समझदार और पितृभक्त है। जो हो, आप सज्जनों के इच्छानुसार अब उसे बुलवाया जाय।

अनंतर महामंत्री द्वारा प्रेषित एक प्रतिनर्तक भेजे जाने से मान-पूर्वक आहूत होकर राजकुमार विक्रमादित्य सभा में पधारते हैं। महामंत्री उन्हें राजप्रतिनिधियों तथा रानियों के विचारों से पूर्णतया अभिज्ञ करते हैं।

विक्रम—(महामंत्री से) आर्य ! इस विषय पर पूज्य पितृचरण के विचार माननीय प्रतिनिधियों की सेवा में रखिए न। मुझसे तो बतला चुके हैं।

महामंत्री—बात तो कहनेवाली थी ही, किंतु देवियों के समक्ष कैसे कहता ?

विक्रम—(माताओं से) पूज्यवरे ! क्या आप अभी यहाँ विराजेंगी ?

रानी मदनरेखा—(रानी सौम्यदर्शना से) चलिए बहन ! अब चलें न ? हमें जो कुछ कहना था, वह कह भी चुकी हैं। (दोनो रानियों का बाहर जाना)

महामंत्री—भाइयो ! मैंने राजकुमार महोदय से बिनती कर दी थी, और अब आप सज्जनों के सम्मुख भी निवेदन करता हूँ कि जिस दिन से पूज्य बड़े राजाजी का स्वर्गवास हुआ है, उसी दिन से युवराजजी ने राज्य-भार अपने ऊपर आते देखकर तरुणी-विभाग के सभी अंतरंग सेवकों को पृथक् कर दिया तथा आचरणों के पूर्णतया

संयत रखने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। जब से उनके विषय में आप सज्जनों के न्यूनाधिक संदेह तथा राजकुमारजी पर विशेष श्रद्धा के विचार हम लोगों पर विदित हुए हैं, तब से मुझसे गुप्तभावेन मंत्र करके इन्होंने भी निश्चय किया है कि यथासाध्य अध्ययन के कार्य से समय निकालकर आप राज्य के सामरिक विभाग पर पूर्ण ध्यान दिया करेंगे। युवराज महोदय भी इस विभाग को बहुत कुछ शुद्ध युद्ध-विद्याविशारदों की सम्मति के अनुसार चलने देंगे, और अपना हस्तक्षेप न किया करेंगे। राजकुमार को भी अभी बारह-तेरह वर्ष विद्या-प्राप्ति में पूर्ण परिश्रम के साथ लगाने हैं, जिसमें विशेष अध्ययन तथा अभ्यास शस्त्रास्त्र-प्रहार एवं रण-कौशल का होगा। राजभार लेने से इनके अध्ययन में क्षति आ सकती है। बिना उपर्युक्त विषयों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किए इनके द्वारा राजकार्य भी तो उतना अच्छा न चल सकेगा, जितने की समय को देखते हुए भारी आवश्यकता है। हम लोग आपको वचन देते हैं कि पूर्ण लोकतंत्र महती योग्यता के साथ चलाया जायगा, तथा सामरिक विभाग पर राजकुमार की विशेष देख-रेख रहेगी। जितना काम आप गणमुख्य के रूप में कर सकेंगे, उतना ही युवराज के रूप में भी संपादित करेंगे। पिता के सम्मुख आप किसी दशा में सिंहासना-सीन होना नहीं चाहते, किंतु जितनी योग्यता की आप इच्छा रखते हैं, वह संपादित करने-कराने का आप पूर्ण प्रयत्न करेंगे। पिता-पुत्र में पूर्ण सद्भाव होने से इनके प्रयत्नों में उनके द्वारा कोई रोक न होगी। युवराज महोदय के प्रतिकूल आचरण तथा युद्ध-विद्या में न्यून अभिरुचि के ही संशय आप महाशयों को हैं। पहली बात का प्रबंध तो हो ही गया है, दूसरी राजकुमार के पूर्णज्ञ होने के पूर्व चतुर महासेनापति के अधिकार में रहेगी। मैं स्वयं उस पर विशेष निरीक्षिका दृष्टि रक्खूँगा, तथा अध्ययन से जब-जब अवकाश मिलेगा,

तब-तब राजकुमार भी ऐसा ही किया करेंगे, और मेरी तथा महा-सेनापति की सम्मति लेकर उचित आज्ञाएँ भी दिया करेंगे। आशा है, ऐसे आश्वासनों के पीछे आप सज्जन संशय-हीन हो जायँगे।

उज्जयिनीवाले—यदि इतनी बातें आपने पहले ही कह दी होतीं, तो हम सब प्रसन्न हो ही जाते। देवियों के सम्मुख आचरण-संबंधी विवरण आप खोलकर नहीं कह सके। इसी से बहुतेरे कथनोपकथन हुए, तो भी कुछ बिगड़ा नहीं है।

आकरवाले—हम लोग राजकुमार विक्रम के श्रीमुख से भी कुछ श्रवण-सुखद वाक्य सुनकर पुलकित होना चाहते हैं।

विक्रम—मान्य भाइयो! मैं आप सबको शतशः धन्यवाद देता हूँ कि इतनी छोटी अवस्था में ही आप मेरा मान करते हैं। जो कुछ आर्य महामंत्रीजी ने अभी कहा है, वह मेरे इच्छानुसार है। कहना मुझे ही योग्य था, किंतु जिस उत्तमता से आपने कहा है, उस प्रकार मैं न कह सकता। आशा है, अब आप प्रसन्न होंगे।

इस पर सारे प्रतिनिधि धन्य-धन्य कहते हैं, और सभा विसर्जित होती है। अनंतर दो ही तीन दिनों में उसी अंतरंग सभा-भवन में उपर्युक्त चुने हुए प्रतिनिधि राजाज्ञा से फिर एकत्र होते हैं, तथा युवराज गंधर्वसेन राजकुमार विक्रमादित्य और महामंत्री के साथ उनसे मिलते हैं।

गंधर्वसेन—भाइयो! आप सज्जनों के विचारों का विवरण आर्य महामंत्रीजी ने मुझे अभी कल बतलाया। मुझे ऐसी बातों से कुछ बुरा न लगा, वरन् यह जानकर मैं प्रसन्न हुआ हूँ कि वर्तमान भारतीय स्थिति देखकर आप लोग अपने मालव-संघ को सबल रखने में बद्ध-परिकर हैं। मानता हूँ कि युवराज होने की दशा में मैंने राजकाज पर विशेष ध्यान न दिया। इसका एक कारण पूज्य पितृचरण का भारी कार्य-कौशल था। मैं कोई काम बिगड़ता हुआ न देखता

था। अब सारा भार मुझी पर आ रहा है, जिससे मैं आप महाशयों को सच्चे चित्त से आश्वासन देता हूँ कि जितने मनोयोग से वे काम करते थे, उतने ही से मैं भी करूँगा, तथा विक्रम से भी यथासाध्य काम लूँगा। जो-जो आश्वासन आर्य महामंत्रीजी ने मेरी ओर से आपको दिए हैं, उन सबका मैं भी समर्थन करता हूँ। मैं यह भी चाहता हूँ कि संकोच छोड़कर आप सज्जनों को यदि कुछ पूछना हो, तो प्रसन्नता-पूर्वक पूछ लें।

जयपूरवाले—जब देव की ऐसी कृपा है, तब हम लोगों को भी कुछ निवेदन नहीं करना है। आगे जब जैसा होगा, बिनती बानती किया ही करेंगे।

गंधर्वसेन—यही बात है।

अब सारे एकत्रित लोग धन्य-धन्य करते हैं। अनंतर सभा भंग होकर यथा-समय सर्व-सम्मति से गंधर्वसेनजी गणमुख्य नियत होते हैं।

दूसरा परिच्छेद

सरस्वतीदेवी और गांधर्व विवाह

मालव-गण मुख्य नियत होने के पीछे अपने दृढ़ आश्वासन के अनुसार राजा गंधर्वसेन ने पूर्ण परिश्रम और मनोयोग के साथ प्रवीण मंत्रियों से मंत्र ले-लेकर सारा राजकाज बहुत उत्तमता के साथ चलाया। लोकतंत्र राजा नभोवाहन के समय योग्यता-पूर्वक परिचालित था ही, केवल इतनी ही बात थी कि उसमें कोई शैथिल्य न आने पाए। ऐसा बिलकुल न होने पाया, वरन् यथासाध्य संघ उन्नतिशील रहा। राजकुमार विक्रम ने इधर उज्जयिनी में ही रहकर विद्या-प्राप्ति में यथासाध्य बहुत परिश्रम किया, अथच योग्य भोजन, व्यायामादि द्वारा अपना शरीर भी सबल और स्वस्थ रक्खा। अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग तथा रण-कौशल में भी जितनी कुछ प्रवीणता राजधानी में और उसके इधर-उधर प्राप्त हो सकी, उसे भली भाँति अर्जित किया। जनता तथा मालव भाइयों को किसी प्रकार का कष्ट या निराशा न होने पाई, और सब लोग अपने निर्वाचन-काल-संबंधी संदेह-प्रकाशन के विषय में पश्चात्ताप-सा करने लगे। इसी प्रकार उन्नति-मार्ग पर चलते हुए छ वर्ष बीत गए।

दैव-दुर्विपाक से एक दिन रथारोही होकर नगर की सैर करते हुए राजा ने एक जैन संन्यासिनी को देखा, जो नगरी में पहलेपहल आई-सी थी, क्योंकि उसे आपने कभी पूर्व न देखा था। अवस्था उसकी प्रायः १७ वर्ष की थी, और रूप देखकर रंभा, रमा, रति आदि को भी लज्जा लगती थी। संन्यासिनी क्या थी, मानो साक्षात् तिलोत्तमा

मानुष-तन धरकर उज्जयिनी नगरी को दीप्ति प्रदान करने आई हो। उसे देखकर राजा बहुत कामार्त हुआ। उसे बार-बार देखे बिना चैन न पड़ती। इसने अपने को बार-बार समझाया कि जनता को जो आश्वासन दे चुका था, उसके प्रतिकूल जाने में राज्य-प्रबंध बिगड़ने के अतिरिक्त वचन-भंग का पातक भी लगने को था। इसने बड़ी मानसिक वेदनाएँ भी उठा-उठाकर अपना चित्त सँभालने के प्रयत्न किए। फिर भी वह किसी भाँति उसे सँभाल न पाता था। स्वयं बार-बार अपने को धिक्कारता हुआ भी वह किसी प्रकार लालसा शांत न कर सका। चित्त ही तो था, मचलता रहा। बहुत विचार के पीछे उसने सोचा कि अनुसंधान कराने से यदि कहीं वह तपस्विनी विवाह के योग्य निकल आए, तो सत्त और धर्म दोनो सध सकते थे। अतएव अपने एक प्राचीन सहायक धर्मसेतु जैन को बुलवाकर राजा ने बात की।

राजा—कहिए धर्मसेतुजी! आप कई वर्षों से मिले ही नहीं; क्या दशा है? काम-काज तो चला जाता है, और शरीर स्वस्थ है न?

धर्मसेतु—देव के अनुग्रह से सारे मामले ठीक-ठाक हैं। अब तो बहुत दिनों से देव की गणना राजर्षियों में हो रही है। मैं भी साधारण व्यापार में मन लगाए हुए हूँ। वृद्ध होने को आया। अब अनुचित विषयों से चित्त हटा रहा हूँ। बड़े भाग्योदय की बात है कि छ वर्षों के पीछे भला, देव को मेरा स्मरण तो आया। आज्ञा-प्राप्ति का प्रार्थी हूँ। आशा है, किसी अन्य विषय पर स्मरण हुआ होगा।

राजा—तुम भी धर्मसेतुजी! क्या बातें करते हो? अपने-अपने विषय नियत हैं; जो बात हो, उसी विभाग के मंत्री की भी आवश्यकता पड़ती है।

धर्मसेतु—जो आज्ञा। तब फिर विषय से भी कृपया विज्ञप्ति कराई जाय।

राजा—अब प्राचीन कार्यवाही तो हो सकती नहीं। जानते ही हो, मैंने मालव-प्रतिनिधियों को उच्चारण-संबंधी वचन दे रक्खा है, जो छ वर्षों से पूर्णतया निभा रहा हूँ।

धर्मसेतु—इसी से मुझे भी आश्चर्य हुआ था कि ऐसी महती आचरणोन्नति के पीछे एकाएकी मेरा स्मरण कैसे हो पड़ा?

राजा—आचरण अब भी नहीं गिराऊँगा, पर कार्य-साधन भी चाहता हूँ। ऐसा न होगा कि जिस किसी को जब-तब स्मरण करूँ। अब तो शास्त्रानुसार केवल एक और विवाह का उत्सुक हूँ। उस दिन सैर करने जो निकला, तो देखता क्या हूँ, मानो स्वयं उर्वशी अप्सरा देवलोक छोड़कर एक जैन-संन्यासिनी के रूप में इसी नगरी में भिक्षाटन कर रही है। क्या उसे जानते हो?

धर्मसेतु—देव! ऐसा कहते ही हैं कि "चोर चोरी से गया, तो क्या एरा-फेरी से भी गया?" उसे मैंने ध्यान-पूर्वक देखा है। सुंदरता की सीमा है। धारेश्वर राजा वीरसिंह की पुत्री है। आपके हर प्रकार से योग्य है। अपने भाई कालकाचार्य के साथ गुणाकर भिक्षु के उपदेश से जैन-संन्यासिनी हो गई है। उसी की अभिभावकता में रहती है। दोनो भिक्षाटन द्वारा कालक्षेप करते हैं। भाई उसका पीठाधिपति भी है। बड़ा मानी, हठी और क्रोधी है। वह भगिनी सरस्वती का गृहस्थ होना किसी भाँति स्वीकार न करेगा। कन्या शील, गुण, रूप, सभी में रति-रमा के समान है। बड़ी ही सच्चरित्रा और धर्मनिष्ठ है, किंतु अभी सांसारिक अनुभवों से शून्य-प्राय होने के कारण युक्तियाँ खेलने से सुगमता-पूर्वक वश में आ सकती है। इतना सोचना पड़ेगा कि उसके भाई से पूर्ण शत्रुता अवश्यंभावी है।

राजा—वह भिक्षुक मेरा कर ही क्या लेगा? कन्या क्या स्वेच्छा-पूर्वक वश में आ जायगी? इसमें तो शंका नहीं है?

धर्मसेतु—कुछ समय तथा स्वल्प व्यय के पीछे काम बन जाने में संदेह नहीं, किंतु इन दिनों लोग मुझे भी न्यूनाधिक धर्मवान् समझने लगे हैं। किसी दूसरे द्वारा इस कार्य का होना ठीक था।

राजा—यह क्या कहते हो? तुम्हारे ही द्वारा तो धार्मिकता की आड़ में सुगमता-पूर्वक कार्य-साधन हो जायगा। ऐसी युक्ति से कार्य संपादन करो कि तुम्हारी धार्मिकता की भी ख्याति बढ़े।

धर्मसेतु—जो आज्ञा।

ऐसा कहकर धर्मसेतु कालकाचार्य तथा संन्यासिनी सरस्वती की सेवा में भक्ति-भाव दिखलाता हुआ प्रायः उपस्थित हो-होकर घड़ियों तक भाँति-भाँति की धार्मिक चर्चाओं में प्रवृत्त होने लगा। नित्य-प्रति भोजनाच्छादनादि के रूप में उन्हें सुस्वादु तथा बहुमूल्य भेंटें भी देने लगा। जिन-जिन विषयों पर उनकी रुचि देखता था, उन्हीं की चर्चा चलाया करता था। अपने यहाँ तथा इतर स्थानों पर बुला-बुलाकर उनके व्याख्यान कराता, जिनमें अंत में सुस्वादु प्रसाद भी बँटवाता था। कभी-कभी दोनो को साथ-ही-साथ बुलाता था, और कभी पृथक्-पृथक् एक-एक को। कालक की इच्छा अधिकाधिक लोगों को जैन-मत में लाने की थी। सरस्वतीदेवी भी ऐसा ही चाहती थीं। धर्मसेतु ने बिनती की कि यदि राजप्रासाद में दो-चार व्याख्यान हो जायँ, विशेषतया अंतःपुर में, तो कार्य-साधन शीघ्रता-पूर्वक हो सकता था, क्योंकि वहाँ की जनता राजकीय विचारों से बहुत शीघ्र प्रभावित होती थी।

कालक—क्या राजा इस विषय पर धार्मिक रुझान रखता है?

धर्मसेतु—उन्हें तो राजकाज से समय कम मिलता है, फिर भी धार्मिक ज्ञान-प्राप्ति के उत्सुक हैं अवश्य। मुख्य बात यह कि रानियों को इस ओर विशेष रुचि है, किंतु वहाँ प्रारंभ में केवल सरस्वतीदेवी के व्याख्यान हो सकते हैं, आपके नहीं।

कालक—ऐसा तो मैं भी समझता हूँ। (सरस्वती से) क्यों बहन! क्या तू व्याख्यान दे सकेगी? उच्च समाज है; घबराएगी तो नहीं?

सरस्वतीदेवी—घबराने की कौन-सी बात है? पिताजी के समय में ऐसे समाज जुड़ा ही करते थे। हाँ, व्याख्यान देने का अभ्यास मुझे आधिक्य से नहीं है। फिर भी आपके साथ कभी-कभी दे ही आई हूँ।

कालक—क्या राजा अंतःपुर में ऐसे व्याख्यान होने देंगे?

धर्मसेतु—विशेषता से तो नहीं, न साधारण लोगों की प्रार्थना पर, किंतु मैं उनकी सेवा में यदा-कदा जाया-आया करता हूँ; अतः मेरी बात न टालेंगे।

सरस्वतीदेवी—तब फिर इसका प्रबंध कीजिए। आपको कष्ट तो न होगा?

धर्मसेतु—कष्ट की कौन-सी बात है? यों तो व्यापारी हूँ ही, और समयाभाव मेरे लिये एक साधारण बात है। तथापि धार्मिकता पर भी विशेष रुचि होने से ऐसी बातों के लिये समय निकालना ही पड़ेगा।

कालक—बड़ी कृपा। तो किस प्रकार से प्रारंभ होगा?

धर्मसेतु—पहले दो-चार बार अपने ही घर पर व्याख्यान कराकर फिर राजप्रासाद में आपकी राजा से भेंट कराऊँगा। जब न्यूनाधिक धार्मिक चर्चा करके आपकी ज्ञान-गरिमा से प्रसन्न होंगे, तब व्याख्यानों की भी आज्ञा दे देंगे।

सरस्वतीदेवी—कैसे प्रश्न पूछेंगे? क्या धार्मिक विषयों पर विशेष पैठ रखते हैं?

धर्मसेतु—राजा लोग अपने को सर्वज्ञ समझा करते हैं, किंतु जानते बहुत थोड़ा हैं। जैसी बातें मैं पूछता हूँ, वैसी भी न पूछ पाएँगे। दो-चार बातें यत्र-तत्र की पूछ लेंगे; जानते ही क्या हैं?

कालक—क्या मैं भी वहीं हूँगा ?

धर्मसेतु—व्याख्यान तो देवीजी का होगा। आपसे क्या बात करेंगे ? क्या अकेली संन्यासिनीजी न चल सकेंगी ?

कालक—जाने को क्या हुआ ? नगर में भिक्षाटन को जाती ही हैं। मैंने एक बात कही।

धर्मसेतु—यदि कोई चिंता हो, तो उन्हें अपने ही घर पर बुलाऊँ। ऐसा हो सकता है। मेरे यहाँ आए-गए भी हैं। हाँ, तब युवराज थे, राजा नहीं।

कालक—तब की बात और थी। भगिनी के जाने में दोष ही क्या है ? आप तो वहाँ होंगे ही।

धर्मसेतु—इसमें क्या संदेह है ? मैं भला इन्हें एकाकिनी कैसे छोड़ सकता हूँ ?

कालक—तब फिर कोई बात नहीं। जहाँ आप-ऐसे वृद्ध अथच धार्मिक व्यक्ति प्रस्तुत हों, वहाँ क्या कोई कष्ट संभव है ?

धर्मसेतु—ऐसा तो है ही।

अनंतर दो-चार बार सरस्वतीदेवी को उसने अपने घर निमंत्रण देकर सुस्वादु भोजन कराया, तथा धार्मिक व्याख्यान भी दिलाए। एक बार अपने साथ उन्हें राजप्रासाद में भी ले गया, जहाँ राजा ने अपने अंतरंग कक्ष में उसी के साथ संन्यासिनी से बात की—

राजा—कहिए देवीजी, कितने दिनों से आप मेरी राजधानी में पधारी हैं ?

सरस्वतीदेवी—अभी दो ही मास से आई हूँ। नगरी तो बहुत श्रेष्ठ है।

राजा—प्रसन्न रहती हैं न ? कोई कष्ट तो नहीं होता ? धार्मिक चर्चा आपने यहाँ अच्छी पाई होगी।

सरस्वतीदेवी—देव की कृपा से बहुत प्रसन्न हूँ, कोई कष्ट नहीं।

जनता बड़ी उदार है ; विना माँगे भी भिक्षा मिल जाती है। धार्मिकता भी कम नहीं, यद्यपि जैनों की विशेषता न होकर शैवों तथा शाक्तों की है।

राजा—कष्ट क्यों होने लगा ? जहाँ मानसिक उदारता है, वहाँ सुख-ही-सुख है। हमारी उज्जयिनी भारतीय सप्त प्रधान धार्मिक पुरियों में है। महाकालेश्वर के जगन्मान्य शैव मंदिर के कारण इस मत की प्रधानता यहाँ है ही। तो भी बहुतेरे जैन-मतावलंबी भी हैं। इस राज्य में किसी मत-विशेष का आदर अथवा अनादर नहीं। मैं सब धर्मों को समान दृष्टि से देखता हूँ।

सरस्वतीदेवी—मान्य नरेशों को यही दाक्षिण्य भाव-युक्त आचरण शोभा देता है। हम दोनो जब से इस पुनीत पुरी में आए हैं, तब से हमें क्षण-मात्र को कोई असुविधा नहीं हुई। सुना, आप मुझसे कुछ धार्मिक चर्चा करना चाहते थे।

राजा—इसीलिये तो आपको कष्ट दिया है। क्या आप कृपया जैन-मत के मूल-सिद्धांतों का कथन कीजिएगा ? आपके चंद्रवत् समुज्ज्वल श्रीमुख से धार्मिक उपदेश और भी मीठे लगेंगे।

सरस्वतीदेवी—ऐसी चर्चाओं में तो केवल सिद्धांतों पर विचार होते हैं, वक्ता की शारीरिक ज्योति पर नहीं। फिर मुझमें ऐसी शोभा है ही क्या ?

राजा—इसे आप कैसे जान सकती हैं ? मैं अपनी ऐसी धृष्टता के लिये क्षमा का भी प्रार्थी हूँ, यद्यपि मेरे सौंदर्य-कथन में अधिकोपमा का दूषण नहीं लग सकता, हीनोपमा का भले ही लगे।

धर्मसेतु—देव ! हमारी जैन-धर्मावलंबिनी तपस्विनियों के संबंध में शारीरिक शोभादि के कथन बहुत अनुचित समझे जाते हैं।

संभवतः आर्यधर्मी देव-दासियों आदि के भ्रम में आपके ऐसे कथन हो गए ।

राजा—क्षमा का प्रार्थी हूँ । ऐसी समुज्ज्वल रूप-राशि को सम्मुख देखते हुए उसका कुछ भी महत्त्व प्रकट न करना मेरी गुण-ग्राहकता के ही प्रतिकूल न होता, वरन् बोधव्य के निहित अपमान का भी कारण हो सकता था । अस्तु । अब धार्मिक चर्चा हो, शारीरिक सौंदर्य की अलौकिकता से जो महत्समादर के भाव चित्त में उठना स्वाभाविक क्या, अनिवार्य हैं, उन्हें मैं अब अप्रकट रक्खूँगा, क्योंकि वे मानसिक रूप में दबाए तो जा सकते नहीं ।

सरस्वतीदेवी—(हँसकर) सौंदर्य का अयोग्य कथन बहुत कुछ हो चुका, अब शुद्ध धार्मिकता पर आती हूँ ।

राजा—क्षमा कीजिएगा, देवीजी ! धार्मिकता तो इसमें भी कम नहीं । धर्म का मूल-मंत्र कर्तव्य-पालन है, जो मुख्यतया सत्य पर अवलंबित है । जब जगन्मोहक देदीप्यमान प्रतिभावलोकन से आत्मीयता अथच स्वार्थ से नितांत पृथक् परम शुद्ध तथा सात्त्विक समादर-भाव चित्त में उठे, तो उसके कथन से बोधव्य को वंचित रखना क्या सत्यता-गोपन का प्रच्छन्न दोष न होगा ?

धर्मसेतु—देव के विचार बहुत ही उच्च और सात्त्विक हैं, किंतु साधारण श्रेणी की संन्यासिनियों को ऐसी बातों में अनुचित प्रेम-प्रदर्शन की दुर्गंधि आ जायगी ।

राजा—आपने तो मुझसे पहले ही कथन कर दिया था कि हमारी देवीजी ऐसे क्षुद्र भावों को पास न फटकने देकर शुद्ध सात्त्विक विचारों की यथार्थता पर तुरंत पहुँच जाती हैं ।

धर्मसेतु—है तो यही बात ; इनकी मानस-वृद्धि ऐसी महती है कि कोई कथन किसी भी रूप में किया जाय, यह साधारण मूर्खा

भिक्षुणियों की भाँति क्रोध न करके वक्ता के वास्तविक भावों-मात्र पर ध्यान देती हैं। रूप-लावण्य तो इनका ऐसा समुज्ज्वल और संसार-मोहक है कि साधारण व्यक्ति उससे बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकते। फिर भी मैं भली भाँति जानता हूँ कि देव की मानस-उन्नति परमोच्च श्रेणी की है, और आप सौंदर्य का कथन करने में भी परम शुद्ध अनात्म भाव से सांसारिक महत्ताओं तथा विधि की कारीगरी-मात्र पर ध्यान रखते हैं। साधारण इंद्रिय लोलुप, कामुक पुरुषों की भाँति आपके कथन न होकर प्रणय-निवेदन से वे कोसों दूर रहते हैं।

सरस्वतीदेवी—रूप का वर्णन शुद्धा-शुद्ध जो कुछ हो, बहुत आधिक्य से हो चुका। मैं इसे प्रणय-निवेदन का रूप नहीं देती, क्योंकि कोई अंध भी जानेगा कि एक शुद्धा संन्यासिनी संसार से विरक्त होकर ऐसी बातों की ओर न जा सकती है, न जगन्माता अथवा जगद्-धात्री के रूप में कोई मूर्ख भी उससे कुछ भी आशा कर सकता है। यहाँ तो शरीर-धारण केवल संसार के लाभार्थ है; न जीने की आशा है, न मरण का भय। जब तक तीर्थंकर महोदयों की इच्छा मेरे द्वारा संसारोन्नति में योग दिलाने की है, तभी तक यह धर्म-कार्य चला रही हूँ, तथा शरीर धारण करती जाती हूँ।

राजा—यही बात है देवीजी महोदया! उच्च सिद्धांतों का चुने हुए शब्दों में कैसा जगन्मान्य निरूपण हुआ। अहा! जैसा रूप जगन्मोहक है, वैसे ही कथन भी अमृत में डुबोए हुए हैं। जी में आता है, जीवन-पर्यंत देवीजी के अमृतमय उपदेशों का ही पान करता रहूँ। कहाँ इतनी छोटी अवस्था और कहाँ ऐसे परमोच्च सिद्धांत! देवीजी तो सारे संसार को मोह-गर्त से निकालने के निमित्त नौका-रूप में अवतीर्ण हुई हैं। अच्छा, महोदया! अब जैन-धर्म के मुख्यातिमुख्य सिद्धांतों के कथन की भी कृपा हो जाय। क्या ही श्रवण-सुखद, मधुर कथन हैं।

सरस्वतीदेवी – जो इच्छा। हम लोगों के तीन मुख्य सिद्धांत हैं—सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्कर्म। इस अंतिम के पाँच उपदेश हैं—सत्य भाषण, अस्तेय, इच्छा-ध्यान, पवित्रता और अहिंसा। हम सब तीर्थंकर को ही ईश्वर के समान मानते हैं, यद्यपि ईश्वर का अस्तित्व हमारे यहाँ नहीं। जीव चैतन्य, प्रकाशरूप एवं ससीम है, तथा स्याद्वाद की प्रधानता है। मनुष्य को देवत्व-प्राप्ति का अधिकार है। उसे आध्यात्मिक बल से शारीरिक स्थूल प्रकृति को स्ववश रखना चाहिए। इसके पूर्णतया वशीभूत होने से ही उसे पूर्णत्व, स्वतंत्रता और परमानंद प्राप्त होते हैं। ऐसा ही प्राणी जिन अथवा तीर्थंकर कहलाता है। धर्मोपदेश करने से वह जिन होता है, नहीं तो सामान्य सिद्ध। हमारे यहाँ संसार ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं।

धर्मसेतु—वाह देवीजी, वाह! क्या ही थोड़े शब्दों में सारे परमोत्कृष्ट जैन-सिद्धांत कह दिए। धन्य है आपके अलौकिक धार्मिक ज्ञान को!

राजा—क्या कहना है! वास्तव में हमारी देवीजी संसार-शुद्धि के अर्थ ईश्वर द्वारा किसी अवतारी रूप में भेजी गई हैं। जैसा रूप हमारे यहाँ सावित्री, सीता, रुक्मिणी आदि का कथित है, उससे श्रेष्ठ सौंदर्य प्रस्तुत है, और मानस-महत्ता तो उससे भी बढ़ी हुई है। श्रीमुख से फूल-से झरते हैं। इच्छा होती है, यावज्जीवन देवीजी के उपदेशों का ही मनन करता रहूँ।

सरस्वतीदेवी—बड़ी प्रशंसा हो चुकी, देव! अब इन सिद्धांतों पर कुछ दार्शनिक कथनोपकथन हों, तो अच्छा रहे।

राजा—इन कथनों में तीर्थंकरों का ईश्वरत्व एक प्रकार से हमारे अवतार-वाद से मिलता है। ईश्वर के न मानने का कथन-मात्र है, क्योंकि अवतारों का माननेवाला अनीश्वरवादी नहीं कहलाता।

हमारे यहाँ भी निर्गुण और सगुण ब्रह्म के उपासक पृथक् रूप से हैं ही। जीव हमारे यहाँ भी चैतन्य और प्रकाशरूप है। आप लोगों का उसे ससीम मानना कुछ उपहासास्पदसा है, किंतु यह आपके मुख्य सिद्धांतों में नहीं। स्याद्वाद तर्क का विधान-मात्र है, कोई धार्मिक सिद्धांत नहीं। इस प्रकार निगूढ़ रूप से देखने में जैन-मत का आर्य-धर्म से कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई देता। मुख्य भेद केवल इतना समझ पड़ता है कि आप लोग आर्य-मत के कुछ विशिष्ट सिद्धांत लेकर उन्हीं पर मुख्यता रखते तथा शेष को छोड़ देते हैं।

धर्मसेतु—है तो एक प्रकार से यही बात। अच्छा, अहिंसा के विषय में देव का क्या विचार है? इसका हमारे यहाँ विशेष मान है।

राजा—है अहिंसा का न्यूनाधिक मान आर्य-मत में भी, किंतु एक तो यह तर्क पर नहीं बैठता; दूसरे, इसके कारण देश से शौर्य तिरोहित हो सकता है। आर्य-मत उचित ही इस पर विशेषता नहीं रखता।

सरस्वतीदेवी—पहले अपने द्वितीय तर्क पर कुछ कथन करने की कृपा कीजिए, देव!

राजा—हिंसा संसार में हुआ ही करती है। चोर, डाकू, हिंसक, लुटेरे आदि सधन व्यक्तियों अथवा शत्रुओं पर उचितानुचित कारणों से आक्रमण किया ही करते हैं। यदि ऐसे दुष्टों को दंड न दिया जाय, तो सज्जनों का खलों द्वारा विनाश सह्य मानना पड़ेगा। यदि दंड दिया जाय, तो अहिंसा का न्यूनाधिक ह्रास है। यदि अभियुक्तों के संबंध में यह विचार छोड़ दिया जाय, तो आक्रमणकारी राजन्य-वर्ग पर वही विषय आता है, जिसे छोड़कर ही सम्राट् अशोक के समय भारतीय बल ध्वस्त हुआ। यदि उसे भी छोड़ दें, तो केवल

पशु-पक्षियों आदि पर ही इसका विचार सीमित रह जाता है। मृगया छोड़ने से शस्त्रास्त्र का प्रयोग घटता है, जिससे शौर्य में न्यूनता आती है। मांस-भक्षण वर्जित करने से शारीरिक पुष्टि में भेद पड़ता है। आनुषंगिक महत्ता की दृष्टि से एक-एक व्यक्ति का भी मानुष-जीवन करोड़ों मत्स्यादि से श्रेष्ठतर है। फिर मधु, दधि, घृत, क्षीरादि भी जंतुओं के शरीरांश हैं, और दूसरों के भाग भी इन वस्तुओं द्वारा छीने जाते हैं। फलतः पशु-भक्षण हम जब बचा नहीं सकते, तब अहिंसा का ढोंग न केवल अनावश्यक, वरन् मानव-जाति के लिये बहुत हानिकर है। फिर तरकारी और अन्न आदि भी विज्ञान द्वारा जीवित पदार्थ प्रमाणित हैं। इन कारणों से अहिंसा का विचार न तो तर्क-सिद्ध है, न लाभकर और न संभव।

सरस्वतीदेवी—देव ने इन बातों पर अच्छा विचार-वर्द्धन कर रक्खा है।

राजा—किंतु इन शुष्क विवादों के लिये मैंने आपको यहाँ पधारने का कष्ट नहीं दिया है। मेरा तो यह जानने का अभिप्राय है कि एक उच्च कुल की सुशीला राजकन्या होकर आपने निवृत्ति-मार्ग अपनाने का कष्ट क्यों उठाया? इस अपूर्व ज्योति की प्रतिच्छाया से संसार को वंचित रखना आपको क्यों योग्य अथवा रुचिकर जँचा?

सरस्वतीदेवी—मेरा राजपुत्री होना देव ने कैसे जाना?

राजा—ये तो राजधर्म के विषय हैं। लोकतंत्र-परिचालनार्थ हम लोगों को विविध विषयों की खोज रखनी ही पड़ती है। आप इतर प्रश्नों के उत्तर देने की क्या कृपा करेंगी?

सरस्वतीदेवी—क्या सौंदर्यादि के विषय में कथनोपकथन मेरे वर्तमान संन्यास-धर्म के प्रतिकूल नहीं पड़ते?

राजा—मेरा तो शुद्ध तार्किक प्रश्न है, जो किसी भाँति के प्रेम-

प्रदर्शन, इंद्रिय-लिप्सा, स्वार्थ-सिद्धि आदि से कोसों दूर है। मैं उच्च विचाराश्रयी व्यक्तियों की सांसारिक स्थिति-मात्र के भाव से कह रहा हूँ।

धर्मसेतु—देव कभी स्वार्थीपन के निकट नहीं जाते। इनके शुद्ध तार्किक विचार रहते हैं। देखिए, जैन तथा आर्य-मतों पर बिना सोचे हुए भी किस योग्यता के साथ उच्च कक्षा का मत प्रकाशन कर दिया?

राजा—देवीजी! मेरा इतना ही भाव है कि जिस जगन्मोहिनी मूर्ति को रचकर ब्रह्मा ने भी अपने को धन्य समझा होगा, वह रत्न क्या गुदड़ियों में शोभा पाता है? इस महानिधि का मान क्या इसी प्रकार हो रहा है कि सिंहासनासीन होने के स्थान पर इसके द्वारा भिक्षाटन कराया जाय, और विधि-विडंबना का उदाहरण संसार में प्रकट हो? देखनेवाले यही सोचते होंगे न कि जिस करतार ने आपको इतना मान दिया, उसी ने ऐसा अशोभित कार्य ललाट में लिखकर कौन-सा न्याय प्रकट किया? यह समुज्ज्वल ज्योति किसी श्रेष्ठतर पद के योग्य न बनाकर विधि ने कौन-सा चातुर्य दिखलाया?

सरस्वतीदेवी—मुझसे आज तक किसी ने ऐसे स्पष्ट कथन नहीं किए, और देखने में ये अनुचित भी लगते हैं, किंतु जब वयोवृद्ध, भक्त-शिरोमणि स्वयं धर्मसेतुजी इन्हें शुद्ध तार्किक प्रश्न-मात्र मान रहे हैं, तब मैं संदेह कैसे करूँ? फिर एक गृहत्यागिनी संन्यासिनी को संदिग्ध प्रकृति शोभा नहीं देती। देव के प्रश्न पर आकर मैं समझती हूँ, मुझमें ऐसा बड़ा शारीरिक सौंदर्य है भी नहीं। फिर भिक्षाटन तो स्वयं महावीर तीर्थंकर, गौतम बुद्धादि महात्माओं ने भी किया था। यह स्वार्थ-त्याग अयोग्य कैसे माना जा सकता है?

राजा—मैं एक-एक विषय लेता हूँ। शारीरिक सौंदर्य पर मेरा-आपका मतभेद है। क्या आपने कभी किसी पाँच-छः हाथ ऊँचे मुकुर में अपनी समुज्ज्वल कांति निहारने का कष्ट अब तक नहीं उठाया, जो इस प्रकार का असंभव कथन किया जाता है ?

सरस्वतीदेवी—मैंने तो गृह-त्याग के पीछे कभी ऐसे मुकुर देखे नहीं। उधर घर छोड़ने के समय बालिका-मात्र थी।

राजा—तो क्या अब ऐसा कष्ट उठाइएगा ?

धर्मसेतु—देख ही लीजिए, देवीजी ! जिसमें एक साधारणी बात में मतभेद न रहे। मैं तो देव के ही विचार से मतैक्य रखता हूँ।

सरस्वतीदेवी—अच्छा चलिए, देख लूँ एक भारी मुकुर।

अनंतर राजकीय शृंगार-कक्ष में उन्हें ले जाकर प्रसाधिकाओं द्वारा बहुत श्रेष्ठ वस्त्रालंकार धारण कराए जाते हैं, और अन्य प्रकार से भी शारीरिक ज्योति द्युतिमती बनाकर वह मुकुर के सम्मुख खड़ी की जाती हैं। भाँति-भाँति से समझाई जाने तथा इधर उधर के तर्क सुनने के उपरांत बहुत कष्ट-कल्पना से वह अपना शृंगार कराए जाने को सहमत हुई थीं।

राजा—अब कहिए, देवीजी ! आपका विचार शुद्ध है, या मेरा ?

सरस्वतीदेवी—मैं तो आज पथ-भ्रष्ट-सी हुई जाती हूँ। मुझ संन्यासिनी को इस भाँति दीप्ति-वृद्धि का अधिकार ही कब था ? यह मेरा रूप नहीं, प्रसाधिकाओं के चातुर्य-मात्र का फल है। दिखाई अवश्य अच्छा देता है, किंतु यह शृंगार का माहात्म्य है, मेरा नहीं।

राजा—अब भवदीय पक्ष पराजित हो गया, देवीजी ! प्रसाधिकाओं की ही सहायता से अब अपना पहला रूप ग्रहण कर लीजिए, जिससे आपका मूर्ख भ्राता क्रुद्ध न हो। उससे इस रूप-

लावण्य-वृद्धि का कथन भी न कीजिएगा। मैंने जो कुछ किया है, वह एक तार्किक प्रश्न के संबंध में पूर्ण सात्त्विक भाव से हुआ है। यदि यह मतभेद एकाएकी न उठ पड़ा होता, तो यह बात काहे को होती?

सरस्वतीदेवी—जैसी आज्ञा।

अनंतर देवीजी अपना पहला रूप धारण करके राजकीय कक्ष में जाती हैं।

राजा—अब मेरे द्वितीय प्रश्न पर विचार हो। क्या ऐसी समुज्ज्वल आभा गुदड़ियों के ही योग्य है?

सरस्वतीदेवी—आप धनाढ्य तथा अधिकार-भोगी राजपुरुष होने से त्याग के समुज्ज्वल प्रभाव का उचित मान नहीं कर रहे हैं। गौतम बुद्ध, तीर्थंकर महावीर आदि महात्मा इसी रूप के आगे राजभोग को तुच्छ मान चुके हैं। मैं यह नहीं कहती कि देव जान-बूझकर पूज्य निवृत्ति-मार्ग की तुच्छता के कथन करते हैं, वरन् मेरा भय ऐसा है कि आपके जीवन का अनुभव इसकी उचित महत्ता के अवगत होने के प्रतिकूल रहा है। देव को समझना चाहिए कि संसार तुच्छ है, और यहाँ के झंझटों से मुक्ति पाना ही सत्य धर्म है।

राजा—संसार की तुच्छता का जो कथन देवीजी ने किया, वह अनुभव के प्रतिकूल समझ पड़ता है। इस तुच्छता का प्रमाण क्या है? क्या किसी ने इससे श्रेष्ठतर कोई लोक देखा है, जिसके आगे यह निकृष्ट माना जाय? इसी संसार को देखकर बहुतेरे विचार-हीन लोग इसकी अनौचित्य-पूर्ण कुछ घटनाओं के कारण अपना कल्पित संसार सोचते हैं, और उसी के सामने इसे न्यून मानकर तुच्छता के कथन करते हैं। इतना नहीं विचार करते कि जो कल्पना उन्होंने किसी श्रेष्ठतर लोक की अधूरे ज्ञान के बल पर की है, वह संभव भी है या नहीं? संसार गुण-दोष दोनों हैं। बुराई दोषियों के

कारण है, जिन्हें श्रेष्ठतर बनाने का प्रयत्न योग्य है, किंतु उन क्षुद्रों के कारण संसार क्षुद्र नहीं हो सकता। यदि इससे छुटकारा पाना ही ठीक हो, जो बात मुक्ति के विचार में आ ही जाती है, तो माता, पिता, पुत्र, कलत्र, मित्रादि के मरण पर दुःख क्यों मनाते हैं, ढोल क्यों नहीं पीटते? ऐसी दशा में पुत्रोत्पत्ति से प्रसन्नता क्यों मनाई जाय, क्योंकि एक व्यक्ति कारागार-मात्र में आया। बात यह है कि मुक्ति आदि के कथन नितांत अशुद्ध और सारे अनुभवों के प्रतिकूल हैं। संसार को बुरा वे ही समझते हैं, जो अपने उचित भाग से अधिक पाने के लिये बेजा उत्सुक रहते हैं, और इच्छाओं के अनुसार प्राप्तियों के अभाव में निराशाओं को न सँभाल पाने से संसार ही को तुच्छ कह बैठते हैं।

सरस्वतीदेवी—कहे तो देव ने कई श्रेष्ठ विचार, किंतु क्या मुक्ति का भाव अशुद्ध है?

राजा—जैन-मत के अनुसार मुक्त जीवात्माएँ मुक्त शिला पर विराजमान होते हैं, जहाँ उन्हें पूर्णानंद प्राप्त रहता है। मैं कहता हूँ, किसने वह शिला देखी है, और किसी शिला पर बैठने में सिवा कष्ट के सुख क्या है? इसी भाँति के संदेह सारे धर्मों के ऐसे कथनों में उठ सकते हैं। अदृष्ट का निश्चय कथन ही क्या? उसे किसने देखा और जाना? यदि मरणानंतर केवल दीप-निर्वाण का-सा मामला हो, तो कैसा? जीवात्मा का ही अस्तित्व कैसे सिद्ध माना जाय? मरणानंतर उसकी सत्ता तो दूर की बात है। मैं कहता हूँ, आज ही शरीर धारण की दशा में भी उसके अस्तित्व का क्या प्रमाण है? हम अनुभव केवल शक्ति के व्यवहार का कर सकते हैं, आत्मा का नहीं। वह शक्ति आत्मा से संबद्ध है, इस विचार का क्या आधार है? देखने में तो शक्ति शारीरिक अवयवों का फल है। ऐसी दशा में अनुभवों के प्रतिकूल आत्मा की कल्पना क्यों की जाय?

फिर सुख तो इच्छा-पूर्ति में है। जब मुक्त जीवात्मा को कोई इच्छा शेष नहीं होती, तब उसे सुख किस बात का होता होगा ?

सरस्वतीदेवी—तब फिर सुख-दुःख का विषय ही क्या है ?

राजा—यह वर्तमान शरीर से सबद्ध है। असमय का त्यागी उस शरीर को सुख से वंचित रखता है, केवल इस आशा से कि मरणोत्तर विशेष सुख प्राप्त होगा। किंतु प्रश्न यह है कि वह अदृष्ट सुख किस अदृष्ट शरीर को मिलेगा ? संसार के समुचित अनुभव से शून्य व्यक्तियों के लिये वह पर्दे की ओट में है। किसी अज्ञात वस्तु के विषय में आत्मीय ज्ञान-पूर्ण सत्य उपदेश आप क्या दे सकती हैं ? ऐसी दशा में अपरिपक्व अनुभव के साथ एक पूर्णतया अनजानी वस्तु का त्याग ही आप क्या कर सकती हैं ?

सरस्वतीदेवी—इन तर्कों से देव का तात्पर्य क्या है ?

राजा—प्रयोजन यह कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये शरीर एक निश्चित और प्रथम थाती है, जिसे सुखी और सबल रखना उसका सर्वोपरि कर्तव्य है। मरणोत्तर कोई न्याय है या नहीं, यह एक अज्ञात विषय है। यदि नहीं है, तो शरीर को कष्ट देनेवाले इहलोक में प्रत्यक्ष सुखी नहीं हैं, तथा परलोक में भी उन्हें कोई लाभ नहीं। यदि मरणोत्तर अस्तित्व तथा न्याय मान भी लिया जाय, तो शरीर को सुखी, सबल तथा यथासाध्य परोपकारी रखनेवाला इस लोक में प्रसन्न है ही अथच परलोक में भी उसके लिये कोई चिंता नहीं, क्योंकि उसने कोई पाप नहीं कमाया, वरन् यथासाध्य पुण्य भी किया। स्वर्ग-नरकादि के कथन पूर्णतया कल्पित विचार हैं, क्योंकि जब हम पंचेंद्रिय-युक्त पुरुष उन्हें देख नहीं सकते, तब जो लोग उनके कथन करते हैं, वे क्या षडेंद्रिय या सप्तेंद्रिय-युक्त हैं ?

सरस्वतीदेवी—जो कथन अपने यहाँ के महात्मा लोग कर गए हैं, उनका अनुगमन क्या सद्धर्म नहीं ?

राजा—एक प्रकार से सद्धर्म होता हुआ भी यह भाव अनुगामी में दास-मानस का बोध कराता है। जो वस्तु मनुष्य जान ही नहीं सकता, उस पर निश्चित प्रकार से अंधानुकरण मानुष-शक्तियों की अवहेलना है। मेरा विचार तो ऐसा है कि यथासाध्य परोपकार करता अवश्य जाय, तथा किसी का अपकार यथासाध्य कभी न करे, किंतु स्वयं अपना भी अपकार अनुचित है, क्योंकि संभव यह भी है कि ऐसा दुःखद एवं कठिन परिश्रम अंत में फल-हीन निकल पड़े।

सरस्वतीदेवी—इन सारे तर्कों का प्रयोजन क्या निकला?

राजा—प्रयोजन यह कि महात्मा बुद्ध के कथनानुसार अंतों से बचकर मध्यमा प्रतिपदा का धारण करना योग्य है। स्वयं उन्होंने अनुभव के पीछे तपस्या को व्यर्थ माना था। मेरा कथन यह है कि देवीजी अंतों पर चल रही हैं, मध्यम मार्ग पर नहीं। ऐसा ज्वलंत देदीप्यमान रूप संसार में बहुत कम देखा जाता है। उसे अना-वश्यक खोना कौन-सी बुद्धिमत्ता है? फिर अपने ऊपर इतना कष्ट उठाकर देवीजी एक शिक्षिका उत्पन्न करने का पुण्य पाती हैं, तो क्या मुझे ऐसे सहस्रों शिक्षक अपने धन से नियोजित करने में उससे अधिक पुण्य न होता होगा? ऐसी दशा में राजप्रासाद छोड़कर आप जो इतना कष्ट उठा रही और अपना पद गिरा रही हैं, उससे क्या विशेष पुण्य प्राप्त हो जाता है?

सरस्वतीदेवी—अच्छा, फिर मेरे लिये योग्य क्या है?

राजा—यह प्रत्यक्ष है कि आपका आचरण बहुत उच्च है, क्योंकि स्वार्थ-त्याग आपके पुनीत जीवन का परम सत्य एवं प्रधान गुण है। स्वयं मैंने पितृचरण के समय में न्यूनाधिक स्वार्थी जीवन बिताया, किंतु उनके पीछे से यथासाध्य वह अभिलाषा छोड़कर निःस्वार्थ भाव से राज्य और संघ की सेवा कर रहा हूँ। आपके समक्ष मेरा स्वार्थ-त्याग है बहुत ही निम्न श्रेणी का, किंतु हूँ मैं भी न्यूनाधिक

उसी पवित्र पथ का पथिक। वैभव और ऐश्वर्य-भोग का जो प्रदर्शन आप मेरे संबंध में देख रही हैं, वह मेरा न होकर वास्तव में उस सेवा का रूप है, जो मैंने अवश उठाई है, क्योंकि शुद्ध भाव से देखने में राजपद के कर्तव्य भी हैं अंत में प्रजा की सेवा ही।

सरस्वतीदेवी—मुझसे किसी ने कभी ऐसे अनूठे विचार कहे नहीं। समझ तो ये अशुद्ध पड़ते हैं, किंतु तर्क से इन्हें काटने की शक्ति मुझमें नहीं है। देव के भाव अवश्य उच्च हैं, किंतु तर्क वैसे नहीं।

राजा—जब ऐसी बात है, तब तर्कों को अशुद्ध समझते जाना क्या हठवाद की कोटि में नहीं पहुँच जाता?

सरस्वतीदेवी—इस विषय पर किसी महात्मा से वार्तालाप करके मैं निश्चित निर्णय पर आ सकती हूँ। अब तक तो मेरा विचार ऐसा था कि संन्यासियों का जीवन पुण्य मार्ग में राजाओंवाले से बहुत श्रेष्ठतर है।

राजा—है इस विचार में भी बहुत कुछ तथ्यांश, किंतु यह भाव ऐसे नरेशों के प्रतिकूल सीमित रखना पड़ेगा, जिनका जीवन न्यूनाधिक पाप-पूर्ण है। उन्हें मैं न केवल संन्यासियों से, वरन् सदाचारी साधारण जनता से भी निकृष्ट समझता हूँ, किंतु जो भूपाल पापी न होकर थोड़ा-बहुत पुण्यवान् हैं, उनकी पवित्रता का प्रभाव संसार में उच्चता-वृद्धि के मार्ग पर एक क्या, सौ संन्यासियों से अधिक पड़ेगा, क्योंकि उनके प्रयत्नों से करोड़ों लोगों को लाभ पहुँचेगा।

धर्मसेतु—आज देव के कथन धर्म-पथ पर भी बहुत ही उच्च कोटि के हुए हैं। मुझे यह बात नितांत अज्ञात थी।

सरस्वतीदेवी—है तो ऐसा अवश्य। आज मैंने शुद्ध धार्मिक विचारों का एक नवीन, किंतु बहुत पूज्य दृष्टिकोण देख पाया है। अब विलंब बहुत हो चुका है, यदि आज्ञा हो, तो अपने आश्रम जाऊँ, योंकि आचार्यजी राह देख रहे होंगे।

राजा—जैसी इच्छा, उचित समयों पर फिर दर्शन दीजिएगा। मेरे कथनों पर बुरा न मानिएगा, क्योंकि कोई धार्मिक व्यक्ति न होकर मैं तो एक साधारण गणमुख्य तथा तर्काश्रयी पुरुष-मात्र हूँ।

सरस्वतीदेवी—नहीं, देव! आपके धार्मिक भाव भी परमोच्च हैं। मैं बहुत प्रसन्न हुई। ये बातें अपने भाई से पूछकर उनके भी विचार जानूँगी।

राजा—यही मैं चाहता नहीं।

धर्मसेतु—देखने में हम लोगों को ऐसा समझ पड़ता है कि आपके भ्राता तो पीठाधिपति हो गए, किंतु आपकी धार्मिक पदवी अभी जैसी-की-तैसी है। हम लोगों के-से मूर्ख समझते हैं कि वह नृपति न सही, धार्मिक अधिपति तो हो गए। इधर आपने मानसिक महत्ता पूरी क्या, उनसे बढ़कर भी प्राप्त करते हुए कोई प्रकट उन्नति न की। उनके जैसे सहस्रों शिष्य हैं, उसी भाँति गुरुभाई भी एक प्रकार के शिष्य ही होते हैं। क्षमा कीजिएगा, मुझ-जैसे मूर्खों को जान पड़ता है कि उन्हीं में आप की भी गणना है।

सरस्वतीदेवी—तो हानि ही क्या है? धर्मसेतुजी! यदि संसार-त्यागी होकर भी उन्नति की अभिलाषा न छूटी, तो वास्तविक त्याग कहाँ आया?

धर्मसेतु—धार्मिक दृष्टि से तो बात यही है, देवीजी! किंतु कहते ही हैं कि "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नो करणीयं नो करणीयम्" परलोक में क्या होगा, यह किसने देखा है? यहाँ लोक में तो उन्हीं की पदवी श्रेष्ठ है।

सरस्वतीदेवी—यदि लोकानुसार चलना होता, तब संसार-त्याग ही क्यों होता?

राजा—संसार-त्याग की आड़ में लोग अपना पद बढ़ाया करते

हैं। उनकी पदवी तो ऊँची हो ही चुकी, यद्यपि आपका त्याग उनके वाले से अधिक नहीं, तो न्यून भी नहीं है। मैं तो उसे विशेष कहूँगा, क्योंकि उच्चतर पदवी के भोक्ता होकर वह अपनी तपस्या का न्यूनाधिक फल भी पा चुके हैं, किंतु आपने क्या पाया?

सरस्वतीदेवी—है तो ठीक, किंतु इसमें न्यूनाधिक स्वार्थ की दुर्गंधि आती है।

राजा—यह बात नहीं है, देवीजी! यदि ऊँचा पद लाभार्थ चाहे, तो स्वार्थ है, किंतु यदि लोक-हितार्थ ऐसी इच्छा करे, तो परोपकार-बुद्धि से परमार्थ ही है। पीठाधिपति की शिक्षाओं का प्रभाव लौकिक जिज्ञासुओं पर आपकी शिक्षा से विशेष पड़ेगा, क्योंकि मूर्खता-वश ही सही, उनकी उच्चतर पदवी के कारण वे लोग उनके उपदेशों को श्रेष्ठतर तथा विशेष मान्य समझेंगे।

सरस्वतीदेवी—अच्छा, मुझे अब आज्ञा हो, कभी फिर यह सुखद वार्तालाप उठाऊँगी।

राजा—जैसी इच्छा।

इस प्रकार कथनोपकथन के पीछे धर्मसेतुजी की संरक्षकता में सरस्वतीदेवी अपने आश्रम पधारीं। इन्होंने उनको सचेत कर दिया कि भ्राता के सम्मुख राजकीय तर्कों का कथन न किया जाय, क्योंकि पीठाधिपति लोग प्रायः हठवादी होते हैं, और ऐसे कथनों से सिवा क्रुद्ध होने के उनसे कोई आशा नहीं की जा सकती। सरस्वतीदेवी भी मन-ही-मन सोचती थीं कि जिस प्रसन्नता के साथ उन्होंने प्रायः धर्म-विरुद्ध तर्कों में योग दिया था, वह बात भाई को पसंद नहीं आ सकती थी। अतएव उनसे साधारण कथन हुए, तथा विशेष बातें गुप्त रहीं। धर्मसेतुजी इन दोनों को निमंत्रण प्रायः देते रहे, तथा धार्मिक उपदेश भी होते गए, जिससे तथा उदारता के कारण उनकी जनता में धार्मिक ख्याति बढ़ी,

क्योंकि इस कार्य के लिये जो राजकीय सहायता मिलती थी, वह अत्यंत गुप्त भाव से थी।

एक दिन इन्होंने नगर से बाहर राजकीय उपवन में सरस्वती-देवी को भाषणार्थ निमंत्रण दिया। भोजनादि का भी राजा की ओर से उचित प्रबंध था। ज्योंनार इत्यादि के अनंतर देवीजी का धार्मिक व्याख्यान हुआ, जो उपस्थित जनता को पसंद आया। अनंतर सभा भंग हुई, और श्रोतागण अपने-अपने स्थानों को चले गए, तथा सरस्वतीदेवी धर्मसेतुजी के साथ राजा से वार्तालाप करने लगीं—

राजा—देवीजी! आप व्याख्यान ऐसे सुंदर देती हैं, मानो श्रीमुख से फूल झरते हैं। आज भी मैं बहुत प्रसन्न हुआ।

सरस्वतीदेवी—शिष्टाचार बहुत हो चुका, अब उस दिन की भाँति तर्कों पर आइए, क्योंकि मैं जानती हूँ कि इस व्याख्यान के संबंध में भी आपको बहुत कुछ कहना-सुनना होगा।

धर्मसेतु—देव! अब देवीजी स्वयं तार्किक विचारों से प्रसन्न दिखाई देती हैं। धन्य है आपकी तैली बुद्धि को। ऐसे ही महात्माओं से संसार पूत होता है। आशा है, देव के कथन आज भी पूर्ण स्वच्छंदता लिए हुए उसी दिन की भाँति युक्ति-युक्त होंगे।

राजा—धर्मसेतुजी! यह आप क्या कहते हैं? आप स्वयं धार्मिक विषयों के पूर्णज्ञ हैं। मैं जानता ही क्या हूँ? आप सज्जनों तथा ऐसे ही अन्य विद्वानों के सत्संग से ये ही दो-चार विषयों पर चंचु-प्रहार-मात्र कर चुका हूँ। बहुतेरे विप्रों से धार्मिक वाद करते-करते मेरे विचारों में कुछ नवीनता-मात्र अवश्य आ गई है।

सरस्वतीदेवी—इन्हीं बातों से तो मेरा भी चित्त आपके तर्क-पूर्ण नवीन भावों के सुनने में लग जाता है, यद्यपि भय ऐसा है कि एक संन्यासिनी को इस प्रकार स्वच्छंदता-पूर्वक धार्मिक कथनोप-

कथन का अधिकार नहीं है। अच्छा, कृपया आप कथन कीजिए। मैं तो अपना व्याख्यान दे ही चुकी हूँ।

राजा—व्याख्यान देवीजी का था शास्त्र-सम्मत अथच उच्च भाव-गर्भित, तथापि इतना कहना पड़ता है कि उसमें देवी के मुख से केवल इतरों के विचार प्रकट हुए। स्वयं आपने अपना मत क्या कहा? संसार में अनुभव परमावश्यक होता है। विना इसके कथनों में या तो दास-मानस की मुख्यता रहती है, या मूर्ख-मोहिनी विद्या की। जो विचार इतरों ने बनाए हैं, उन्हें अपने कथनों के रूप में कहने का देवीजी को क्या वास्तविक अधिकार है?

सरस्वतीदेवी—अनुभव की कमी का दोष तो मुझमें आरोपित हो ही सकता है, क्योंकि अभी अवस्था केवल १७ वर्ष की है; फिर भी संसार को देखा-सुना करती ही हूँ। क्षमा कीजिएगा, राजप्रासादों में रहकर लोग संसार का एकांगीन-मात्र रूप देखते हैं, किंतु हम लोग सदा बाहर फिरा करती हैं, तथा सभी प्रकार के मनुष्यों से मिलने के अवसर रहते हैं। अतएव ऐसों को सांसारिक अनुभव भी इतरों के सामने कुछ आधिक्य से हो जाता है।

राजा—यह मैं भी मानता हूँ, किंतु आप वास्तव में संन्यासिनी न होकर गृहस्था-मात्र हैं। आपको ऐसे अनुभव कहाँ से हो सकते थे?

सरस्वतीदेवी—यह तो बड़ा ही अद्भुत कथन है। आज पाँच-छ वर्षों से संन्यासिनी होकर मैं गृहस्था क्योंकर बनी हुई हूँ? आपके कथनों में नवीनता और चमत्कार का आधिक्य अत्यंत बहुतायत से रहता है।

राजा—इसमें तो मैंने कोई चमत्कार-पूर्ण कथन किया नहीं। रूप आपने संन्यासिनी का अवश्य धारण कर रक्खा है, किंतु स्वच्छंद न होकर भाई की अभिभावकता में रहती आई हैं कि

नहीं ? वह अवश्य अर्द्ध-संन्यासी कहे जा सकते हैं, पूर्ण नहीं, क्योंकि उनका भी साथ भगिनी से अभिन्नता लिए हुए नित्य का है, नैमित्तिक भी नहीं। इधर आप तो पूर्ण गृहस्था हैं, क्योंकि भाई की संरक्षकता में रहती हैं, स्वतंत्रता-पूर्वक स्वच्छंद भाव से नहीं। जहाँ वह रहें, वहीं आपका घर है।

धर्मसेतु—है इस कथन में बहुत कुछ सत्यता, किंतु न केवल हमारे, वरन् प्रायः सभी धर्मों में रूप को भी न्यूनाधिक मुख्यता दी जाती है, जो बात तार्किक कथनों में ठहरती नहीं।

राजा—समझने की बात यह है कि तथ्यांश तार्किक बातों में रहता है, न कि केवल कारण-हीन विश्वासों में। बुद्धिमान् लोग तर्कों द्वारा असमर्थित विश्वासों को स्वभावशः अमान्य समझेंगे। मैं समझता हूँ, उनके प्रतिकूल जाना हठवाद-मात्र होगा।

सरस्वतीदेवी—ये बातें मेरे विचार में नहीं बैठतीं कि पाँच-छ वर्षों से संन्यास धारण करती हुई भी मैं अद्य-पर्यंत बनी गृहस्था हूँ। अचंभे की-सी बात दिखाई देती है।

राजा—आश्चर्य इसमें क्या है ? आप स्वयं अपने ही जन-धर्म के नियमों को देख लीजिए। शुद्ध संन्यासी को किस प्रकार रहना लिखित है ? उसे गृह-त्याग सबसे प्रथम योग्य है, अथवा भाई आदि के साथ रहते हुए भी संन्यास संभव है ?

सरस्वतीदेवी—यह तो प्रकट है ही कि उसे गृह-त्याग करके केवल भिक्षाटन द्वारा काल-क्षेप करना चाहिए।

राजा—गृह का लक्षण क्या है ?

सरस्वतीदेवी—यह तो मैंने कहीं देखा नहीं; जहाँ कोई रहे, वही गृह है। जब भाई की रक्षा में रहती आई हूँ, तो उनका आश्रम एक प्रकार से मेरा गृह हो ही गया।

राजा—तब फिर गृह-त्याग कहाँ हुआ ?

सरस्वतीदेवी—सो तो न हुआ। क्या कहूँ, यह तो एक बड़ी दुःख-दायिनी घटना निकल रही है।

राजा—मैं तो इसे सुखदा समझता हूँ। अभी मैंने मुख्य बात तो कही नहीं। उसे सुनकर आप भी इस तर्क से विकल होने के स्थान पर प्रसन्न होंगी।

सरस्वतीदेवी—तब वह भी कह डालिए।

राजा—अच्छा, सुनिए। आपको किसी ने उत्पन्न किया तथा अशक्तावस्था में पाला-पोसा। उसके बदले में आपने उस प्रकार से संसार का क्या हित किया? ऐसी दशा में ऋणी हैं या नहीं?

सरस्वतीदेवी—मैं अन्य प्रकार से संसार की सेवा कर रही हूँ न?

राजा—उस प्रश्न पर मैं पीछे आऊँगा; अभी केवल इतना कहता हूँ कि उपर्युक्त विधि से कोई सेवा न करके आप उस क्षेत्र में ऋणी हैं या नहीं?

सरस्वतीदेवी—यदि मेरी इतर सेवाएँ वह ऋण अदा करने में सक्षम न हों, तो ऋणी बनी-बनाई हूँ।

राजा - अब इतर सेवाओं पर आइए। अपने अनुभवों की श्रेष्ठता आप राजप्रासादवालों के ऊपर बतला रही थीं। मैं पूछूँगा कि सिवा भाई के अंधानुकरण करने तथा भिक्षा माँगने के और कौन-सा विशाल लोकानुभव आपने प्राप्त किया? न्यूनाधिक जैन-धर्म सीखा तथा औरों के कहे हुए विचार अपने कथनों के रूप में उपदेशों द्वारा यत्र-तत्र कह दिए। इससे बढ़कर आपने कौन-सा अनुभव प्राप्त किया? इधर राजप्रासाद में नित्यप्रति भाँति-भाँति के जनता-संबंधी प्रश्न निर्णयार्थ उपस्थित हुआ करते हैं, तथा लोग अपने-अपने सुख-दुःख गाया करते हैं, जिनसे भाँति-भाँति की घटनाओं की विज्ञप्ति श्रमशील नरेशों को हुआ करती है कि नहीं? फिर धन-प्राप्ति की तथा इतर लालसाओं से भाँति-भाँति के विद्वान्, पंडित, गायक,

कवि, वाद्यकला-विशारद, कलाकार, नट, नर्तक आदि-आदि अपने गुण दिखलाया करते हैं। लोकतंत्र-परिचालन में राजसेवियों को उचितप्रकारेण नियुक्त करना पड़ता तथा उनके अत्याचारों से जनता की रक्षा करनी पड़ती है। स्वचक्र परचक्र आदि से रक्षा के विचार सदैव सम्मुख रहते हैं। ऐसे अनुभव संन्यासियों को कहाँ प्राप्त होते हैं?

सरस्वतीदेवी—राज्य-विषयक ये बातें तो नितांत सत्य हैं, किंतु मुझे समझ पड़ता है कि तपस्वियोंवाली महत्ता की जान-बूझकर अनुचित अवहेलना हो रही है। चलिए धर्मसेतुजी! चलें। अब यहाँ अधिक ठहरने का मेरा काम नहीं।

राजा—क्षमा कीजिएगा, देवी! मैं तपस्वियों की महत्ता शतमुख से स्वीकार करता हूँ। यहाँ तो शुद्ध तार्किक भावों से केवल ज्ञान-विवर्द्धनार्थ कथनोपकथन हो रहे हैं। लोक में संन्यासियों आदि का जो मान है, उससे मैं क्षण-मात्र को इनकार नहीं करता।

धर्मसेतु—देवीजी! प्रेम-भाव-पूर्ण शुद्ध बातों में क्रोध की कुछ स्वाभी यह कैसी आ पड़ी? आप तो सदैव मानस-महत्ता का उदाहरण दिखलाया करती थीं। क्षमा-भाव धारण कीजिए।

राजा—यदि मेरे कथनों में कोई अनौचित्य आ गया हो, तो मैं शतमुख से क्षमा का प्रार्थी हूँ। यदि आज्ञा हो, तो यह विषय इसी स्थान पर रोक दिया जाय। मैंने तो केवल आपके आज्ञानुसार यह उठाया था। इसमें मेरा कोई निहित आशय नहीं।

सरस्वतीदेवी—क्षमा कीजिएगा, राजप्रवर! मुझे कुछ अनुचित क्रोध-सा आ गया। आप कृपया अपना विषय आगे बढ़ाइए।

राजा—यदि कोई बात अप्रिय लगी हो, तो अन्य विषय चलाया जाय।

धर्मसेतु—हाँ, देवीजी! संकोच छोड़कर कथन कीजिएगा। कहिए, तो अभी चलूँ भी।

सरस्वतीदेवी—नहीं, वही विषय चलाया जाय, मैं अनावश्यक तपस्वियों की निंदा समझ बैठी। अभी मेरे अनुभव बाल वय के कारण अधूरे हैं।

राजा—तब बिनती करता हूँ। हम लोग सहस्रों अध्यापकों, उपदेशकों आदि द्वारा जनता की ज्ञान-वृद्धि कराया करते हैं। उधर आप केवल अपने द्वारा वही काम करती हैं, जो मात्रा में बहुत न्यून रहता है। मेरा कथन यह नहीं है कि मेरा कार्य आपके कार्य से उत्तर है, वरन् बिनती मेरी यह है कि किसी भी संन्यासी की लोक-सेवा किसी साधारणतया श्रेष्ठ नरेश की ऐसी सेवा की बराबरी नहीं कर सकती। यह आत्मगौरव का कथन न होकर दशाओं-मात्र का विषय है।

सरस्वतीदेवी—यह तो ठीक ही दिखता है।

राजा—अब मैं अपने मुख्य विषय पर आता हूँ। अभी तक मैंने अनुभवी संन्यासियों की भूभुजों की सेवाओं से तुलना की थी, किंतु अब कहता हूँ कि आपको संसार का बहिरंग-मात्र आंशिक अनुभव न्यून मात्रा में है, आंतरिक नितांत नहीं। ऐसा सांसारिक ज्ञान केवल वैवाहिक जीवन तथा मातृरूप में मिलता है। आपने बालिका-रूप का अनुभव तो पाया, किंतु गृह-लक्ष्मी तथा माता के रूपों का नितांत नहीं। ऐसी दशा में संसार-यात्रा का आंतरिक ज्ञान आपको नहीं है। तब पूर्ण ज्ञान रखनेवालों को उपदेश आप क्या दे सकती हैं; क्योंकि आपसे अधिक स्वयं सुननेवालों को बोध है। ऐसी दशा में उपदेशिका न होकर आंतरिक अनुभव के अभाव में आप श्रेष्ठ उपदेश-गृहीता भी नहीं हो सकतीं, क्योंकि बुद्धि तैली उसकी होगी, जो संसार का आंतरिक तथा बहिरंग, दोनो रूपों में ज्ञान रखता हो। अतएव मेरी बिनती यही है कि अभी आपको समुचित अनुभव प्राप्त करना चाहिए, जिसके बिना आपके उपदेश न केवल अधूरे,

वरन् भ्रमात्मक भी होंगे। यह भी व्यक्तिगत विषय न होकर दशाओं-मात्र का कथन है।

सरस्वतीदेवी—क्या ऐसी बात है ? मैं तो बड़े चक्कर में पड़ी जाती हूँ। (धर्मसेतु से) आप तो एक वृद्ध, विश्वासी, धर्मज्ञ तथा श्रेष्ठ भक्त एवं जैन-मतावलंबी हैं। क्या देव के कथनों में आपको सार दिखाई देता है, और क्या इनमें अपने मत का निरादर नहीं है ? ऐसी ही बातों में तो अभी एक बार मुझे क्रोध-सा आ गया था, किंतु अब देखती हूँ, विषय विचारणीय है। आप ज्ञानी होकर अपनी अनुभवी सम्मति दीजिए।

धर्मसेतु—मैं तो समझता हूँ, देवीजी ! कि देव के कथन सभी मतों से संबद्ध हैं। आपने अपने मत की निंदा अथवा स्तुति न करके ऐसे निष्पक्ष कथन किए हैं, जो सभी मतों पर एकरस लागू दिखाई देते हैं। इतना तो प्रत्यक्ष है कि बिना पूर्ण सांसारिक अनुभव के कोई व्यक्ति वक्ता होना तो दूर रहा, उत्कृष्ट श्रोता भी नहीं हो सकता। ऐसे प्रकट तथ्य भाषण में किसी मत-विशेष का अपमान क्या है ? यह तो व्यक्तिगत प्रश्न है, किसी धर्म-विशेष से संबद्ध नहीं।

सरस्वतीदेवी—यदि ऐसा है, तो प्रत्येक साधारण मनुष्य के समान मैं भी संसार की ऋणी हूँ, और वह ऋण मेरे उपदेशों से अदा नहीं हो रहा है, क्योंकि वे स्वयं अशुद्ध हैं। ऐसी दशा में भिक्षाटन द्वारा जो नया ऋण मैं ले रही हूँ, वह भी अनुचित प्रयास है।

राजा—यही कहने का तो मेरा प्रयोजन है कि आपको राजपद त्यागकर भिक्षाटन करने का कोई शुद्ध अधिकार नहीं। बिना वैवाहिक तथा मातृधर्म-संबंधी अनुभव प्राप्त किए केवल आंशिक बहिरंग ज्ञान से आपको उपदेशिका होने का कर्तव्य न उठाना चाहिए

था, क्योंकि विना योग्यता प्राप्त किए उपकार के स्थान पर उपदेशों द्वारा आप संभवतः संसार का अपकार करती आई हैं।

सरस्वतीदेवी—समझ तो ऐसा ही पड़ता है, क्यों न धर्मसेतुजी !

धर्मसेतु—बात तो नितांत प्रकट है ; इसमें संदेह क्या हो सकता है ?

सरस्वतीदेवी—तब फिर मुझे करना क्या चाहिए ?

राजा—पूर्ण सांसारिक अनुभव-प्राप्त्यर्थ आप किसी से विवाह करके वैवाहिक जीवन अथच मातृपक्ष के कर्तव्यों का समुचित ज्ञान संचित कीजिए। अनंतर स्वतंत्रता-पूर्वक गृह त्यागिनी होकर जनता को शुद्ध तथा लोक-ग्राह्य उपदेश दीजिएगा।

सरस्वतीदेवी—किसी संन्यासिनी को ऐसा करने का अधिकार है कहाँ ?

राजा—संन्यासिनी आप हैं कब ? इसी का कथन मैं पहले ही कर चुका हूँ।

सरस्वतीदेवी—क्यों धर्मसेतुजी ! आपकी क्या सम्मति है ?

धर्मसेतु—सम्मति की मुझे तो आवश्यकता दिखाई नहीं देती। बात ऐसी प्रत्यक्ष है कि कोई अंध भी सुनते ही समझ लेगा। आपको भ्रम क्या दिखाई देता है ?

सरस्वतीदेवी—भ्रम तो कुछ भी नहीं ; बात सचमुच यथार्थ ही है, किंतु प्राचीन जीवन से बड़ा प्रचंड अंतर पड़ता है। देखने में बात उलटी-सी जान पड़ती है।

राजा—संसार में एक ज्ञानी की सम्मति के आगे एक लक्ष अज्ञानियों का मत त्याज्य है। ऐसे प्रत्यक्ष विषय पर आगा-पीछा क्या करना ?

सरस्वतीदेवी—क्या मुझे अपने भ्राता की सम्मति न लेनी चाहिए ?

राजा—यही तो मेरा कथन है कि उस स्वार्थी, ढोंगी, मूर्ख ने आपका जीवन सत्यानास कर डाला। उसी के कारण आपमें दास-मानस की ऐसी प्रबलता हो गई है कि प्रत्यक्ष से भी प्रत्यक्ष विषयों में आपको अपने निर्णयों पर चलने का साहस नहीं रह गया है। स्वयं उसने गृहत्याग किया था, तब किससे सम्मति ली थी? वह तो वैवाहिक जीवनादि का अनुभव करके स्त्री-मरण के पीछे गृहत्यागी हुआ, किंतु एक अनुभव-शून्य, शुद्धहृदया, उच्चाशय-गर्भिता, निष्पाप बालिका को भी अपनी पूँछ में बाँध लाया। उस नीच को क्या अधिकार था कि ऐसी शुद्धहृदया भगिनी का जीवन सत्यानास करता? मैं आपको उससे कुछ भी पूछने की सम्मति नहीं दे सकता; हाँ, रोकता क्षण-भर को नहीं। आप स्वतंत्र हैं, चाहे जिसकी सम्मति लें। कोई दबाव अथवा आकांक्षा यहाँ थोड़े ही है। आपके विशुद्ध हित-साधन-मात्र का प्रश्न है।

सरस्वतीदेवी—बात तो उचित ही है, क्यों न धर्मसेतुजी!

धर्मसेतु—नितांत यथार्थ है। मैं तो उसे महास्वार्थी, निष्ठुर, क्रोधी, दंभी और मूर्ख समझता हूँ।

सरस्वतीदेवी—तब फिर यह विषय चलाया किस प्रकार जाय?

राजा—यदि आपको वैवाहिक जीवन का अनुभव लेना अभीष्ट हो, तो चारों वर्णों में से जिसमें जाने की इच्छा हो, उसी का प्रबंध कर दिया जाय। सधन, निर्धन, राजन्यवर्ग, व्यापारी, राजसेवक राजमंत्री, अग्रहारिक, दाता, राजा आदि जिस पद को पसंद करें,, उसी के विषय में प्रयत्न कर दूँगा। यदि मेरी सेवा स्वीकार हो, तो स्वयं मैं भी सहायतार्थ प्रस्तुत हूँगा। किसी प्रकार से आपकी ज्ञान-गरिमा बढ़नी चाहिए। दो-चार वर्षों की तो बात है, फिर सुख से संन्यास ग्रहण कर सकेंगी। जैसा निश्चय हो, आज्ञा कर दीजिए।

संकोच की आवश्यकता नहीं। मैं शुद्ध तार्किक दृष्टि से देवीजी की सेवा-भाव से सहायता करने को प्रस्तुत हूँ। जिस श्रेणी के स्वामी से चित्त भरता हो, उसी का प्रबंध कर दूँगा। स्वार्थादि का कोई प्रश्न नहीं। यहाँ तो परोपकार-भाव से शुद्ध सेवा-धर्म के कर्तव्य सोचे जाना अभीष्ट है।

धर्मसेतु—धन्य है देव की महत्ता को! शुभ्र धर्म-पालन इसी का नाम है। किसी भाँति मानसिक, वाचिक, कायिक रूप में स्वार्थपरता की दुर्गंधि आचरणों में न आनी चाहिए। सौजन्य और परोपकार का क्या ही उच्च उदाहरण देव दिखला रहे हैं!

सरस्वतीदेवी—तब मैं समझती हूँ कि आप ही को चुन लूँ, क्योंकि ऐसा सात्त्विक-प्रकृति, परोपकारी व्यक्ति और कहाँ मिला जाता है?

राजा—मुझे इसमें भी कोई आपत्ति नहीं। आज ही से गांधर्व विवाह द्वारा इसका प्रयोग होने लगेगा। ऐसी उच्च-हृदया देवी के आज्ञापालन में मुझे क्या विलंब हो सकता है?

सरस्वतीदेवी—तब फिर यही हो, क्यों न धर्मसेतुजी?

धर्मसेतु—अवश्य देवीजी! बड़े ही उच्चादर्श की बात है।

अब धर्मसेतु तथा राजा, दोनो गार्हस्थ्य जीवन की महत्ताओं के परमोच्च आदर्श सरस्वतीदेवी को सविलंब वार्ताओं तथा कथनों द्वारा समझाते हैं। अनंतर राजा तीन प्रसाधिकाओं को बुलवाकर यों आज्ञा देता है—

राजा—देखो, आज इसी समय से देवीजी तुम्हारी तृतीय रानी हो रही हैं। इनका अभी ऐसा सुंदर शृंगार करो कि मुकुर में देखकर यह भी प्रसन्न हो जायँ। सर्वोत्कृष्ट वस्त्राभूषण भांडार से अभी निकलवा लो। शारीरिक ज्योति के अनुसार ही वस्त्रों के रंग हों, जिसमें आभा में आभा मिलकर द्रष्टाओं के नेत्रों में चकाचौंध कर दे।

आज तुम्हारी बुद्धिमानी और योग्यता की परख है। ऐसा बढ़िया शृंगार हो कि मेरे सहित रानीजी भी प्रसन्न हो जायँ।

प्रसाधिकाएँ—जो आज्ञा देव !

सरस्वतीदेवी—किंतु, देव! मैं तो रानी न होकर भिक्षुणी-मात्र हूँ।

राजा—भिक्षुणी तो मर गई, रानीजी ! अब आप विशाल मालव-संघ की तृतीय रानी हैं। अपनी दोनो सपत्नियों से भी बहुत प्रेम-पूर्ण व्यवहार पाइएगा, ऐसा मुझे निश्चय है, क्योंकि वे भी परमोज्ज्वल सात्विकी प्रकृति-युक्ता हैं। आप भी भिक्षुणी न होकर उन्हीं के समान राजकुमारी हैं। भिक्षाटन का कार्य एक दुःस्वप्न अथवा नाटकीय दृश्य-मात्र था, जो आया और चला गया। अब भिक्षुणी कहाँ ? अब तो रानीजी यहाँ विद्यमान हैं।

अनंतर तीनो प्रसाधिकाओं ने सरस्वतीदेवी का ऐसा अपूर्व शृंगार किया कि जब वह भारी मुकुर के सम्मुख उपस्थित हुईं, तब अपना समुज्ज्वल रूप देखकर स्वयं भी आश्चर्यान्वित होकर मुस्कराने लगीं। अब आप राजप्रासाद में रानी की भाँति पूर्ण मान और प्रेम के साथ रहने लगीं।

तीसरा परिच्छेद

पुष्कर-विश्वविद्यालय में विक्रम

इधर षड् वर्ष-पर्यंत विक्रम ने शस्त्रास्त्र-प्रयोग, समर-शास्त्र, अनेकानेक विद्याओं, कलाओं आदि में प्रचुर परिश्रम द्वारा योग्यता संपादित की। इस आरंभ में इन्होंने पाँचों मालव-प्रांतों तथा मातामह के राज्य आदि में सब कहीं घूम-फिरकर जहाँ-जहाँ से जो-जो विद्या प्राप्त हो सकी, उसे सीखने में आलस्य न किया, न राज्य की ओर से व्यय की कमी रही।

अनंतर मंत्रियों की सम्मति, तीनो माताओं के आशीर्वाद तथा पितृचरण से विचार-विनिमय के साथ आज्ञा प्राप्त करके आप पुष्कर-क्षेत्र के विश्वविद्यालय में पठनार्थ पधारे। वह स्थान मालव-राज्य के बाहर था, तथा यत्र-तत्र शत्रु-मंडली के उपस्थित होने से शरीर-रक्षा पर मुख्यतया ध्यान देने की आवश्यकता थी। अतएव आपने अपने को मालव न कहकर सर्व-सम्मति से शिवि क्षत्रिय कहना आरंभ किया, तथा मध्यमिका के एक शिवि-मित्र के द्वारा ही इन्हें व्ययादि मिलने का प्रबंध किया गया, सीधा उज्जयिनी से नहीं। विक्रम का सदैव से नियम-सा था कि व्ययशीलता न ग्रहण करके साधारण पौरों का-सा जीवन व्यतीत करना चाहते थे। फिर भी पुष्कर भेजने में राज्य ने समुचित मात्रा में धन-संपादन का प्रबंध कर दिया। वहाँ पहुँचकर आप विद्याध्ययन करने लगे। विद्यालय में बहुतेरे पुण्य शिष्य भी रहा करते थे, ऐसा साधारण नियम प्राचीन भारतीय विद्यापीठों में प्रायः सर्वत्र था।

उन्हें पठन-शुल्क नहीं देना पड़ता था, किंतु भोजन तथा पठन-शुल्कों के बदले वे लोग पाठ के साथ विद्यालय के कुछ विशेष कार्य भी किया करते थे। विक्रम ने ऐसे पाँच प्रवीण मालव-छात्र चुन लिए, जो पाठ में चित्त ख़ूब लगाते थे, शरीर से सबल थे, तथा शस्त्रास्त्र-प्रयोग में भी समुचित दक्षता रखते थे। उनकी अंतरंग स्वीकृति तथा प्रधानाध्यापक की गुप्त आज्ञा प्राप्त करके आपने उन पाँचों के साथ अपने व्यय से एक-एक सेवक नियत कर दिया, तथा इतना-इतना धन उन्हें प्रतिमास देना आरंभ किया, जिससे उन्हें न तो पुण्य शिष्य रहना पड़े, न अन्य किसी व्यय में न्यूनता आवे। इसके अतिरिक्त कुछ-कुछ धन प्रत्येक छात्र के पास यथारुचि व्यय के निमित्त भी बच रहता था। जो पुण्य शिष्य इस भाँति चुने गए थे, उनके आचरणों पर पूर्ण विचार करके ऐसे निर्वाचन हुए थे।

अनंतर उन्हीं के इच्छानुसार कुछ-कुछ धन उन्हें और दे दिया जाता था, जिसमें उनकी प्रसन्नता में कभी किसी प्रकार की न्यूनता न आए। वे भी ऐसे सज्जन थे कि अनुचित व्यय कभी करते ही न थे। वे सब स्वभावशः विक्रम से बहुत अनुरक्त रहते थे। उनकी सहायता ऐसे गुप्त रूप में की जाती थी कि कोई इतर पुरुष यह जान भी न पाता था कि क्या बात है? केवल विक्रम, वे पाँचों छात्र तथा मुख्याध्यापक यह भेद जानते थे। अपने पास आप केवल दो सेवक रखते तथा इतर व्यय भी बहुत न करके उन्हीं के समान ही रखते थे। चित्रकला का अभ्यास इन्होंने यहाँ भी स्थापित रक्खा।

मुख्याध्यापक से यह भी बिनती की थी कि क्षत्रिय होने के कारण आप विद्यालय के सारे निवासियों की रक्षा का आंशिक भार अपने ऊपर भी समझते थे। अतएव अर्द्ध रात्रि के पीछे प्रत्येक दिन तीन-तीन घड़ियों के लिये रक्षा के निमित्त यत्र-तत्र विचरण करना चाहते थे।

संस्था में कई कन्याएँ भी पढ़ती थीं। अतएव इन्होंने प्रार्थना की कि नित्य अथवा यदा-कदा कोई विश्वास-पात्र अध्यापक या अन्य व्यक्ति इनके साथ लगा दिया जाय, जिसमें अध्यापकवर्ग या किसी अन्य को ऐसा संदेह न हो सके कि इस लोक-सेवा की ओट में कोई अनुचित अभिलाषा तो नहीं निहित है। उन्होंने विक्रम के उच्चातिउच्च आचरण के कारण ऐसा नीच संदेह असंभव माना, किंतु इनके हठ करने पर समुचित प्रबंध कर अवश्य दिया, तथा इन्हें एक ऐसा गुप्त पदक भी दिया, जिससे प्रकट होता रहे कि इनकी ऐसी कार्यवाही संस्थावाले अधिकारियों की स्वीकृति के अनुसार है। अध्यापक ने इस कार्यवाही में स्वयं इनकी रक्षा को संदिग्ध समझा, किंतु इनके महान् साहस तथा शस्त्रास्त्र-प्रयोग की प्रवीणता से अपना संदेह उठा लिया। इस प्रकार इनके द्वारा संस्था-रक्षा का यह उपकारी कार्य जब दो-तीन मास-पर्यंत चलता रहा, तब इनके पुण्य शिष्य मित्रों में से एकाध को इसका पता लग गया, और उन पाँचों ने ऐसा जानकर इन्हें भारी उलाहना दिया कि उनके होते हुए बिना उनकी सहायता लिए इन्होंने आत्मीय जोखिम का ऐसा कार्य अकेले पड़कर क्यों इतने दिन संपादित किया ?

विक्रम ने उन्हें बहुत समझाया कि वे छात्र थे, न कि रक्षक, किंतु उन्होंने न माना। इन्होंने भी अपनी आर्थिक कृपाओं के बदले जब उनसे कोई काम लेने से दृढ़ता-पूर्वक नाहीं की, तब उन्होंने मित्रता के नाते साथ लिए जाने का पूरा हठ किया। अंत में बहुत कथनोपकथन के पीछे यह निश्चय हुआ कि प्रतिसप्ताह दो दिन तो यह एकाकी जाया करें, जिसमें आत्मनिर्भरता में कमी न आए, किंतु शेष पाँच दिनों के लिये एक-एक दिन एक-एक मित्र भी साथ रहे। इस प्रकार यह निशीथ-संबंधी परिभ्रमण बराबर चलता रहा, जिससे संस्था के वेतन-भोगी रक्षकों में भी चैतन्यता की वृद्धि हुई, तथा

रक्षा का यह कार्य विशेष उत्तमता-पूर्वक चलने लगा। विक्रम अपने इन पाँचों मित्रों से कभी कोई सहायता नहीं लेनी चाहते थे, किंतु इन छओं में मित्रता शनैः-शनैः परम प्रगाढ़ हो गई, और ये सब शुद्ध हृदय से एक दूसरे के सहायक हो गए। विक्रम तथा उनके इन मित्रों का पठनवाला कार्य पूर्ण उत्तमता के साथ चलता रहा, और समर-शास्त्र, शस्त्रास्त्र-प्रयोगादि में विशेष ध्यान रखते हुए, इन सबों ने इतर विद्याओं तथा कलाओं में भी अच्छी योग्यता संपादित कर ली। विक्रम की योग्यता, सज्जनता तथा परोपकार देखकर सारा अध्यापकवृंद इनसे बहुत प्रसन्न रहता था। यह चोप इनमें हर प्रकार से अद्वितीय था। विद्या तथा कला-लाभ में पूर्ण चोप रखते हुए आप शरीर से न तो अनुचित परिश्रम लेते न बेजा समय नष्ट करते थे। समय का समुचित मूल्य आचरणों से भी समझते हुए आपने स्वास्थ्य को अवनत कभी न होने दिया। भोजन, शयन, अध्ययन, व्यायाम, मित्र-संगादि, सभी कृत्य नियमित रहकर स्वास्थ्य और योग्यता, दोनो की आश्चर्य-जनक उन्नति कराते जाते थे। बहुतेरे सहपाठी गुरुओं के पढ़ाने से ग्रंथों आदि के भाव पूर्णतया न समझकर इनकी सहायता से समझते थे। परमोच्च आचरण, मिलनसारी, महती उन्नति की इच्छा, विद्या-प्रेम, विनीत प्रकृति आदि से अध्यापक इनसे बहुत प्रसन्न रहते थे। नव विचार-ग्राहिका शक्ति भी इनमें बहुत थी।

पुष्कर-क्षेत्र का बृहदाकार सरोवर बहुत ही सुंदर लगता था। उसमें निकट के पर्वतीय शिखरों की हरीतिमा-गर्भित परछाइँ पड़-पड़कर लोल लहरों के साथ अपूर्व शोभा बढ़ाती थी। उसके तटों पर यत्र-तत्र बाँसों की भीतियाँ-सी बनाई गई थीं, जिनमें अँधेरी संध्याओं को दीपों का कभी-कभी ऐसा सुंदर प्रयोग होता था कि प्रकाश-पुंज की भित्ति-सी बन जाया करती थी, जो बाहर तो परम सुहावनी

लगती ही थी, वरन् उस दीर्घिका के जल में प्रतिच्छाया पड़-पड़के चतुर्गणित शोभा बढ़ाती थी। यदा-कदा छोटी-छोटी नौकाओं में ताल के भीतर कुछ दूर पर अग्निस्कंध (आतशबाज़ी) छुड़ाई जाती थीं। बहुतेरे वृक्ष सरोवर के निकट ऐसे लगे थे, जिनकी बृहदाकार उच्च शाखाएँ पानी पर भी फैली रहती थीं। उनमें मचान बना-बनाकर, झुंड-के-झुंड लोग बैठकर सरोवर की शोभा, अग्निकांड की दीप्ति तथा तटस्थ प्रकाश-पूर्ण भित्तों की प्रभा का निरीक्षण करते थे, अथच शुद्ध, नीरोग वायु-सेवन से शारीरिक उन्नति भी पाते थे। स्नानार्थ तटों पर यत्र-तत्र जल के नीचे पक्के समथल स्थान बनाए गए थे, जिनके किनारे तार खिंचे रहते थे, जिससे अनव-धानता-पूर्वक कोई उनके बाहर गहरे में न गिर जाय। उन स्थानों पर कहीं-कहीं ऊँचे पहाड़ों आदि की सहायता से पुष्कल जल-प्रपात के भी प्रबंध किए गए थे, जिससे वहाँ स्नानार्थ जो स्थान बने थे, उनमें से कुछ में जल-धार भी बहा करती थी, तथा स्नानार्थियों को तैरना सीखने में अच्छी सुविधा रहती थी। स्नानार्थियों की संख्या वहाँ सदैव भारी रहती थी। उस दीर्घिका के कारण भी विद्यापीठ बड़ा ही लोक-प्रिय बना रहता था। उसका फैलाव कई कोसों तक था। ताल में छोटी-बड़ी नौकाएँ पड़ी रहती थीं, जिन पर चढ़कर विद्यार्थिगण नेवारा खेलते थे। चार-चार, छ-छ विद्यार्थी एक-एक नौका पर बैठ-बैठकर खेते हुए दूर-दूर निकल जाते थे। यदा-कदा नौकाओं की दौड़ भी होती थी। तिथि-पर्वों के अवसरों पर दो-दो, चार-चार बड़ी नौकाएँ जोड़-जोड़कर उनमें नृत्य-गानादि के प्रबंध जल के भीतर तट से दो-चार अर्द्ध कोशों की दूरी पर होते भी थे, जिन्हें अध्यापक तथा विद्यार्थी प्रसन्नता-पूर्वक देखते थे। कभी अनध्यायों के दिनों में लोग गृहों के समान भारी छतदार नौकाओं में आवश्यक सामग्री रख-रखकर, दो-दो, चार-चार दिनों के लिये सरोवर के मध्य

में रहकर उत्तम वायु तथा मित्रों के सुखप्रद संग का लाभ उठाते थे। रक्षिका नौकाएँ भी उचित स्थानों पर मल्लाहों-सहित प्रस्तुत रहा करती थीं, जिसमें कोई नौका अथवा स्नानार्थी आदि डूबने न पाए। विषमशील महोदय जब नौकारोही होकर सरोवर की सैर को जाते थे, तब कभी-कभी एक ओर से बराबर यही नाव खेते हुए चले जाकर भी न थकते थे, तथा दूसरी ओर सारे अन्य चार-पाँच साथी बारी-बारी से खेते थे। तैरनेवाले ग्यारह-ग्यारह आदि साथियों के दो-दो गोल बना-बनाकर सरोवर में तैरते हुए भाँति-भाँति के खेल खेलते थे। गेंदों के सहारे भी ताल में विविध खेल होते थे। विषमशील के साथ होने से किसी के डूबने आदि का भय और भी तिरोहित हो जाता था, क्योंकि आप ऐसे कष्ट पड़ने पर तुरंत सफल सहायता दे देते थे। विद्यापीठ में समय-समय पर भाँति-भाँति के और भी खेल हुआ करते थे। प्रयोजन यह कि वहाँ का विद्यार्थी-जीवन बड़ा ही सुखप्रद तथा लाभकर था।

उसी संस्था में सौम्या नाम्नी एक परम रूप-राशि गुर्जर-कन्या अध्ययन करती थी। उसका भ्राता भी वहीं पढ़ता था। वीरवर-नामक एक कुलीन क्षत्रिय छात्र को सौम्या से न्यूनाधिक प्रीति थी, जो पूर्णतया पवित्र थी। इसका सौंदर्य विक्रम को भी बहुत भाया; और इनके चित्त में धीरे-धीरे ऐसा भाव उठने लगा कि यदि यह भी स्वीकार करे, तो अपने विवाह का प्रस्ताव किया जा सकता है। यह सुंदरी भी यदा-कदा इनसे वार्तालाप करती थी, यहाँ तक कि धीरे-धीरे इन दोनो में भी पवित्र प्रीति-भाव कुछ-कुछ स्थापित होने लगा, किंतु इसका रूप ऐसा छल-हीन रहा कि इनके पाँचों मित्रों तक को इस विषय पर अणु-मात्र संदेह न हुआ। वीरवर उससे प्रायः मिला करता था, अथच मन में विवाह की भी आकांक्षा रखता था, यद्यपि वचनों से ऐसा कभी प्रकट न हुआ था। सौम्या-संबंधी विशेष

संघट्ट के कारण इनका वीरवर से भी साथ होने लगा। इसमें अभी तक ईर्ष्या का भाव नहीं आया था, क्योंकि दोनो के आंतरिक विचार अत्यंत गुप्त थे, तथा सौम्या से जो बात होती थी, वह केवल विद्या-संबंधिनी रहती थी। यही दशा वीरवर तथा विक्रम, दोनो के संबंध में थी। विक्रम सौम्या से भेंट करने कभी नहीं जाते थे, किंतु जब-जब अनायास भेंट होती थी, तब-तब न्यूनाधिक वार्तालाप भी हो जाता था। वीरवर का उससे मिलने का प्रयत्न कुछ विशेष रहता था। उस कन्या के रूप, गुण, पांडित्य आदि से प्रसन्न होकर विक्रम का भी चित्त न्यूनाधिकरीत्या दिनोंदिन उस पर विशेष अनुरक्त होता गया। तो भी संयत भाव को परमपूर्णता के साथ निभाते हुए आपने अणु-मात्र शीघ्रता न की, वरन् साधारण छत्रों की भाँति परमोच्च भाव-गर्भित सात्त्विक मित्रता का ही साधारण छात्रों का-सा व्यवहार उसके साथ रक्खा। फिर भी स्त्रियाँ गुह्यातिगुह्य आंतरिक प्रेम-भाव भी ताड़ लेने में परम पटु होती हैं, जिससे उसने इनका मनोभाव जान लिया, तथा इनके परमोच्च गुणों से मोहित होकर अपना भी रुझान इनकी ओर संयत रूप में दिखलाया। धीरे-धीरे उसका खिंचाव विक्रम की ओर बिना इनके किसी प्रयत्न के बढ़ने लगा, जिससे वीरवर को कुछ निराशा भास होने लगी। एक दिन उन्होंने उसके निवास स्थान पर ऐसे समय जाना निश्चय किया, जब उसका भाई विद्याध्ययन के कारण गुरु की सेवा में था। इनके पहुँचने पर इस प्रकार वार्तालाप होने लगा—

सौम्या—कहिए वीरवरजी ! कैसे कृपा की ? आज आपका वदन कुछ उतरा हुआ-सा दिखाई देता है ; क्या बात है ?

वीरवर—देवीजी ! आज मैं एक प्रार्थना लेकर आपकी उदार सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। आशा है, निराश न किया जाऊँगा।

सौम्या—यह तो बड़ा ही अपूर्व कथन है। ऐसी कौन-सी बात

आन पड़ी, जिसके कारण आपको मुझ साधारण व्यक्ति के प्रति दैन्य-प्रकाशन की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। कहिए, क्या आज्ञा है? मैं तो आश्चर्यान्वित हो रही हूँ!

वीरवर—एक प्रकार से तो आपका कथन यथार्थ है, क्योंकि मैंने अब तक कभी कोई आकांक्षा प्रकट नहीं की थी, किंतु समझ ऐसा पड़ता था कि आकृति आदि के द्वारा आप उसे जान चुकी होंगी। हृदय से हृदय वचन-बद्ध होने के निकट जा रहे थे।

सौम्या—दुःख है कि मैंने कुछ भी न जाना। इतना मान सकती हूँ कि इसमें मेरी कोई मूर्खता होगी, किंतु है यही बात। मूक हृत्तल-संबंधी भावों का कथन जो आप करते हैं, वे मेरी बुद्धि में न आए।

वीरवर—तब मैं क्या कहूँ? प्रायः साल-दो साल से मेरा आपका संग यदा-कदा होता रहा है। मेरे यहाँ पठन का यही अंतिम वर्ष है। आप दोनो भाई-बहनों की भी यही दशा है। सोचा था, आगामी अवभृथ-स्नान के आगे-पीछे प्रार्थना कर दूँगा कि यदि उचित समझिए, तो मुझे पाणिग्रहण से कृतार्थ कर दीजिए। कई कारणों से मुझे आज ही यह अभिलाषा आपको सूचित करना उचित समझ पड़ा।

सौम्या—मैंने तो अब तक आपकी अपने से मित्रता निष्काम, भाई-बहन की-सी, समझी थी। इतना अवश्य कभी-कभी भासित हो गया था कि हम दोनो पर आपकी कृपा कुछ विशेष रहती है, किंतु मूर्खता-वश मेरा चित्त इसके आगे न गया था। शायद आपको ज्ञात हो कि हम लोग गुर्जर-देश के साधारण मंडलाधिप हैं; हमारे माता-पिता नहीं हैं, तथा अभिभावक-रूप में मेरे केवल यही भ्राता हैं, जिन्होंने विवाह का विषय पूर्णतया मेरे ही अधीन कर रक्खा है।

वीरवर—यह सब मैं जानता हूँ, वरन् इसी कारण यह विषय

एकांत में केवल आपसे निवेदित हुआ है। यह मेरा दुर्भाग्य है कि आपकी विचार-धारा अब तक मेरी ओर इस प्रश्न पर प्रवाहित न हुई। ऐसी दशा में यह भी संभव है कि अभी आप मुझे उत्तर देने को प्रस्तुत न हों, और विचार के लिये समय माँगें।

सौम्या—था यह भी संभव, किंतु मैं इसी समय भी बात कर सकूँगी।

वीरवर—बड़ी कृपा होगी। तब आज्ञा हो कि क्या मुझसे आप कुछ जानना चाहेंगी? मैं मित्र-वंशी कुनिंद क्षत्रिय हूँ, तथा उसी प्रांत में मेरा एक मंडल है, जिसकी वार्षिक आय दश सहस्र पण के लगभग होगी। मैं ही उसका एक-मात्र स्वामी हूँ। पूज्य पितृ-चरण का वियोग हो चुका है, किंतु पूजनीया माताजी प्रस्तुत हैं। मेरे कोई भाई-बहन नहीं है।

सौम्या—बड़ी कृपा हुई, जो आपने बिना पूछे इतना ज्ञातव्य वर्णन कर दिया। मेरे भ्राता का मंडल भी ऐसा ही है। अतएव धन-संबंधी बात हम लोगों की विचारणीय न रही। अब पूछना यही है कि ऐसा कौन-सा कारण उपस्थित हो गया, जिससे आपको सोचे हुए समय से पूर्व यह प्रश्न उठाना आवश्यक समझ पड़ा?

वीरवर—यह प्रश्न ऐसा है, जिस पर कुछ कथन करना मेरे लिये अयोग्य-सा है, तथा इसमें मेरी मूर्खता भी निकल सकती है; फिर भी यदि आप जानना चाहें, तो कह ही दूँगा।

सौम्या—बड़ी कृपा होगी।

वीरवर—जब से विषमशील-नामक विद्यार्थी का आपसे परिचय हुआ है, उसके कुछ पीछे से मैं आपका ध्यान अपनी ओर कुछ कम तथा उसकी ओर विशेष पाता हूँ। पहले तो मैं समझता था कि जितना शुद्ध प्रेम मैं आपसे रखता था, उतना ही आपका भी था, किंतु अब इसमें कुछ विच्छेद-सा दिखाई देता है।

सौम्या—जब आपने अपनी पूरी बातें पूर्ण स्वच्छता के साथ कह दी हैं, तब मुझे भी कुछ छिपाना न चाहिए। आपकी अवस्था अब प्रायः बाईस वर्ष की होगी, तथा मेरी षोड़शवर्षीया है। उधर विषम-शील अभी इक्कीस वर्ष के ही होंगे। उन्होंने कभी मुझसे कोई प्रार्थना किसी प्रकार से व्यंग्य द्वारा भी न की, न एक बार भी मेरे निवास-स्थान को ही अपने शुभागमन से पुनीत किया। अतएव मैं नहीं कह सकती कि उनका मेरी ओर इस प्रकार का ध्यान है भी या नहीं। आपने तो अपने शुभागमन से प्रायः मुझे सत्कारित किया, किंतु वह जब कभी अनायास मिल गए, तभी साधारण आलाप-संलाप हुआ, जिसे भद्रत्व-युक्त कह सकते हैं, न कि प्रेम-गर्भित। ऐसी दशा में मैं नहीं कह सकती कि इस दृष्टि से उन पर मुझे विचार तक करने का अधिकार है या नहीं?

वीरवर—भारतीय सभ्यता के अनुसार वैवाहिक प्रस्ताव प्रायः भार्या की ओर से उठाया जाता है। यह तो यवनों में चाल है कि स्त्री ऐसा प्रस्ताव कर ही नहीं सकती। ऐसी दशा में उनके ऐसा सोचने की आवश्यकता ऐसे भाव परिपक्व के लिये नहीं है। प्रश्न केवल इतना है कि क्या मैंने अपनी अभिलाषा के संबंध में जो उन्हें कंटक-रूप समझा, वह विचार कुछ सार-युक्त था, अथवा नितांत मूर्खता पर आधारित? यह विषय ऐसा है, जिसमें अपनी अज्ञता प्रमाणित होने पर मैं अत्यंत हर्षित हूँगा।

सौम्या—(हँसकर) मुझे भय है कि आपके विशाल अनुभव को केवल मूर्खता पर आधारित कहना मेरी शक्ति के बाहर है। विषमशील में इतने विशाल गुणगण का सम्मिश्रण दिखता है कि कोई भी युवती उसे पति-रूप से पाकर हर्षोल्लास-युक्त अवश्य होगी, किंतु इस बात से आपकी अभिलाषा खंडित होने का मैं कोई कारण नहीं देखती। मैं अपने को उस महात्मा के योग्य नहीं

पाती, न अपना भाग्य ही ऐसा दृढ़ समझती हूँ कि इतना गुणी पुरुष मेरी ओर इस भाव से देखने का भी कष्ट उठावे। अतएव उस पुरुष-रत्न का अस्तित्व आपकी मुझसे संबंध रखनेवाली अभिलाषा का बाधक क्यों होने लगा? रही आपकी प्रार्थना, उसके विषय में मैं अभी कोई निश्चित उत्तर नहीं दे सकती; भाई से मंत्र करके आगे-पीछे दूँगी। यदि इस उत्तर से आप अपना अपमान न समझें, तो मैं अपने को भाग्यशालिनी मानूँगी, क्योंकि संभव है, यदि भ्राता मेरे द्वारा आपका निराश किया जाना सुनें, तो शायद मेरी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा न करें।

वीरवर—आपका उत्तर हर ओर से गोल है। उसमें मेरे लिये आशा और निराशा, दोनो का आश्चर्यकारक सम्मिश्रण है। आपका विषमशील-संबंधी आशय तो प्रकट है, किंतु मेरे विषय में न तो स्वीकृति है, न अस्वीकृति। आशा-जनक केवल इतनी बात है कि आप मुझे बुरा नहीं समझतीं, किंतु संभवतः भवदीय भ्राता के मुझसे संबंध रखनेवाले विचार आपके विचारों से उच्चतर हैं।

सौम्या—तथ्य इतना है कि मैंने आपके विषय में कोई मत अब तक स्थापित नहीं किया है, तथापि आशा है, भ्राता से मंत्र करके आगे-पीछे निश्चय कर सकूँगी।

वीरवर—आपने तो पहले कहा था कि इस विषय पर बात करने को तैयार हूँ?

सौम्या—बातों-ही-बातों में मुझसे इतनी भूल हो गई थी।

वीरवर—समझ ऐसा पड़ता है कि विषमशील का आशय प्राप्त करने के पीछे आप मुझे निश्चित उत्तर देना चाहती हैं।

सौम्या—यद्यपि भारतीय नियमानुसार कन्या की ओर से ऐसा प्रस्ताव सुगमता-पूर्वक होने में कोई अनौचित्य नहीं, तथापि स्वजनों से इस विषय में स्वतंत्रता पाकर मैं किसी से आशय प्रकट करना

अपने लिये अपमान समझती हूँ। चाहे विपमशील देवता ही क्यों न हों, और मेरी सम्मति में हैं भी, तथापि मैं उससे प्रेम की भिक्षा कभी न माँगूँगी। केवल कुछ समय तक अभी देखना चाहती हूँ कि भाग्य क्या सामने रखता है?

वीरवर—इतने स्वाभिमान पर मैं तो आपको बधाई दूँगा! किंतु इतना सोचे बिना नहीं रहा जाता कि उसमें कौन-से ऐसे गुण आपने मुझसे विशेष देखे, जिन पर मेरा भाग्य निर्णीत होने को रोका जा रहा है, तथा उसके सम्मुख मेरी योग्यता नगण्य समझी जाती है। पढ़ने में वह मुझसे एक वर्ष पीछे है। धन के प्रश्न पर बहुत साधारण पुरुष समझ पड़ता है। फिर वह कौन-सी बात है, जिस पर देवता समझा जाता है?

सौम्या—विद्याध्ययन में वह कभी असफल तो हुआ नहीं। आपके एक वर्ष पीछे संस्था में आया ही है। मेरी अवस्था देखते हुए एक वर्ष इधर-उधर होना नगण्य है। उसकी निर्धनता का निष्कर्ष आप किस आधार पर निकालते हैं, यह मुझे अज्ञात है।

वीरवर—यह तो मेरी सामग्रियों का उसकी से संतुलन करने पर प्रत्यक्ष प्रकट हो जायगा। वस्त्रालंकार कुछ अच्छे नहीं रखता। केवल दो सेवक हैं। यदि सधन होता, तो सामग्री अवश्यमेव भव्य होती।

सौम्या—बहुतेरे लोग विशेष व्ययशील नहीं होते। सामग्री-मात्र से कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकल सकता। यदि मंडलाधिप न भी हो, तो गुणों से संसार-यात्रा में उन्नति कर सकेगा। भद्रत्व तथा शौर्यकी प्रत्यक्ष मूर्ति है।

वीरवर—संभवतः मेरा कोई अभद्र कार्य आपके देखने में न आया होगा; रहा शौर्य, उसमें अपने सम्मुख उसे मैं कोई माल नहीं समझता।

सौम्या—इसका उत्तर तो संग्राम-स्थल दे सकेगा ।

वीरवर—अच्छा, इसी पर रही । किसी अवसर पर अध्यापकों की आज्ञा से उसके साथ कृत्रिम कृपाण-युद्ध आपको दिखलाऊँगा ।

सौम्या—यदि विजय पा जाइएगा, तो मैं भी अपना विचार परिवर्तित कर सकती हूँ, किंतु अभी यही समझ पड़ता है कि यदि कुशल चाहिएगा, तो उस कृत्रिमता में कहीं वास्तविकता न ले आइएगा । मैं आपका अपमान नहीं करती, केवल मित्रता के नाते क्षेम-संबंधी मंत्र देती हूँ ।

वीरवर—है तो यह विचार अपमान-जनक, किंतु भाव आपका शुद्ध होने से मैं बुरा नहीं मानता ।

सौम्या—बड़ी कृपा हुई । यह भी कहूँगी कि उससे हारने पर मैं आपको तुच्छ अभद्र, अथवा त्याज्य भी न कह सकूँगी, क्योंकि शौर्य के विषय में उसे लाखों में एक समझती हूँ, और अपने को उसके योग्य नहीं देखती ।

वीरवर—धन्यवाद ! अब यदि आज्ञा हो, तो आपका अधिक समय न लेकर पठन-कार्य में लगूँ ।

सौम्या—जैसी इच्छा । मेरे कथनों में कोई दुर्भाव न समझिएगा । सदैव की भाँति कृपा बनाए रखिएगा ।

वीरवर—बड़ा अनुग्रह हुआ ।

इस प्रकार संलाप करके वीरवर न्यूनाधिक निरुत्साह के साथ अपने स्थान चले गए । संस्था में पठन-पाठन का कार्य पूर्व-क्रमानुसार चलता रहा । अपने रात्रीय परिभ्रमण में विक्रम ने एक बार चार लोगों को संस्था से बाहर जाते हुए देखा । उनमें से एक की पीठ पर एक गट्ठर भी था । विक्रम के साथ इनका एक मित्र भी था । इन लोगों ने उन बाहर जानेवालों को प्रचारा, तो वे पलटकर युद्धोन्मुख हुए । विदित हुआ कि वे चारों शक थे, और किसी को

बाँधे हुए लिए जाते थे। वह व्यक्ति अचेत था। चारों शकों ने कृपाणें निकालीं, तथा इन दोनो ने भी ऐसा ही किया। शक-सरदार बोला।

सरदार—तुम हम लोगों से एक-एक करके युद्ध करेगो, या चारों से साथ-ही-साथ ?

विक्रम—लुटेरों में ऐसा धर्मपालन मैंने अब तक देखा नहीं। रण-नीति तो द्वंद्व-युद्ध की आज्ञा देती है, किंतु ऐसा करने से आप लोगों की मृत्यु निश्चित हो जायगी। अतएव चारों मिलकर साथ-ही-साथ लड़ो।

सरदार—तुम्हारा ग़रूर बहुत बढ़ा हुआ है। फिर भी ग़ुस्से से काम न लेकर हम लोग एक-एक करके ही लड़ेंगे।

विक्रम—तब फिर निकल आइए।

अनंतर एक शक दस्यु विक्रम से कृपाण-युद्ध करके मारा जाता है, तथा दूसरा इनके साथी के हाथ से मरता है। इस पर स्वयं सरदार विक्रम से कुछ देर तक प्रचंड युद्ध करके धराशायी होता है, और चौथा दस्यु भागकर निकल जाता है। विक्रम मित्र द्वारा गट्ठर खोलवाकर और उसमें अचेत सौम्या को पाकर आश्चर्य-चकित होते हैं। ये दोनो तुरंत उसे उठाकर संस्था के चिकित्सालय ले जाते हैं, जहाँ रात्रि के लिये नियुक्त चिकित्सक उपचार द्वारा उसे संज्ञा-युक्त करते हैं। उसी समय एक चिकित्सक तथा सेवक को साथ लेकर विक्रम सौम्या के निवास-स्थान को जाते हैं, जहाँ उसका भ्राता भी अचेत पाया जाकर उपचार द्वारा संज्ञा-युक्त किया जाता है। दोनो भ्राता और भगिनी विक्रम तथा उनके साथी को भूरि-भूरि धन्यवाद देते हैं, तथा प्रातःकाल समाचार पाकर अध्यापकवर्ग भी इन दोनो की बहुत बड़ाई करता तथा प्रशंसा-पत्र देता है।

कुछ ही दिनों के पीछे संस्था में एक ऐसा पर्व पड़ा, जब छात्रों को

अपनी-अपनी शस्त्रास्त्र-कला-प्रदर्शन अथच कृत्रिम युद्ध के अवसर प्राप्त हुए। विक्रम ने साधारण प्रयत्न से ही सबसे बढ़कर योग्यता दिखलाई, अथच कई कृत्रिम कृपाण-युद्ध भी हुए, जिनमें वीरवर ने इनका सामना किया। वह भी इस विद्या में परम पटु था। देर तक युद्ध होता रहा, जिसमें कृत्रिमता के स्थान पर बहुत कुछ अमर्ष वीरवर की ओर से आ गया। अनंतर विक्रम का एक वार ऐसा पड़ा कि विपक्षी का खड्ग मूठ के पास से कटकर पृथ्वी पर जा पड़ा, और वह निरस्त्र हो गया। विक्रम ने भी अपना खड्ग फेंककर मल्ल-युद्ध द्वारा उसे पृथ्वी पर दे मारा। इस प्रकार पूर्ण पराजय पाकर वीरवर न केवल निर्णायकों द्वारा पराजित माना गया, वरन् अपने चित्त से भी हारकर विक्रम को धन्यवाद देने लगा। अनंतर सौम्या के भ्राता ने एक दिन इनकी सेवा में उपस्थित हो अपनी भगिनी का भविष्य पूर्णतया इन्हीं के विचार पर अवलंबित कर दिया। प्रयोजन यह था कि अपनी ओर से विवाह का प्रस्ताव बिना किए ही उन्होंने एक प्रकार से भगिनी का हाथ इन्हें समर्पित किया, तथा धन्यवाद देते हुए यह भी कहा कि शास्त्रानुसार ऐसा अमोघ उपकारक पितृतुल्य पूज्य हो जाता है।

विक्रम—प्रियवर! आपने थोड़े ही उपकार को बहुत बड़ा मानने की उदारता दिखलाई है। इतना तो क्षत्रिय-धर्म ही है कि प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा आवश्यक है। इधर आप दोनो मित्रों में से भी हैं।

सौम्या का भ्राता—यह भी आपकी भारी उदारता है कि इतना बृहत् उपकार करके उसे लघु मानते हैं।

विक्रम—सौम्याजी के विवाह-विषयक जो कथन आपने किए, उनके विषय में मुझे यही कथनीय है कि रूप, शील, गुण, विद्वत्ता, सद्वृत्त आदि देखकर मैं स्वयं अपने लिये प्रार्थना करने के विचार में था, किंतु शास्त्रानुसार तथा भवदीय सम्मति से भी अब एक

प्रकार से मेरा पितृभाव जुड़ता है, जिससे ऐसे भावों में पाप का समावेश हो जाता है।

सौम्या का भ्राता—पूज्यवर ! यह शंका पूर्णतया निर्मूल समझिए। ऐसा उपकारी पितृतुल्य पूज्य-मात्र होता है, संबंध में पिता नहीं हो जाता।

विक्रम—प्रियवर ! आपके भी कहने में बहुत कुछ सार है। फिर भी मैं विशेष विचार करके तथा उनका भी आशय लेकर दो-चार दिनों में आपसे बिनती करूँगा।

सौम्या का भ्राता—जैसी आज्ञा। आशा है, आपका उपर्युक्त स्पष्ट भाव जानकर भी हम लोगों को निराश न होना होगा।

विक्रम—कृपया अभी इस विषय को निर्णीत न समझिएगा। यदि पहले से आप आज्ञा किए होते, तो साफल्य विशेष सुगम होता। अब तो उपकार का फल-सा हुआ जाता है, इतना ही भ्रम चित्त को घेरे हुए है।

सौम्या का भ्राता—मैं आपको निश्चय दिलाता हूँ कि यह बात नहीं है, क्योंकि मेरा ऐसा विचार कुछ पूर्व से ही था।

विक्रम—अच्छा, पीछे से बिनती करूँगा।

इस प्रकार वार्तालाप करके सौम्या के भ्राता महाशय अपने स्थान को पधारे, तथा एक-दो दिनों में एकांत पाकर कुनिंद वीरवरजी विक्रम की सेवा में उपस्थित हुए।

विक्रम—आइए, वीरवरजी ! विराजिए; कहिए, क्या आज्ञा है ?

वीरवर—विषमशीलजी ! मुझे बड़ा दुःख है कि उस दिन के कृत्रिम कृपाण-युद्ध में मेरी ओर से कुछ अमर्ष का भी प्रयोग हो गया था, किंतु भारी औदार्य से आपने किंचिन्मात्र बुरा न माना। आपके शौर्य की मैं शतमुख से प्रशंसा करूँगा। आपका क्षत्रियत्व एवं पौरुष परम पूज्य है।

विक्रम—इसमें मेरी कोई महत्ता न थी। कृपाण के प्रयोग में हैं आप भी दक्ष, हाँ, मुझमें केवल पशुबल विशेष था। आपका शारीरिक गठन मेरे सामने कुछ दुर्बल भी है। ऐसी दशा में देर तक प्रायः बराबर युद्ध चलाने में आप ही की विशेष प्रशंसा है। यदि आपके खड्ग का लोहा बुरा न होता, तो क्या निश्चय है कि विजय किसकी होती?

वीरवर—इतनी निश्चित जीत पाकर ऐसे मीठे वचन आपकी महिमा को और भी प्रवर्द्धित करते हैं।

विक्रम—अच्छा, जो हुआ, सो हो ही चुका। इतना मैं भी कहूँगा कि न-जाने कितने कृपाण-युद्ध कर चुका हूँ, किंतु आपका-सा योद्धा मैंने उसी दिन पाया। मैं भवदीय कौशल की मुक्त कंठ से प्रशंसा करूँगा।

वीरवर—बड़ी ही कृपा हुई।

विक्रम—अब यह भी आज्ञा हो जाय कि आज यह सदन कैसे एकाएक भवदीय शुभागमन से पवित्र हुआ?

वीरवर—आज मैं प्रार्थी के रूप में आपके सम्मुख उपस्थित हुआ हूँ।

विक्रम—समझ पड़ता है, सौम्याजी के विषय में आपकी लालसा कुछ बलवती है।

वीरवर—यही बात है, मित्रवर! उसने मेरी प्रार्थना का निर्णय एक प्रकार से उस दिन के द्वंद्व-युद्ध पर अवलंबित किया था। इसी से मैं विशेषतया विजय का उत्सुक था, किंतु वह आशा तो असफल हो गई। अब जाकर किस मुख से उससे प्रार्थना करूँ?

विक्रम—आपने बड़ी ही अनुकंपा तथा सौजन्य का व्यवहार किया, जो इस प्रकार स्वच्छ भाव से अपने शुद्ध तथा स्वाभाविक

विचार मेरे सामने निष्कपट भाव से रख दिए। मैं उन्हें चाहता अवश्य हूँ, और उनके भ्राता ने विवाह का निर्णय मेरी ही सम्मति पर आधारित कर दिया है। मैं आज ही आपके पक्ष में सम्मति दे दूँगा। उन्हें विचार करने को समुचित समय मिल जाय, इसलिये आप ही के द्वारा अभी उनके भ्राता के पास पत्र भेजे देता हूँ। आप उनके पास भेज दीजिए, तथा मेरे हस्ताक्षर से उसकी एक प्रतिलिपि सौम्यादेवी की सेवा में भी प्रेषित कर दीजिए।

वीरवर—आप मनुष्य नहीं, देवता हैं। सौम्यादेवी का भी यही कहना था। मैंने उस काल उनकी सम्मति न मानी थी, किंतु अब दूने हठ के साथ समर्थन करता हूँ।

विक्रम—इसमें कोई बात नहीं है, मित्रवर! आपका उनके प्रति प्रेम मेरेवाले से बहुत प्राचीन है। वास्तविक बात यह है कि मेरा विचार-ही-विचार था, जो परिपक्व होकर प्रेम की मात्रा-पर्यंत अभी पहुँचा ही न था।

वीरवर—धन्य है आपके औदार्य एवं स्वार्थ-त्याग को। एक विनती मैं भी किए देता हूँ कि आज से हम दोनो आपके पूर्ण सेवक हुए। मैं भविष्य में अपने लिये कोई इच्छा ही न करूँगा, वरन् भूत की भाँति सदैव सेवा-रूप में आपके हित में प्रस्तुत रहूँगा, और जो कुछ भी मेरा है या होगा, वह आप ही का रहेगा। मैं आज से आपका बैताल हो चुका। भोजन-भर का प्रबंध आपके ऊपर रहा।

विक्रम—मित्रवर! यह आप क्या आज्ञा करते हैं? इतना क्या, कोई भी मूल्य आपके आज्ञापालन के संबंध में मैं नहीं ले सकता। यदि इतना मूल्य देना हो, तो प्रार्थना ही फेर लीजिए; मैं अपनी ओर से ही आपसे विनय करता हूँ।

वीरवर—मेरा यह निर्णय भवदीय स्वीकार पर आधारित नहीं

है। आप कुछ भी कहें, मुझे जो कहना था, सो मैं कह चुका। सौम्यादेवी मुझे प्राप्त हों या नहीं, मेरा उपर्युक्त निर्णय दृढ़ हो चुका।

विक्रम—मैं आपकी उदारता से अत्यंत लज्जित हो रहा हूँ।

वीरवर—इसकी कोई आवश्यकता नहीं। अच्छा, यदि उचित हो, तो उपर्युक्त पत्र प्रदान हों। "जो आज्ञा" कहकर विक्रम ने दो पत्र लिखे, उन पर विधिवत् अंकारोपण तथा हस्ताक्षर किए, और वीरवर के हाथ में दे दिए। यथासमय वीरवर का विवाह विधि-पूर्वक सौम्यादेवी के साथ अवभृथ-स्नान के पीछे हो गया। उनके भ्राता के साथ विक्रम ने भी कन्यादान दिया। अनंतर विक्रम की सम्मति से आनेवाले अवभृथ-स्नान पर पुष्कर पधारने का वचन देकर वीरवर सपत्नीक एक वर्ष के लिये कुनिंद चले गए। दूसरे वर्ष संस्था की परीक्षाओं में पारंगत होकर तथा पाँचों मित्रों के साथ प्रमाण-पत्र एवं पारितोषिक पाकर विक्रम ने उन पाँचों मित्रों तथा वीरवरजी को साथ लेकर उज्जयिनी के लिये प्रस्थान किया। सारे सहपाठियों तथा अध्यापकों ने इन्हें भूरि-भूरि आशीर्वाद दिए, तथा गुरुवर ने यथारुचि गुरु-दक्षिणा भी पाई। सर्वोत्कृष्ट शिष्य होने से गुरुओं ने इनका मधुपर्क से सम्मान किया। मार्ग में वे सब मित्र पूर्ण आनंद के साथ खाते-खेलते हुए जा रहे थे। सुपास के साथ पूर्ण आमोद-प्रमोद भी प्राप्त रहा।

चौथा परिच्छेद

उज्जयिनी

विक्रम के उज्जयिनी से पठनार्थ चलने के एक वर्ष पीछे सरस्वतीदेवी के द्वारा राजा गंधर्वसेन को पुत्र-रत्न का लाभ हुआ, जिसका शुभ नाम भर्तृहरि रक्खा गया। सारे राजकुटुंब में बड़ा ही हर्षोत्सव मनाया गया। सरस्वतीदेवी ने गृहस्था होकर भी पूर्ण विरागिनी का आचरण स्थापित रक्खा, और कभी किसी वस्तु की याचना अथवा कामना न की। उनका एकमात्र सिद्धांत सबों को प्रसन्न रखने का था। जिसको इनसे जितनी कृपा और प्रेम की आशा उचित-प्रकारेण हो सकती थी, उससे विशेष ही इनके तत्संबंधी आचरण से प्रकट हुआ। रानी क्या थी, साक्षात् कर्तव्य की मूर्ति थी। राजा गंधर्वसेन तो परम प्रसन्न रहते ही थे, दोनो सपत्नियाँ भी हर प्रकार से संतुष्ट थीं। इसी प्रकार तीन वर्ष बीतने पर एक दिन इन्होंने राजा से यों वार्तालाप किया।—

सरस्वतीदेवी—देव! आपकी कृपा इस अयोग्य सहगामिनी पर जिस आधिक्य से रहती है, वह तो वर्णनातीत है; फिर भी आप जानते हैं कि मैंने वैवाहिक एवं मातृजीवन का अनुभव प्राप्त करने को अपना प्रिय संन्यास छोड़ा था। तीन वर्षों में इस जीवन से जितना ज्ञान संभव था, प्राप्त कर चुकी हूँ। आशा है, अब आप मुझे फिर से संन्यासाश्रम ग्रहण करने की आज्ञा दे देंगे, क्योंकि मुझे ऐसा दिखता है कि भविष्य में इस जीवन से किसी नवीन

अनुभव की आशा शेष नहीं है। अब तो मेरे लिये यह केवल सुख-साधन का मार्ग रह गया है, जिसकी मुझे विशेष इच्छा नहीं।

राजा—तुम भी प्रिये, क्या मूर्खाओं की-सी बात करती हो? अरे, मैंने जो प्रचुर परिश्रम करके तुमको भिक्षुणी से रानी बनाया था, वह तुम्हारी समझ में क्या केवल ज्ञान-दान का ही मार्ग था?

सरस्वतीदेवी—और नहीं तो क्या था? कहते आप यही थे।

गंधर्वसेन—केवल आपको ज्ञान-दानार्थ मैं इतना यत्नशील काहे को होता? मेरी इच्छा इस चंद्र-वदन पर शतशः चुंबन जड़ने की थी।

सरस्वतीदेवी—वह प्रसन्नता भी आपको पूर्णरूपेण प्राप्त हो चुकी है। अब तो कोई कामना शेष नहीं?

गंधर्वसेन—शेष क्यों नहीं है? यह लालसा नित्य नवीन रूप धारण करती जाती है।

सरस्वतीदेवी—यह तो कर्तव्य-पालन अथवा ज्ञान-प्राप्ति न होकर सुख-साधन-मात्र है। क्या मुझे धोखा दिया जा रहा था?

गंधर्वसेन—छल की कौन-सी बात थी? जो निष्कपट शुद्ध प्रीति पति-पत्नी तथा माता और संतानों में होती है, वह क्या कहीं इतर प्राप्त है? क्या ये नवीन अनुभव तुम्हें न हुए?

सरस्वतीदेवी—हुए अवश्य, और यह भी मानूँगी कि ये बड़े ही रुचिकर तथा सुखद अनुभव हैं, किंतु पुनरुक्ति से क्या लाभ? समझ लिया कि सांसारिक आंतरिक जीवन इस प्रकार चलता है।

गंधर्वसेन—तो इससे श्रेष्ठतर कौन-सा जीवन है, जिसके अर्थ तुम इसे छोड़ना चाहती हो?

सरस्वतीदेवी—भिक्षुणी का, जिससे संसार को भाँति-भाँति से ज्ञान-लाभ होता है।

गंधर्वसेन—मैं तुम्हें पहले ही समझा चुका हूँ कि एक साधारण-

तथा सज्ञान राजा से संसार को सुख और ज्ञान का लाभ सौ-दो सौ संन्यासियों के प्रयत्नों से भी बहुत अधिक होता है। स्वयं देखो कि जब से तुमने इस राज्य को पवित्र किया है, तब से जनता को कितना सुख मिल रहा है ?

सरस्वतीदेवी—ये बातें पहले से भी थीं।

गंधर्वसेन—थीं तो थोड़ी-सी अवश्य, किंतु इतने प्राचुर्य से नहीं, जो तुम्हारे आने के पीछे से प्रारंभ हुई हैं।

सरस्वतीदेवी—इसका क्या कारण है ?

गंधर्वसेन—तुमसे तर्क करने में राज्य द्वारा जनता की उन्नति के जो चित्र मैंने खींचे थे, उन्हें वास्तविकता से और भी परिवर्धित करने का मैंने प्रयत्न किया, जिसमें तुम अपना यहाँ आना निष्फल न समझो। यदि ऐसा न किया होता, तो गृहत्यागवाला तुम्हारा आज का विचार कैसे स्थगित कर पाता ?

सरस्वतीदेवी—तो क्या जीवन-पर्यंत मुझे इसी सुखद राजप्रासाद में ही रहना है ?

गंधर्वसेन—और कहाँ जाना है ? इसमें हानि ही क्या है ? एक शिक्षिका होकर संसार का तुम जितना लाभ करतीं, उससे सहस्रगुना मैं सैकड़ों शिक्षक नियत करके तुम्हारे ही कारण से कर रहा हूँ। संन्यासिनी होकर इससे विशेष तुम क्या लोक-सेवा कर लोगी ? क्या तुम समझती हो कि मैं तुम्हें शत वर्ष-पर्यंत भी सुख से छोड़ सकता हूँ ? इसी भाँति तुम्हारा भर्तृहरि कब छोड़े देता है ?

सरस्वतीदेवी—वह तो न छोड़ेगा, मुझसे बहुत ही अनुरक्त रहता है।

गंधर्वसेन—यही समझ लो। इन मूर्खताओं में क्या रक्खा है ? अच्छा, यह तो बतलाओ कि मुझे छोड़कर चली जाने की इच्छा क्या तुम्हें वास्तव में होती है ?

सरस्वतीदेवी—सो तो नहीं है, वरन् यहाँ से चलने में मेरा चित्त रोने लगता, किंतु कर्तव्य के विचार से कहती थी।

गंधर्वसेन—धन्य प्राणप्रिये! धन्य! अच्छा, यह तो बतलाओ कि सपत्नियों से तुम्हारी अब भी अच्छी निपट रही है न?

सरस्वतीदेवी—बहुत ही अच्छी। वे दोनो बेचारी सौजन्य की मूर्ति हैं। विषमशील भी रहे मेरे आगे यहाँ थोड़े ही दिन, किंतु उन्होंने कभी तीनो माताओं में कोई भेद न किया। बड़ा ही उच्च विचाराश्रयी पुत्र है। इच्छा एवं प्रयत्न यही है कि मेरा भर्तृहरि भी वैसा ही निकले। उसकी भोली-भोली बातों से मैं बहुत ही प्रसन्न रहती हूँ।

गंधर्वसेन—ये ही तो मातृजीवन के सुख हैं। आशा है, मेरे आचरणों से भी कभी कष्ट न होता होगा।

सरस्वतीदेवी—आपने तो सदैव मुझसे बड़ा ही अमोघ प्यार किया है। इतना प्रेम भक्तगण ईश्वर से भी नहीं करते।

गंधर्वसेन—तब भी तो ऐसी भक्ति का फल देकर, मुझे छोड़कर भागना चाहती थीं।

सरस्वतीदेवी—वह कर्तव्य-पालन का भाव था, किसी प्रकार से कोई दुर्भाव का नहीं।

गंधर्वसेन—कर्तव्य-पालन पति, पुत्र, प्रजावर्ग, परिजन, बांधवों आदि से भी आवश्यक है न?

सरस्वतीदेवी—है क्यों नहीं? अब तो मैं मान ही चुकी। अब इन बातों का कथन क्यों होता है?

गंधर्वसेन—अच्छा, साहित्य, संगीत, वाद्य, नृत्यावलोकन, एकाकी एवं मिलित नृत्य में सबसे अधिक रुचिकर तुम्हें क्या है?

सरस्वतीदेवी—तुम्हारे साथ मिलित नृत्य।

गंधर्वसेन—यही मेरी भी भावना है। अच्छा, यह तो बतलाओ कि कालक से तुमने क्या कहला दिया था?

सरस्वतीदेवी—उन्हें मैंने कहलाया था कि मिलने में तो मुझे लज्जा लगती थी, किंतु विवाह मैंने सुख-पूर्वक स्वेच्छा से किया था, किसी विवशता आदि के कारण नहीं।

गंधर्वसेन—तब उसने क्या कहा?

सरस्वतीदेवी—वह मिलकर समझाना चाहते थे, किंतु यह मैं सह्य न मान सकी। एक लंबे पत्र द्वारा उन्हें सारा समाचार सूचित कर दिया, और वह यहाँ से चले गए।

गंधर्वसेन—अब शस्त्रास्त्र-कला तथा रण-कौशलादि का समुचित ज्ञान प्राप्त करके बेटा विक्रम आने ही वाला है। बड़ा ही सच्चरित्र, सौम्य, मातृपितृभक्त, शास्त्र-विशारद और वीर युवराज है। ऐसा पुत्र भला, मुझे कब मिला जाता था, वह तो श्रीमहाकालेश्वरजी की कृपा हो गई, जिससे मैं भी सनाथ हो गया।

सरस्वतीदेवी—हैं तो बहुत ही योग्य और प्रेम-पूर्ण युवराज। मेरा भी बहुत मान करते हैं। कब तक आनेवाले हैं?

गंधर्वसेन—शीघ्र ही; साँड़िनी-सवार आ चुका है।

अनंतर दो ही चार दिनों में विक्रम अपने छओं मित्रों के साथ उज्जयिनी में पहुँचकर पिता-माता तथा विमाताओं से भक्ति-पूर्वक पाद-स्पर्श करते हुए मिले, तथा अतिशीघ्र ज्योतिर्लिंग महाकालेश्वर के दर्शन भी पूर्ण भक्ति-भाव से कर आए। जब मित्रों ने इनका वास्तविक युवराजवाला रूप जाना, तब उन्होंने इनकी भाव-गोपन-संबंधिनी क्षमता तथा परमोच्चादर्शों पर बड़ा ही आश्चर्य किया, अथच तभी से इन पर उनकी श्रद्धा भी असीमप्राय हो गई। विक्रम द्वारा ये छओं मित्र राजा गंधर्वसेन के सम्मुख लाए जाकर विनयावनत हुए, तथा उन्होंने इनका भी पुत्र-भाव से समादर किया। अनंतर

राजसभा एकत्र की गई, जिसमें राजा गंधर्वसेन के अतिरिक्त तीनों रानियाँ, विक्रम और वीरवर प्रस्तुत हुए। पाँचों मालव-मित्र भी आदर-पूर्वक वहीं विराजे। एक प्रकार से यह कौटुंबिक दरबार था, जिसमें महामंत्री, सांधिविग्रहिक तथा महासेनापति भी विशेषतया सम्मिलित किए गए। बातचीत यों होने लगी—

गंधर्वसेन—बेटा विषमशील! आज तुमको परीक्षोत्तीर्ण होकर शस्त्रास्त्र-विद्या तथा समर-कौशल-विशारद के रूप में देखकर मैं अत्यंत आह्लादित हूँ। आशा है, अब तुम्हारी ज्ञान-प्राप्ति की पिपासा शांत हो चुकी होगी।

विक्रम—पूज्य पिताजी! अभी तक मैंने योग्यता ही क्या संपादित की है, जिस पर संतोष हो सके? जब तक तक्षशिला में प्राप्य समर-कौशल की पूर्ण विद्या न प्राप्त हो जाय, तब तक महारण-कोविद शकों से सफल सामना करने का निश्चय चित्त में कैसे आ सकता है? उस विद्यालय की समर-विद्या प्राचीन काल से परमोच्च रही आई है, तथा इन दिनों उसमें शकों के रण-कौशल का भी ज्ञान मिल गया है। अद्यपर्यंत मैंने दाक्षिणात्य भारत, मालव-प्रांतों, गुर्जर-राज्यों तथा पुष्कर का ही युद्ध-शास्त्र तो जाना है। अभी तक देव! मेरे लिये परमोच्च सामरिक ज्ञान एक प्रकार से बंद पुस्तक है।

गंधर्वसेन—क्यों महासेनापतिजी! इनके विचार पर आपकी क्या सम्मति है?

महासेनापति—कथन तो युवराज महोदय का योग्य ही है; देव! भला, कहीं प्रवीण विद्यार्थियों को विद्या-लाभ से संतोष होता है? यह भी सत्य है कि तक्षशिला में विशेष ज्ञान प्राप्य है, जिसका पूरा भेद अभी इन्हें अवगत नहीं है। फिर भी जितनी विद्या इन्हें प्राप्त हो चुकी है, वह सब-की-सब तक्षशिला के विद्यार्थियों की कौन

कहे, सब अध्यापकों तक को ज्ञात न होगी। मैं तो ऐसा समझता हूँ देव!

गंधर्वसेन—क्यों वीरवरजी! आपकी क्या सम्मति है?

वीरवर—पूज्य पिताजी! मैं तो भाईजी को बहुत ही योग्य पाता हूँ। फिर भी विगत वर्ष पुष्कर से उत्तीर्ण होकर इन्हीं के इच्छानुसार कुनिंद तथा तक्षशिला में एक वर्ष बिता चुका हूँ। है उस संस्था में कुछ विशेष ज्ञान अवश्य।

गंधर्वसेन—तुम्हारे पंचभद्रवर्गीय मित्रों की क्या सम्मति है?

एक मित्र—पूज्यवर! हम लोगों का सामरिक ज्ञान अद्यपर्यंत केवल पौष्कराध्ययन पर सीमित है। अपने मित्र को हम लोग तो बहुत ही प्रवीण पाते तथा इनमें कोई न्यूनता नहीं देखते हैं। मंत्र-दान की योग्यता भी हम लोग अपने में नहीं पाते। फिर भी "अधिकस्याधिकं फलम्" की बात है ही।

विक्रम—पूज्य काकाजी! आपने सभी की सम्मति पा ली है। फिर भी तीनो माताओं की इच्छा, अंतरराष्ट्रीय स्थिति, मंत्रिमंडल की प्रभावशालिनी सम्मति तथा स्वकीय सद्भावों पर विचार करके जो आज्ञा प्रदान करेंगे, वही सर्वतोभावेन माननीया अथच योग्य होगी। मैं तो अद्यावधि कोई परचक्र प्रबल नहीं देखता। यही सबसे भारी प्रश्न है, जिस पर अपना मालवगण किसी समय चिंतित था।

गंधर्वसेन—यही तो मुख्य विषय है, जिस पर पूर्णरूपेण विचार आवश्यक है; नहीं तो ऐसा कौन-सा पिता होगा, जो अपने पुत्र की ज्ञान-पिपासा अतृप्त रखना चाहे। केवल भारतीय स्थिति तथा तुम्हारी माताओं की प्रेम-पूर्ण इच्छाएँ क्या हैं, इतना ही विचारणीय है।

रानी मदनरेखा—हम तीनो ने तो इस गहन प्रश्न पर तीन-चार दिनों से बहुत ध्यान दिया है, क्योंकि बेटा विषमशील ने अभी

तीन वर्ष और अध्ययन करने की भारी अभिलाषा हम लोगों पर सहठ प्रकट कर रक्खी है ।

गंधर्वसेन—विशेष मान इन्हें तथा मुझे तुम्हारी ही भावनाओं का है । तुम तीनो पारस्परिक मंत्रणा से अपना चित्त दृढ़ करके एक बात कह दो, तब आगे विचार किया जाय ।

रानी सौम्यदर्शना—हम तीनो ने इस विषय पर कई बार विचार-विनिमय किया है । मातृहृदय प्रधानतया प्रेम-पूर्ण होता है । हम ऐसे प्रिय पुत्र को आँख से ओट तो करना चाहती नहीं, किंतु विशेष योग्यता-प्राप्ति से सारे मालव-संघ, राजपरिवार तथा स्वयं इनके कुशल अथच महत्ता के प्रश्न लगे हुए हैं । कहें, सो क्या कहें ? एक ओर ममता नाहीं करने को विवश कर रही है, तथा दूसरी ओर किसी अंतरराष्ट्रीय प्रतिबंध के न होने से बुद्धि बेटे के विचारों का समर्थन करती है ।

गंधर्वसेन—इतना बड़ा व्याख्यान मैं नहीं चाहता । एक बात कहिए कि आप तीनो का निश्चित कथन क्या है ?

रानी सरस्वतीदेवी—कथन यह है कि चित्त को बड़े कष्ट-पूर्वक स्ववश करके हम तीनो विदेश-यात्रा के प्रतिकूल कोई आपत्ति नहीं उठातीं ।

विक्रम—अनेकानेक धन्यवाद ! यह कथन संन्यासिनी माता के योग्य भी हैं ।

गंधर्वसेन—(महामंत्री से) आर्य ! आपका क्या विचार है ?

महामंत्री—जानना मुझे सब कुछ चाहिए, और थोड़ा-बहुत जानता भी हूँ, किंतु विषय यह पर-राष्ट्र-सचिव का है ।

गंधर्वसेन—(पर-राष्ट्र-सचिव से) आजकल अंतरराष्ट्रीय दशा क्या है, सो मैं आपसे भी जानना चाहता हूँ ।

पर-राष्ट्र-सचिव—देव की कृपा से सब ठीक-ठाक है । जब से

छोटी रानी महोदया का शुभागमन राजप्रासाद में हुआ है, तब से इनके भ्राता कालकाचार्य की कोप-दृष्टि इस संघ पर दृढ़ता-पूर्वक चली आ रही है। वह सिंध के शक-राज्यों में बराबर घूम रहा है, तथा भूमक शक से उसकी विशेष मित्रता हो गई है। उन ९६ सिंधी शक-शाहियों में से कुछ का बिगाड़ शाहानुशाही से हो गया, जिससे कई शाहियाँ सिंध छोड़कर, सौराष्ट्र में उपनिवेश बना-बनाकर अधिकृत हो गई हैं। उन्हीं में भूमक भी एक है। कालक उसे मालव-संघ पर आक्रमण करने को समझा रहा है, किंतु उसमें न तो इतनी शक्ति है, न वह अभी ऐसा साहस कर सकता है। उसकी इच्छा माथुर शकपति राजबुल से मैत्री स्थापित करके कुछ करने की है।

गंधर्वसेन—इधर लाटेश से उसकी कैसी चल रही है ?

पर-राष्ट्र-सचिव—लाटाधिपति तो ऐसा आचरण-शून्य अथच कादर पुरुष है कि उसे शक-शक्ति अमोघ समझ पड़ती है, और अपना राज्य शकों के उत्पातों से सुरक्षित रखने के विचार से न चाहते हुए भी वह उनका अनुगामी बना रहता है। शक्ति उसकी कुछ महती है ही, तथा बड़ी रानी महोदया के स्वजनों से अंतरंग गुप्त मनमैली के कारण भी वह उज्जयिनी का अशुभाकांक्षी है।

महामंत्री—आपकी सम्मति में, आर्य ! वर्तमान स्थिति कैसी है ?

पर-राष्ट्र-सचिव—जब तक भूमक को राजबुल की सहायता नहीं मिलती, तब तक उसे कुछ करने का साहस शायद न होगा। यदि लाटाधिपति से उसकी आशा किसी प्रकार टूट सकती, तो और भी निश्चित स्थिति हो जाती।

गंधर्वसेन—(महामंत्री से) इस विषय में, आर्य ! आप क्या विचारते हैं ?

महामंत्री—अभी कोई निकट की चिंता तो उपस्थित है नहीं ;

मैं समझता हूँ, यदि युवराज महोदय को तीन वर्ष के लिये तक्षशिला में अध्ययन की आज्ञा दे दी जाय, तो कोई दोष नहीं। जैसा होगा, देखा जायगा।

महासेनापति—क्या कालक में थोड़ी भी देश-भक्ति नहीं है कि वह तीन वर्ष के पीछे भी केवल बदला लेने के विचार से स्वदेशी राज्यों पर शकाधिकार करा देने का उत्सुक रहेगा?

पर-राष्ट्र-सचिव—इतनी देश-भक्ति की मात्रा उसमें नहीं है। धार्मिक लोग प्रायः झूठे धर्म ही की प्रधानता समझते हैं, देश-भक्ति का उन्हें रंचक विचार नहीं होता। प्राचीन काल से बौद्ध धार्मिकों का ऐसा देश-द्रोह प्रकट है ही।

गंधर्वसेन—तब फिर यदि संभव हो, तो अपनी ओर से भी लाटाधिपति पर साम-दाम-भय-दंड आदि के अस्त्र चलाए जायँ, और उसे स्ववश करने का प्रयत्न हो।

महामंत्री—विचार तो बहुत पूज्य है, किंतु उसका आचरण ऐसा नीच है कि हाँ कर देने से भी उससे कोई निश्चय नहीं होगा।

पर-राष्ट्र-सचिव—तो भी प्रयत्न में क्या हानि है?

गंधर्वसेन—इसके लिये कौन-सी युक्ति की जाय?

महामंत्री—यही बात समझ में नहीं आ रही है, देव!

विक्रम—काकाजी! यदि आज्ञा हो, तो अध्ययनार्थ तक्षशिला जाने के पूर्व एक वर्ष के लिये लाट जाकर किसी प्रकार उसी नरेश को स्ववश करने का प्रयत्न करूँ?

गंधर्वसेन—बेटा! तुम्हारी अवस्था अभी परिपक्व नहीं है। ऐसे जोखिम के काम में तुम्हें भेजने का साहस कैसे कर सकता हूँ?

विक्रम—काकाजी! इसमें जोखिम की कौन-सी बात है? मित्र-भाव से ही उसे स्ववश करने का प्रयत्न किया जायगा।

गंधर्वसेन—किस प्रकार?

विक्रम—पुष्कर में मैं शिवि क्षत्रिय था ही। वही रूप बनाकर लाट में चित्रकार बनूँगा। समय पर प्रवीणता की बनावट में राज-प्रासाद में प्रवेश हो ही जायगा। उस नरेश के एक-एक पुत्र और पुत्री हैं ही। उन्हीं से मित्रता बढ़ाकर कोई युक्ति लगाऊँगा।

रानी सौम्यदर्शना—कुछ चिंता का रूप नहीं छूटता।

विक्रम—माताजी! इसमें आप भय क्यों करती हैं? कोई बिगाड़ थोड़े ही होना है। सारा कार्य-क्रम प्रेम-पूर्वक चलेगा। मेरे पाँचों मित्र ग्राहकों के रूप में चित्र मोल ले-लेकर चित्रकला का यश फैलाएँगे, तथा कार्य-साधन हो जायगा।

गंधर्वसेन—कितना समय लगेगा?

विक्रम—अधिक-से-अधिक एक वर्ष। अभी बाईसवें वर्ष में हूँ। एक साल राजसेवा कर देने से फल इतना ही होगा कि ब्रह्मचर्य का समय तक्षशिला का पाठ मिलाकर केवल एक वर्ष और बढ़ जायगा।

गंधर्वसेन—अच्छा, यों ही सही। प्रयत्न कर देखो।

विक्रम—बड़ी कृपा हुई।

गंधर्वसेन—तुम्हारे मित्रों को क्या करना होगा?

वीरवर—मैं तो, पूज्य पिताजी! इनका पूर्णतया अनुगामी हूँ। मेरा अब इस संसार में कुछ नहीं है। जो कुछ है, सब इन्हीं का है, यहाँ तक कि शरीर, स्त्री, पुत्र, मंडल आदि जो कुछ है, सब इन्हीं के समझिए। इस एक वर्ष के वैवाहिक जीवन में देव को एक पौत्र भी प्राप्त हो चुका है। है सब कुछ इन्हीं का।

गंधर्वसेन—ये बातें मेरी समझ में नहीं आ रही हैं।

विक्रम—पूरा विवरण तो मैं श्रीचरणों में निवेदित कर ही चुका हूँ। मैंने इन्हें कई बार समझाया, किंतु यह अपनी ही कहते जाते हैं। और सब बातों में मेरे वचन पूर्णतया मानकर भी एक इसी बात में नहीं मानते। मैं स्वयं इनके विचारों से बहुत कुछ लज्जित हो

जाता हूँ, किंतु अब कहने-सुनने अथवा समझाने-बुझाने की कोई बात रह नहीं गई है। यह तो चिरकाल से अपने को मेरा बैताल कहते हैं। आप काकाजी! इनको मेरी आत्मा मान लीजिए, और समझ लीजिए, विषमशील और भर्तृहरि के अतिरिक्त वीरवर भी आपके एक पुत्र हैं। इसके अतिरिक्त और कोई बात शेष नहीं है। अब मान लिया जाय कि देव के तीन पुत्र हैं।

गंधर्वसेन—यही विचार मुझे भी उचित समझ पड़ता है। बेटा वीरवर! आज से तू भी मेरा एक पुत्र हुआ।

वीरवर—(गंधर्वसेन के चरणों पर सिर रखता है, और उनके द्वारा उठाया जाकर हृदय से लगाया जाता है।) पूज्य पिताजी! मैं आज से धन्य हुआ, किंतु वास्तविक रूप मेरा बैताल का ही रहेगा, जैसा मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ।

गंधर्वसेन - इन बातों में क्या रक्खा है? आज से तुम मेरे एक कौटुंबिक व्यक्ति हो चुके। बिना शुद्ध प्रेम के कहीं ऐसी बातें पूरी पड़ती हैं? (विक्रम से) बेटा! सुना तैंने, अपने पंचभद्रीय मित्रों के कारण विशेष धन-व्यय से पुष्कर में स्वयं अपना जीवन दरिद्रावस्था का बिताया। यदि मुझे अपनी आवश्यकता सूचित करता, तो क्या मैं इनकी छात्रवृत्तियाँ नियत न कर देता? तूने इस एक मूर्खता के कारण तीन वर्षों तक अनावश्यक कष्ट क्यों उठाया?

विक्रम—पूज्य काकाजी! सधन जीवन का अनुभव तो आपकी कृपा से जन्म-काल से ही कर रहा हूँ। संकुचित जीवन में क्या दुःख-सुख होते हैं, ऐसा जानने की इच्छा होने से यह किया।

गंधर्वसेन—तो दो-चार मास ऐसा कर लेता; इतने दीर्घकाल-पर्यंत कष्ट उठाना अनुचित था। अच्छा, अब ये पंचभद्र क्या करेंगे?

विक्रम—ये मित्रगण पूर्णतया स्वतंत्र हैं। इनकी जैसी इच्छा

हो, सो करें, तथा जहाँ जी चाहे, जा भी सकते हैं। क्यों मित्रो! आप सज्जनों का क्या विचार है?

एक मित्र—अभी तो आप ही कह चुके हैं कि लाट में हम लोग चित्र-व्यापार में स्वतंत्र रूप से आपकी सहायता करेंगे।

विक्रम—वह बात बिना समझे मेरे मुख से अनायास निकल गई थी।

मित्र—बिना समझे भी आपके श्रीमुख से कोई अनर्गल बात नहीं निकलती। हम पाँचो से आपका साथ अब जीवन-पर्यंत का हो चुका है। यहीं उज्जयिनी में अपने परिवार ले आवेंगे, और देव की जैसी आज्ञा होगी, उसी प्रकार राजसेवा करेंगे। एक साल लाट और तीन साल तक्षशिला में आपके साथ रहकर अभी अनुभव-वृद्धि होगी ही। पीछे जो आज्ञा होगी, करेंगे। मालव तो यों भी हैं ही, सेवा से बाहर कैसे हो सकते हैं?

गंधर्वसेन—धन्य वीरो! धन्य! तक्षशिला के लिये तुम्हारे अर्थ भी छात्रवृत्ति लग जायगी। इन्हीं के साथ रहकर तुम पाँचो काम करो, यही मेरी भी इच्छा है।

मित्रवर्ग—जो आज्ञा, पूज्य पिताजी!

पाँचवाँ परिच्छेद

लाट-राज्य

(अ) विक्रम के प्रयत्न

लाट देश दक्षिण गुजरात में है। वहाँ के राजा गुर्जर क्षत्रिय हैं। उनके एक पुत्र और एक कन्या है, जिनके नाम हैं सोमदेव तथा रूपरेखा। राज्य बड़ा है। उसका सामरिक बल भी श्रेष्ठ है, किंतु राजा साहस-हीन होने से शकों से दबता रहता है। शकों के राज्य सिंध तथा सौराष्ट्र में होने से वह अपना देश उनकी शक्ति से कुछ-कुछ घिरा हुआ भी समझता है। लाट नगर बड़ा है, तथा वहाँ के पौर धन-धान्य-संपन्न हैं। उस प्रांत का व्यापार भारतीय विविध नगरों से है ही, तथा समुद्र द्वारा कुछ बाह्य प्रदेशों से भी है। भाँति-भाँति के व्यापारी वहाँ आया-जाया करते हैं, जिनके काम-काज भी योग्यतानुसार चलने लगते हैं। आजकल एक चित्रकार महाशय कहीं बाहर से आकर नगर में अपना व्यापार जमा रहे हैं। उनके चित्रों की थोड़े ही दिनों में बड़ी धूम मच गई है। दंडपाश-विभाग द्वारा पूछ-गछ होने से उन्होंने अपने को शिवि क्षत्रिय बतलाया, और चित्तौर के निकट निवासस्थान कहा। उनके साथ एक कुनिंद क्षत्रिय वीरवर भी रहते और बड़ी योग्यता-पूर्वक उनके कामों में सहायता करते हैं। चित्रकार महाशय अपना नाम विक्रमार्क बतलाते हैं। यह और कोई नहीं, हमारे सुपरिचित विक्रमादित्य उपनाम विषमशील ही हैं। इनके पाँचो मित्र लाट

के अन्य स्थानों में स्वतंत्रता-पूर्वक रहकर, इनके यहाँ से यदा-कदा चित्र मोल ले-लेकर अपने सदनों में लगाते हैं, तथा समाज में यत्र-तत्र फिरकर उनकी महती प्रशंसा भी किया करते हैं। विक्रमार्क तथा इतरों के बनाए हुए विविध चित्र इनकी दूकान में बिकते हैं। इनका लाभदायक व्यापार शीघ्रता-पूर्वक स्थापित हो गया है। राज-कर्मचारी अथच मंत्रिमंडल के लोग भी इनसे प्राय: चित्र मोल लिया करते हैं। इनके मित्र वीरवर विद्यार्थियों को शस्त्रास्त्र-प्रयोग तथा समर-शास्त्र की शिक्षा देते हैं। उच्च कक्षाओं को स्वयं विक्रमार्क भी यदा-कदा शिक्षा दे देते हैं। इनका नाम थोड़े ही दिनों में ऐसा फैल गया कि एक दिन स्वयं युवराज सोमदेव महोदय इनके कलाभवन में जाकर चित्रों का अवलोकन करने लगे, तथा उन्हें देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए। कई चित्र मोल लेकर यह भी पूछने लगे कि लोगों को सम्मुख बिठलाकर भी क्या उनके तैल अथवा जल-चित्र बनाए जा सकते हैं? विक्रमार्क के "हाँ" कहने पर उन्होंने अपना एक तैल-चित्र बनवाया, जिसे दस ही बारह दिनों में, कई बैठकें लेकर, इन्होंने बहुत ही सुंदर बना दिया। इनके कलाभवन से संबद्ध शिक्षालय को भी देखकर युवराज महोदय बहुत प्रसन्न हुए। वहाँ की सामरिक शिक्षा इन्हें बहुत उच्च समझ पड़ी, तथा राज्य के महासेनापति को दिखलाकर उनकी सम्मति ली गई, तो भी वैसी ही पाई गई। अनंतर युवराज महोदय ने अपने पिता लाटेश्वर से वर्णन किया, तो महासेनापति की भी सम्मति लेकर उन्होंने एक दिन विक्रमार्क को बुलवाकर बात की। महासेना-पति तथा महामंत्री भी वहीं प्रस्तुत थे।

लाटेश्वर—विक्रमार्क महाशय! आपकी चित्रकारी तथा सामरिक विद्या, दोनो की नगर में बहुत प्रशंसा हो रही है। कहिए, आप कहाँ के निवासी हैं, तथा यह समर-विद्या कैसे प्राप्त कर सके हैं?

विक्रमार्क—देव ! मैं शिवि क्षत्रिय हूँ। चित्रकारी की ओर मुझे बालवय से ही रुचि थी, और युद्ध-विद्या यत्र-तत्र घूम-घूमकर अनेक गुरुओं आदि से प्राप्त हुई है। विशेष योग्यता तो किसी भी विषय में नहीं उपार्जित कर सका हूँ, तथापि थोड़ा-बहुत जो जाना है, उससे शरीर-यात्रा चली जा रही है। माध्यमिका का निवासी हूँ।

लाटेश्वर—युवराज ने आपके जो चित्र मोल लिए हैं, उनमें से कितने ही मुझे बहुत रुचिर तथा आकर्षक समझ पड़े हैं, विशेषतया तैल-चित्र से मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ। चित्र क्या है, मानो सोम-देव स्वयं सम्मुख उपस्थित होकर वार्तालाप करना ही चाहता है।

विक्रमार्क देव की यह महती कृपा है कि मेरे साधारण ज्ञान की इतनी प्रशंसा की गई। यदि देव-सरीखे गुणग्राही संसार में प्रस्तुत न हों, तो गुणी समझे जानेवालों की मान-वृद्धि से देश में उन्नतियों के मार्ग कैसे प्रशस्त हों ? मैं इस औदार्य के लिये अनेका-नेक हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ।

महामंत्री—मैंने भी आपके चित्रों को ध्यान-पूर्वक देखा है। ऐसा कहे विना नहीं रहा जाता कि वे हर प्रकार से श्लाघ्य तथा सजीव हैं।

महासेनापति—फिर आश्चर्य यह है कि चित्रकारी तथा समर-कौशल-से अनमिल विषयों पर आपने अभूतपूर्व योग्यता प्राप्त की है।

विक्रमार्क—आर्य ! आप सज्जनों की गुण-ग्राहकता भी अपूर्व है। यदि यह राजसभा भद्दी कृतियों के भी वास्तविक गुण खोज निका-लने में परम पटु न होती, तो ऐसे उदार वचन मुझे क्यों सुनने को मिलते ?

लाटेश्वर—वीरवर ! आज इसलिये मैंने आपको विशेष कष्ट दिया है कि चित्रों से तो हम सदा आनंद उठावेंगे ही, भला क्या भवदीय युद्ध-विद्या से भी इस राज्य को कोई लाभ संभव है ?

विक्रमार्क—मैं तो अपने सामरिक ज्ञान को अभी उच्च समझता नहीं, किंतु जितना कुछ कर सकता हूँ, वह राजसेवा में अर्पित होगा ही। इतनी बात अवश्य है कि मैं कुछ ही मास के लिये इस नगर में उपस्थित हुआ हूँ, तथा अपनी चित्रकला पर विशेष ध्यान देना चाहता हूँ। तथापि नैमित्तिक रूप में जो सामरिक सेवा ली जाने को हो, उसके लिये देव के समान गुणग्राही से नाहीं क्यों करने लगा? प्रत्येक दशा में राजाज्ञा का पालन बाध्य है ही।

महामंत्री—उच्च समाज में उचित वार्तालाप का भी ज्ञान आपको कम नहीं है। क्या कभी राजसेवा भी कर चुके हैं?

विक्रमार्क—ऐसो बात नहीं है, आर्य! किंतु राजदरबारों में आने-जाने के अवसर चित्रकारी के नाते कभी-कभी मिल ही चुके हैं।

लाटेश्वर—यदि मैं यह चाहूँ कि मेरी सेना का निरीक्षण करके आप कृपया उसके गुण-दोष मुझे बतलाएँ, तथा उसकी उन्नति में भी योग दें, तो क्या ऐसा संभव होगा?

विक्रमार्क—मैं तो समझता हूँ कि जहाँ आर्य महासेनापति के-से समर-शास्त्र के अगाध पंडित प्रस्तुत हों, वहाँ मेरा ज्ञान किस गणना में आ सकता है? मेरी अभी अवस्था ही क्या है, तथा अनुभव भी कितना है?

लाटेश्वर—यह प्रस्ताव मैंने जो आपसे किया है, वह इन्हीं की सम्मति से हो रहा है। अभी तक हमारे यहाँ गुर्जर-समर-शास्त्र का ज्ञान चलता है, किंतु आपके पाठ्यक्रम को देखकर स्वयं इन्हें बहुत नवीनता समझ पड़ रही है। प्रत्येक पुरुष सब कुछ नहीं जाना करता; जितना कुछ हम लोगों को ज्ञात है, उसका लाभ तो हमारी सेना को मिल ही रहा है; रही मौलिकता, वह सदैव उपादेय मानी जाती है।

महासेनापति—अध्यापक महोदय! आप अपनी शुद्ध सम्मति

प्रकट करने में मेरे सामरिक ज्ञान की निंदा न समझें। स्वयं मेरी ही इच्छा है कि आप राजकीय सेनाओं का निरीक्षण कर जो-जो परिवर्तन योग्य समझें, वे निर्भयता पूर्वक देव के सम्मुख निवेदन करें। मैं भी कभी-कभी आपके साथ रहकर मत-परिवर्तन किया करूँगा। आशा है, इस बात से उभय पक्षों को लाभ होगा।

विक्रमार्क—बड़ी कृपा। सेवार्थ प्रस्तुति में मुझे अणु-मात्र संकोच नहीं है, किंतु होगा वह नैमित्तिक रूप में ही।

महासेनापति—नित्य रूप में आप राजसेना क्यों नहीं चाहते?

विक्रमार्क—अभी मेरी अवस्था छोटी है; इच्छा यह है कि देश-भर में यत्र-तत्र परिभ्रमण करके चित्रकला तथा समर-विद्या, दोनो को अभी और उन्नत करूँ। अपने वर्तमान ज्ञान-भर से अभी मुझे सम्यक् प्रकार से संतोष नहीं है।

महासेनापति—वीरवर! आपके विचारों को मैं बहुत योग्य समझता हूँ। आशा है, सारा संकोच छोड़कर अब आप देव के आज्ञा-पालन में प्रवृत्त होंगे।

विक्रमार्क—जो आज्ञा; मुझे कोई आपत्ति थोड़े ही है।

इस प्रकार निवेदन के पीछे विक्रमार्कजी प्रणाम करके अपने स्थान को पधारे, और यदा-कदा सेना का निरीक्षण करने लगे। इस कार्य में महासेनापति से मंत्र करके आपने मित्र वीरवर को भी साथ रखना योग्य समझा। ऐसा होता था कि कभी-कभी दोनो व्यक्ति साथ जाते थे, और उनमें से एक-ही-एक अलग पड़कर भी काम करता था। सेना की त्रुटियों को दूर करने में इन लोगों ने प्रचुर परिश्रम किया। अनंतर महासेनापति की सम्मति से विक्रमार्क महोदय शक-पति भूमक के राज्य में भेजे जाकर उनकी आज्ञा के अनुसार शक-सेना का भी निरीक्षण करके उस समर-शास्त्र का भी ज्ञान बहुत कुछ प्राप्त करने में समर्थ हुए। जब शक-देश से पलटकर लाट

में फिर पहुँचे, तब महामंत्री तथा महासेनापति को साथ लेकर नरेश ने इनसे एक बार फिर विचार-विनिमय किया।

लाटेश—कहिए, विक्रमार्कजी! अब तक आपने हमारी सेना का निरीक्षण पूर्णतया कर लिया होगा, तथा शक-दल को देखकर तुलनात्मक ज्ञान भी अवश्य ही प्राप्त किया होगा।

विक्रमार्क—देव की कृपा से ऐसा करने के अवसर तो मुझे अच्छे मिल चुके हैं, तथा आर्य महासेनापति से मंत्र कर ही चुका हूँ।

महामंत्री—तब अपने विचारों का निष्कर्ष देव के सम्मुख निःसंकोच भाव से प्रकट कर सकते हैं। हम लोग उसे जानने के लिये उत्सुक हैं।

विक्रमार्क—बड़ी कृपा हुई, आर्य! मैंने तथा मेरे मित्र वीरवर ने राजसेना का निरीक्षण ध्यान-पूर्वक किया है। उसका वर्तमान रूप हम लोगों की समझ में योग्यता-पूर्वक संचालित है। यदि कोई निरीक्षक त्रुटियों का कथन निरीक्ष्य वस्तु के संबंध में करे ही नहीं, तो यह भी समझा जा सकता है कि उसने अपने कर्तव्यों पर समुचित ध्यान नहीं दिया। तो भी जो न्यूनाधिक दोष मुझे समझ पड़े हैं, वे मैं आर्य महासेनापति से निवेदित कर चुका हूँ, तथा उन विषयों पर हम दोनो का मतैक्य समुचित विचार-विनिमय के पीछे हो चुका है। केवल एक बात रह जाती है, जिसे मैं महादोष मानता हूँ, किंतु जिसका देव के सम्मुख निवेदन करना मैं अपनी योग्यता के बाहर अथच धृष्टता-पूर्ण समझता हूँ। मुझे क्या अधिकार है कि लाटेश्वर की किसी नीति के संबंध में मत-प्रकाशन करूँ, विशेषतया उस दशा में, जब कि मैं अभी एक बालक हूँ, तथा इस राज्य से मेरा कोई दृढ़ संबंध न तो है, न मैं स्थापित कर सकता हूँ, क्योंकि इसके लिये मेरे पास अभी समयाभाव है।

महासेनापति—मुझसे तो आप अपने सारे विचार कह ही

चुके हैं, और मेरा आपसे न्यूनाधिक मतैक्य भी है, तब देव के सम्मुख कथन करने में क्यों संकोच करते हैं? इस राज्य की अंतरंग विचार-सभाओं में पूर्ण निर्भयता तथा दृढ़ता के साथ प्रत्येक मंत्रदाता को स्वमत-प्रकाशन का न केवल अधिकार रहता है, वरन् ऐसा बाध्य भी समझा जाता है।

महामंत्री—मैं भी इस कथन का समर्थन करता हूँ।

लाटेश्वर—वीरवर! आप सारा संकोच छोड़कर निर्भयता-पूर्वक अपने कथन कीजिए। यथासाध्य मैं उन्हें मानने का भी प्रयत्न करूँगा, क्योंकि वे न केवल आपके विचार हैं, वरन् आर्य महामंत्री तथा महा सेनापति द्वारा भी सत्कारित हो चुके हैं।

विक्रमार्क—तब क्षमा-याचना के अनंतर बिनती करता हूँ देव! भवदीय सेना इस राज्य की अंतरराष्ट्रीय नीति से कुछ व्यथित है। वर्तमान गुजरात में दो प्रधान राष्ट्र हैं, अर्थात् लाट और उत्तरी गुजरात में देव ताम्रलिप्तार्षिका राज्य। यदि ये दोनो आपसी ईर्ष्या-द्वेष तजकर शुद्ध निष्कपट मैत्री में आबद्ध रहें, तो इतर गुर्जर-राज्य सहज ही में इनसे मिलकर चलें, जिससे समग्र गुर्जर-शक्ति एक होकर प्रचंड बल उत्पन्न कर सके। ऐसी दशा में भारत जीतने के उत्सुक विदेशी क्रूर तथा अन्यायी शकों से दबने की कोई आवश्यकता न रहे, क्योंकि यद्यपि सारी शक-शक्तियों के मिल जाने से उनका बल महान् हो सकता है, तथापि हैं वे भी कई खंडों में विभक्त, और एक सबल राष्ट्र का सामना नहीं कर सकतीं।

लाटेश—इस विषय पर सैन्य बल में शैथिल्य होने का क्या कारण है?

विक्रमार्क—बात यह है, देव! कि शक सैनिक अपने लाट देश में प्रायः आया-जाया करते हैं, और वे यहाँ के सैनिकों को नितांत तुच्छ मानकर वचनों तथा कृत्यों से इनका भाँति-भाँति से अपमान करते

हैं, जिन बातों को विवशता के कारण इन योद्धाओं को सहना पड़ता है। इस बात से ये हतोत्साह होकर आत्मनिर्भरता खोते जाते हैं। स्वराष्ट्र-सैनिक बल की हेयता उनके नेत्रों के सम्मुख इतनी नाचा करती है कि शक-जाति को ही अपने से उच्चतर श्रेणी के मनुष्य समझने में बाध्य-से हो रहे हैं, जिससे राष्ट्रीय गौरव में क्षति आती है। इन्हीं दिनों शक क्षत्रप भूमक एक बार इस नगरी में जब आया था, तब देव तो भेंट करने उसके पटभवन को पधारे, किंतु वह एक बार भी भवदीय प्रासाद में न आया। वहाँ भी उसने देव के महत्त्व का अपने आचरणों से कुछ अपमान-सा किया, ऐसा सैनिकों तक को भान हुआ, मानो लाट राज्य उसका दबायल-सा हो। देव का स्वभाव परमोच्च है। ऐसी क्षुद्र बातों से भवदीय चित्त पर संभवतः प्रभाव नहीं पड़ता, किंतु सैनिकों को ये बहुत बुरी लगती हैं। फिर शकों से मैत्री एक प्रकार स्वदेश-शत्रुता है। ये क्रूर विदेशी धीरे-धीरे अधिकाधिक भारत पर न केवल आतंक जमाते जा रहे हैं, वरन् इनके राज्य का प्रसर भी हो रहा है। उत्तरी गुर्जर राष्ट्र-संबंध के कारण मालव-संघ का मित्र है। यदि उससे शुद्ध मैत्री स्थापित हो सके, तो मालव-वीरों का भी साहाय्य अपने को समता के रूप में प्राप्त हो जाय, जिससे अपनी शक्ति और भी प्रकांड हो उठे। जब तक सेना में स्वबल की महत्ता तथा स्वदेश-प्रेम के भाव आत्मनिर्भरता के साथ सबल नहीं होते, तब तक उसकी सामरिक शक्ति नितांत हीन रहेगी। वह समझती है कि हम लोग क्या देश में शक-क्रूरता तथा अन्याय फैलाने के लिये जान देते फिरते हैं? बिना परम दृढ़ स्वदेश-प्रेम तथा न्याय-पूर्ण पक्ष पर विश्वास हुए कोई सेना सबल नहीं कही जा सकती। देखा जाय देव! कि ऐसे भावों के भारी मान से मालवों की राजभक्ति कैसी श्रेष्ठ है? 'मालवानां जयः' के मूलमंत्र से प्रत्येक मालव-वीर कट मरने को उतावला

हो जाता है। यहाँ अपनी सेना के उत्साहार्थ ऐसा कोई मंत्र उपस्थित नहीं, वरन् जितनी बातें हैं, वे उलटी शौर्य-विनाशिनी हैं। मैं लाटीय सेना के बल-वर्द्धन के प्रतिकूल ऐसी ही कठिनाइयों को देखता हूँ, देव! अपने कटु विचारों को इस स्पष्टता के साथ प्रकट करने की एक बार फिर क्षमा माँगता हूँ।

लाटेश्वर—नहीं विक्रमार्कजी! क्षमा माँगने की कोई आवश्यकता नहीं। आपने तो अपने भाव हमारे बहुत हठ करने पर प्रकट किए हैं। उनमें बहुत कुछ तथ्य भी है। जब हमारे महासेनापति का भी ऐसा ही भाव है, तब बात विचारणीय है ही। (महामंत्री से) कहिए आर्य! आपका इस विषय पर क्या विचार है? क्या कभी पर-राष्ट्र-सचिव से भी बात होने का अवसर आया था?

महामंत्री—देव! विक्रमार्कजी महोदय शिवि क्षत्रिय होकर भी गुर्जर-शक्ति-वृद्धि के लिये ऐसे उत्सुक रहते हैं, मानो स्वयं गुर्जर ही हों। इतने दिनों से हमारी सेना में काम करते हैं। साधारण सैनिकों, चमूपों, सेनापतियों आदि से पूर्ण मित्रता के साथ मिल-मिलकर सभी के प्रेम-भाजन हो रहे हैं, तथा सारे मंत्रिमंडल पर भी स्वविचार व्यक्त कर चुके हैं। सैनिक उन्नति के प्रयत्नों में इनका समय भी बहुतेरा लगता रहता है, तथापि हम लोगों के बहुत हठ करने पर भी कोई सेवा-शुल्क नहीं स्वीकार कर रहे हैं। सारा मंत्रिमंडल इनके निःस्वार्थ भाव-गर्भित परिश्रम-प्राचुर्य, गुर्जर-प्रेम, निरालस प्रकृति तथा परोपकार-पूर्ण कृत्यों से बहुत प्रभावित है। हम लोग इनके निष्कर्षों को अत्यंत पूज्य दृष्टि से देखते हैं। भूमक-वाली अहंकार-पूर्ण कृतियों से सारे मंत्रिमंडल का हृदय विदीर्ण हो रहा था, किंतु इस विषय पर देव के मौन से किसी ने कुछ प्रकट न किया। क्या हमारा राष्ट्र कोई वस्तु ही नहीं कि अपनी ही लाट राजधानी में हम भूमक-से क्षुद्रों का ऐसा अहंभाव सहें, तथा

इन क्रूर वन्य जंतुओं की अपमान-गर्भित चेष्टाओं, कथनों आदि को हृदय का रुधिर जला-जलाकर सह्य मानते रहें ? मैं तो देव ! इनके विचारों से पूर्णतया सहमत हूँ । मुझी पर क्या, सारी राष्ट्रीय जनता शकों पर महाक्रोधित है, किंतु देव की सहनशीलता से हम लोग विवश हो रहे हैं ; कहें, तो क्या कहें ?

लाटेश्वर—जब सबके ऐसे भाव थे, तब कहना था । (महा-सेनापति से) क्यों, आर्य ! अपनी सैनिक तत्परता पर आपके क्या विचार हैं ?

महासेनापति—क्या बिनती करूँ ? देव ! सेना अपनी जैसी महती है, और उस पर जैसा राष्ट्रीय व्यय है, उसके अनुसार उसकी सामर्थ्य मानो कुछ भी नहीं है । निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकता कि यदि अपना राष्ट्र कोई अनुचित पक्ष लेकर किसी युद्ध में प्रवृत्त हो, तो समर-भूमि में अपनी सेना कहाँ तक विश्वसनीय होगी ?

लाटेश्वर—तब तो ऐसा दिखता है कि विक्रमार्क ने कोई नवीन बात नहीं कही; वरन् सारे मंत्रिमंडल का चिरकाल से यही मत था ।

महामंत्री—ऐसा नहीं है, देव ! हम सबके चित्त शकों के असह्य अत्याचारों से बुझे हुए थे, जनता त्राहि-त्राहि करती थी, सेना मारे क्रोध के ओठ काटती और दाँत पीसती थी, किंतु किसी का कोई वश नहीं चलता था । जब दो-चार बार ऐसे मामले देव के सम्मुख नम्रता-पूर्वक, किंतु दृढ़ता के साथ उपस्थित किए गए, तब यही आज्ञा हुई कि शकों से मित्र-भाव के कारण किसी प्रकार बिना शत्रुता बढ़ाए हुए ऐसे उपद्रव शांत रखने के प्रयत्न हों । इन दिनों विक्रमार्कजी ने जब उमंग के साथ अपने देश-प्रेम-गर्भित जातीय विचार हम लोगों के सम्मुख उप-स्थित किए, तब इनके थोड़े ही प्रयत्नों से इनसे हम सबों का

मतैक्य हो गया। औरों की कौन कहे, स्वयं युवराज महोदय की भी इनसे मित्रता है। इनका स्वभाव ऐसा महान् है कि निम्न-से-निम्न और उच्च-से-उच्च व्यक्तियों से सदैव एक रस-पूर्ण ललक के साथ मिलते हैं। कभी किसी से अपने लिये कुछ चाहना तो दूर रहा, यदि किसी रूप में कोई कुछ देना चाहे, तो भी स्वीकार न करेंगे। अपनी राजधानी में सहस्रों लोग इनकी न्यूनाधिक कृपाओं से बाधित हैं, किंतु स्वयं इन पर किसी के अनुग्रह का भार कदाचित् नहीं है। चित्रशाला से इन्हें आय अवश्य विशेष है, किंतु साधारण जनता पर इनका व्यय इतना है कि बचाना तो दूर रहा, कुछ अपने ही पास से उठा अवश्य देते होंगे। इनके कला-प्रेम, परोपकार, गुर्जर-प्रेम आदि शतमुख से सराह-नीय और पूज्य हैं। ऐसे महानुभाव के मत का प्रभाव हम लोगों पर क्योंकर न पड़ता, विशेषतया इस कारण से कि हम सबों के चित्त में भी वैसे ही विचार भरे हुए थे। विक्रमार्कजी सच-मुच देश-प्रेम तथा औदार्य की मूर्ति हैं। इनका-सा गुणी भी खोज निकालना असंभवप्राय है।

लाटेश्वर -- विक्रमार्कजी महोदय! मैं आपसे अपनी भी पूर्ण सहानुभूति प्रकट करता हूँ। जब मेरी जनता के साथ आपका ऐसा सद्व्यवहार है, तब उसके द्वारा मैं भी आपका पूर्णतया आभारी हूँ। ऐसे महानुभाव की सम्मति न मानने का कलंक मैं अपने ऊपर स्वप्न में भी न लगने दूँगा। कृपया यह भी बतलाइए कि उत्तरी गुर्जर-राष्ट्र तथा मालव-संघ के शुद्ध भाव जानने के अवसर भी क्या आपको कभी मिले थे?

विक्रमार्क—मैं देव के कृपा-पूर्ण प्रोत्साहन तथा आर्य महामंत्री महोदय के अतिशयोक्ति-गर्भित वचनों से बहुत ही आभारी हूँ। देव! उन दोनो राष्ट्रों में भी मेरा जाना हो चुका है, क्योंकि

अनुभव-प्राप्ति के विचार से मैंने देशांतरों में भ्रमण बहुत किया है। यदि देव उपर्युक्त अंतरराष्ट्रीय विचारों को पसंद करने की कृपा कर सकें, और इस कार्य में सहयोग देनेवाले किसी अन्य व्यक्ति का अभाव हो, तो इसके फलीभूत करने का भार मैं अपने ऊपर बिना किसी निजू लाभ के ले सकता हूँ। मेरा विचार भारतीय राष्ट्र-समुदाय को सबल करने का है, जिससे क्रूर शकों का प्राधान्य यहाँ न होने पाए। इस महाभाव की सफलता ही मेरा पुरस्कार होगा।

लाटेश्वर—(महामंत्री से) समझ पड़ता है, आर्य ! कि विक्रमार्कजी के कथनों की स्वीकृति के अर्थ अब मंत्रिमंडल से भी विचार-विनिमय करने की आवश्यकता नहीं रह गई है, क्योंकि इस पर सबका मतैक्य-सा दिखता है। फिर भी इतना सोचना रह जाता है कि दोनो, गुर्जर-राष्ट्रों का मेल यदि मालव-संघ से हो जाय, तो क्या हम लोग शक-शक्ति से अभय हो सकेंगे ?

महामंत्री—मेरा तो ऐसा ही विचार है, देव !

महासेनापति—और मेरा भी।

लाटेश्वर—तब, विक्रमार्कजी ! हम आपकी सम्मति कार्य-रूप में परिणत करने को प्रस्तुत हैं। आप कृपया इसके लिये प्रयत्न कीजिए।

विक्रमार्क—देव ! मैं इस आज्ञा से बहुत ही बाधित हुआ। निवेदन यह है कि उन दोनो राष्ट्रों से भी मैं ऐसी ही आज्ञा प्राप्त कर सकूँगा, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं यहीं प्रस्तुत रहूँगा, और वीरेश्वरजी के द्वारा जो मेरा सामरिक शिक्षालय चल रहा है, वह भी इसी भाँति चलता रहेगा। मैं अपने दो विश्वस-नीय, चतुर मित्रों को प्रेषित करके उन दोनो राष्ट्रों के नेताओं को, जिनसे मेरी भी न्यूनाधिक मित्रता है, पत्र लिखकर युक्ति-पूर्वक उनका उत्तर मँगा लूँगा, तथा आशा है कि वे स्वीकृति-

सूचक होंगे। तब नियमानुकूल संधि हो जायगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

लाटेश्वर—बड़ी कृपा होगी। तो भी मेरी इच्छा है कि इतनी भारी राजसेवा का कोई पुरस्कार आप अवश्य स्वीकार कर लीजिएगा।

विक्रमार्क—मैंने कोई प्रण तो पुरस्कार के प्रतिकूल किया नहीं है, तथापि मेरी भावना ऐसे उच्च प्रयत्नों में स्वकार्य-साधन के प्रतिकूल रहती है, क्योंकि इससे श्रोताओं के द्वारा विचार-ग्रहण में संकोच का भय रहता है। यदि किसी प्रकार भारतीय राजमंडल शत्रु-दर्प से निवृत्त हो सके, तो यही क्या कम पुरस्कार है?

लाटेश्वर—आपके विचार परमोच्च हैं। पुरस्कार का प्रश्न आगे-पीछे देखा जायगा। अभी आप अपने मित्रों के मार्ग-व्ययार्थ धन राजकोष से ले लीजिएगा। कार्य-संपादन शीघ्र होना चाहिए।

विक्रमार्क—जो आज्ञा।

अनंतर यह विचार-सभा, भंग की गई, और विक्रमार्क महोदय अपने कार्य में लगे।

(ब) रूपरेखा

युवराज द्वारा चित्रशाला की भारी प्रशंसा सुनकर राजकुमारी रूपरेखा भी अपनी अंतरंगा सखी के साथ एक दिन वहाँ उपस्थित हो अनेकानेक बढ़िया चित्र देखकर बहुत हर्षित हुई। अनंतर कई चित्र मोल लेकर विक्रमार्कजी से संलाप भी करने लगीं—

रूपरेखा—चित्रकार महोदय! मैंने आपकी सज्जनता, परमोच्च आचरण, चित्रकला-संबंधी प्रवीणता तथा सामरिक ज्ञान की महती प्रशंसा सुनी है। यदि यथारुचि बैठकें लेकर मेरा भी

वैसा ही तैल, चित्र बना दीजिए, जैसा युवराज का बनाया है, तो बड़ी कृपा हो। आशा है, आपको कोई विशेष कष्ट न होगा।

विक्रमार्क—राजकुमारीजी ! आपके दर्शन पाकर मैं बहुत ही कृतज्ञ हुआ हूँ। यदि कोई प्रश्न पूछूँ या विचार प्रकट करूँ, तो आशा है, आप तथा सखीजी उसके कोई उचितानुचित अर्थ न लगाएँगी। मैं एक कलाकार हूँ, तथा सौंदर्यावलोकन अथच उसकी प्रशंसा मेरा व्यापार ही है। सौंदर्य-रचना मैं न केवल चित्रों द्वारा करता हूँ, वरन् ईश्वरीय सृष्टि में भी उसके स्थिरीकरण का प्रयत्न मेरा धर्म है। क्या ऐसी आज्ञा हो सकती है कि बिना संदेह या संकोच उत्पन्न किए हुए मैं छल-हीन वार्ता कर सकूँ ?

सखी—चित्रकार महोदय ! आपका प्रश्न कुछ उद्विग्नता-जनक है ही, क्योंकि हम लोगों का परिचय अभी आपसे प्रायः नहीं के बराबर है। फिर भी आपके उच्चातिउच्च आचरण की सारे नगर में धूम है, अतएव यदि शुद्ध कलाविद् होने के नाते से आप हमारी राजकुमारी के विषय में सौंदर्यादि के संबंध में कुछ कहें-सुनेंगे, तो हम लोगों को आपत्ति न होगी। क्यों न राजकुमारीजी ?

रूपरेखा—यही बात है। आप निःसंकोच भाव से प्रश्न कीजिए।

विक्रमार्क—अच्छा, तो कहता हूँ कि राजकुमारी का-सा अभूतपूर्व जगन्मोहक सौंदर्य मैंने आज तक कहीं देखा नहीं। इसको मैं चित्रपट पर यथावत् अंकित कर सकूँगा, इसमें संदेह है। इनके-से अंग-प्रत्यंग पर ही ध्यान देकर शायद महर्षि वाल्मीकि ने "समः समविभक्तांगः" वाला श्लोकांश लिखा हो; तो भी इनका-सा आकर्षण कदाचित् उनको भी देखने को न मिला हो। अवस्था इनकी अभी केवल १४ वर्ष की हो सकती है। है न ऐसा ही ?

सखी—यही बात है।

विक्रमार्क—मैं जानता हूँ कि गुर्जर-देश में ईश्वर ने सुंदर व्यक्तियों के शरीरों को रंग बहुत बढ़िया प्रदान किया है। फिर भी राजपुत्री-जी का-सा लालिमा-युक्त, स्वर्ण-कांति-विमर्दक रंग मैंने अद्यावधि किसी इतर में नहीं देखा। इसके अतिरिक्त अंग-प्रत्यंगों की सुघराई की उत्तमता जब शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं हो सकती, तब चित्रपट पर मैं कैसे ला सकूँगा, यही ध्यान में नहीं आता। मैं यह जानना चाहता हूँ कि भोजन, व्यायामादि के संबंध में आपका आह्निक नियम कैसा है? मेरी महती इच्छा है कि यह ज्वलंत सौंदर्य अनन्वयालंकार के उदाहरण-रूप में चिरकाल-पर्यंत संसार में स्थापित रहे।

सखी—अभी तक तो कोई विशेष प्रयत्न किया नहीं गया है। क्या कृपया आप इस विषय पर कोई सम्मति प्रदान करेंगे?

विक्रमार्क—मेरी दृढ़ सम्मति यह है कि रूप का स्थिरीकरण उत्तम स्वास्थ्य से ही संभव है, अन्यथा नहीं। अतएव भोजन, व्यायाम, साधना, जीवन-चर्या आदि के संबंध में राजकुमारीजी को स्वस्थ रहने पर भी किसी महाभिषक् की सम्मति पर दृढ़ता-पूर्वक चलना चाहिए, जिसमें यह ईश्वरदत्त महानिधि संसार को चिरकाल-पर्यंत उपलब्ध रहे। मेरी धृष्टता क्षमा कीजिएगा। मैंने जो भवदीय सौंदर्य की इतनी प्रशंसा की है, इसमें न तो कोई चाटुकारिता है, न साहित्यिक प्रेमियों की-सी रचना या प्रीति-भाव का लेश-मात्र संसर्ग। मैं तो एक कलाविद् के नाते संसार में यह महती निधि स्थापित-मात्र रखना चाहता हूँ। सौंदर्य का पूर्ण निरीक्षण अथवा ज्ञान भी चित्रकारों को साधारण व्यक्तियों से बहुत विशेष होता है। इसीलिये मैंने आप दोनो को इस महानिधि की महत्ता का बोध कराया है, जिसमें इसके रक्षण का पूर्ण प्रयत्न हो, तथा जिह्वालौल्यात् अथवा इंद्रिय-

सुखार्थ इस महारत्न का दुरुपयोग न होने पाए। इतना ही वरदान मैं राजकुमारी से माँगता हूँ।

रूपरेखा—चित्रकार महोदय! आपका यह अत्युक्ति-पूर्ण वर्णन है तो बहुत श्रवण-सुखद, किंतु इसके रक्षणार्थ आप मुझ पर तपस्वी जीवन का-सा भार भी डाल रहे हैं।

विक्रमार्क—तपश्चर्या से फल भी तो अमोघ मिलते हैं। आशा है, आप वरदान से नाहीं करके एक शुद्ध कलाकार को निराश न करेंगी।

रूपरेखा—यद्यपि मेरी अवस्था अभी खाने-खेलने की है, तथापि आपकी अभिलाषा पूर्ण करने का दृढ़ वचन देती हूँ।

विक्रमार्क—बड़ी कृपा। यदि ऐसा कर सकिएगा, तो आप ही को संसार-यात्रा का पूर्ण सुख भी मिलेगा। मेरे वचनों को शुद्ध कला मात्र के रूप में लीजिएगा, ऊह्य प्रार्थनादि से संबद्ध नहीं।

रूपरेखा—बड़ी कृपा। अच्छा, अब मेरे चित्र-संबंधी प्रस्ताव का उत्तर तो दे ही दीजिए। मेरी इच्छा उसकी महती है।

विक्रमार्क–यथासाध्य आपको निराश न करूँगा, किंतु अपनी शक्ति पर मुझे पूर्ण विश्वास नहीं है।

सखी—चित्र तो मैंने इसी शाला में एक-से-एक बढ़िया अभी देखे हैं। क्या अब आप वैसे फिर नहीं बना सकते?

विक्रमार्क—अच्छा, मैं आपको पसंद आए हुए दस-बारह चित्रों की समीक्षा आप ही के सम्मुख करता हूँ। (यह कहकर उन दोनों द्वारा पसंद किए हुए कई चित्र लाकर आपने कहा।) अब इनमें से किसे आप उत्कृष्टतम मानती हैं?

सखी—(एक चित्र दिखलाकर) यही क्या बुरा है?

विक्रमार्क—किंतु इसकी नासिका राजकुमारीवाली से निकृष्ट है। (एक अन्य चित्र दिखलाकर) इसके बाहु और गले के

आभूषण तथा रूप उत्कृष्ट होकर भी राजपुत्री के आगे फीके पड़ जाते हैं। किसी की लंक फीकी आती है, तो किसी के उरु। कहीं मस्तक का रूप बराबर नहीं बैठता, तो कहीं माँग और वेणी का सौंदर्य। प्रत्येक चित्र में सामूहिक आकर्षण की न्यूनता तो प्रत्यक्ष ही है।

रूपरेखा—क्या ये दोष मिटाकर चित्र बनाए नहीं जा सकते ?

विक्रमार्क—हो ऐसा अवश्य सकता है, किंतु जो सामूहिक प्रभाव और तेज देवीजी के मस्तक पर प्रस्तुत रहकर अपूर्व शोभा प्रदान करते हैं, उनको चित्रपट पर उतार देनेवाली तूलिका की शक्ति मुझमें मिलनी सुगम नहीं है। फिर सौंदर्य ऐसा सुहावना है कि जितने बार उसे देखिए, उतने ही बार चित्रकारी से हटकर चित्त वास्तविक रूप ही पर जमा रहता है। विषयांतर पर विशेष ध्यान जाने से चित्र की उत्तमता में भेद पड़ सकता है।

रूपरेखा—यह तो कथन-मात्र समझ पड़ता है, चित्रकार महोदय ! आप चित्रकार होने के अतिरिक्त कवि भी दिखाई देते हैं। अरे, प्रयत्न तो कीजिए।

विक्रमार्क—अच्छा, दो दिन विचारार्थ प्रदान हों। अनंतर बिनती करूँगा।

रूपरेखा—जैसी इच्छा।

इस प्रकार संलाप के पीछे राजपुत्री राजप्रासाद को पधारीं। वहाँ एकांत में सखी से उनकी यों वार्ता हुई—

रूपरेखा—प्यारी सखीजी, इस चित्रकार के रूप और गुण मेरे चित्त में ऐसे गड़ रहे हैं कि विवश हुई जा रही हूँ। कहो, अब क्या करूँ ?

सखी—रूप, शील और गुण उसके सब अद्वितीय हैं, किंतु कोई राजकुमार तो है नहीं; पिताजी कब के माने जाते हैं ?

रूपरेखा — वह मानेगा या नहीं, यह भी प्रश्न है। समझ तो ऐसा पड़ता है कि कला की आड़ में मुझ पर अपनी पूर्ण मानसिक अनुरक्ति प्रकट कर रहा था।

सखी — इसमें तो तिल-मात्र संदेह नहीं, किंतु आचरण उसका इतना उच्च है कि राजस्वीकृति के बिना अनुचितप्रकारेण विवाहादि न करेगा, न आप ही ऐसा चाहेंगी। इधर पितृ स्वीकृति एक अनहोनी-सी घटना होगी।

रूपरेखा—मैं तो समझती हूँ कि वह माताजी के द्वारा प्राप्त हो सकेगी। रूप और गुण, दोनो में ऐसा मनुष्य कहाँ मिला जाता है? केवल राज्य का अभाव सब कुछ नहीं है। उसके पास भारी उदारता-मात्र के कारण धनाधिक्य नहीं दिखता, नहीं तो प्राप्ति में कमी न होगी।

सखी—क्या आप अपनी ओर से भी प्रेम-भिक्षा माँगना चाहती हैं?

रूपरेखा—इसमें अब अनौचित्य क्या रह गया है? अपना अमोघ प्रेम या कम-से-कम आदर प्रकट करके वह एक प्रकार से प्रीति की भिक्षा माँग ही चुका है। इधर मैंने जिस क्षण से उसे देखा था, उसी क्षण से विवश हो चुकी थी।

सखी—इस बात में कुछ शीघ्रता की मात्रा समझ पड़ेगी।

रूपरेखा—शीघ्रता तो उसी ने कर दी। मैं स्वयं चित्त से प्रार्थी हो चुकी थी कि उसने अपनी अभिलाषा शब्दों तक में प्रकट ही कर दी। मुझे दिखता है कि अब अधिक मान करने से कहीं वह चला ही न जाय, और मैं हाथ मलती हुई रह जाऊँ। परदेसी तो ठहरा। उसका भाव पूर्णतया छल-हीन तथा सात्विक है।

सखी—तब फिर गुप्त रूप से उसका आशय लेकर प्रयत्न किया जाय, यह वचन ले लिया जाय कि बात कहीं प्रकट न हो।

रूपरेखा—यही उचित है।

अनंतर तीसरे दिन उसी सखी को साथ लेकर राजकुमारीजी एकाकी समय में चित्रशाला को पधारीं, और आलाप होने लगा।

सखी—कहिए चित्रकार महोदय, आपने चित्र बनाने के विषय में विचार दृढ़ कर लिया या नहीं ?

विक्रमार्क—सखीजी ! मुझे इस विषय में अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं जमता। यदि आज्ञा हो, तो खुलकर बात कह दूँ, यद्यपि इस प्रकार के कथनोपकथन का स्वल्प परिचय के कारण मुझे कोई अधिकार नहीं है।

रूपरेखा—आपके आचरणों की भारी उत्कृष्टता से मैं सभी प्रकार के शुद्ध कथन सह्य मानती हूँ। आप निर्भयता-पूर्वक, जो चित्त में आवे, बराबर कहिए। मैं बुरा न मानूँगी।

विक्रमार्क—तब बिनती करता हूँ कि मैं देवीजी के अपूर्व सौंदर्य के सम्मुख अपना चित्त सँभाल नहीं पाता। ऐसी दशा में आचरणों के पतन का भय उपस्थित हो जाता है। लाट-नगर में मेरा जो कार्य था, वह समाप्तप्राय हो चुका है। अतएव अब मैं यहाँ से अति शीघ्र प्रस्थान का प्रबंध करने लगा हूँ, जिसमें कोई मानसिक अनौचित्य भी न होने पाए। मुझे चित्र बनाने के प्रयत्न में इस रूप-राशि को बार-बार ध्यान-पूर्वक निहारना पड़ेगा, जिससे सात्त्विक भावों का बल शरीर में हो जाना संभव है। चित्र मुझसे बनेगा नहीं। यह भी प्रार्थना करूँगा कि देवीजी चित्रशाला में पधारने का कष्ट कृपा करके न उठाया करें। अपराधों के लिये क्षमा माँगकर ऐसी धृष्टता करता हूँ। बिनती यह भी है कि मेरा शुद्ध भाव समझकर क्रोध न कीजिएगा।

सखी—क्या आपने कभी मुकुर में आत्मीय कांति निहारने का कष्ट नहीं उठाया ? यदि मेरी सखी की साधारणी शोभा आपको ऐसी प्रभावोत्पादिका दिखती है, तो स्वयं अपना विशाल रूप

परखने में आपकी कलात्मिका बुद्धि किधर प्रस्थान कर जाती है ? क्या कलात्मक ज्ञान ने आपको इतना न बतलाया कि जितना प्रेम एक ओर से होता है, उतना ही प्रायः दूसरे ओर भी दिखलाने लगता है ? क्या दो व्यथित हृदयों को जीवन-पर्यंत विमर्दित करना ही आपको सर्वश्रेष्ठ सांसारिक आचरण तथा न्याय दिखता है ?

विक्रमार्क—मैं क्या सुन रहा हूँ ? राजकुमारीजी को किसी अज्ञात-कुल-शील विदेशी व्यक्ति को अपना हृदय एकाएकी देने का क्या अधिकार है ? कहाँ भारी साम्राज्य की राजकन्या और कहाँ एक साधारण चित्रकार-मात्र ? मेरे शील-गुण, विद्या, सांसारिक स्थिति आदि आपने क्या जानीं ? मैंने भी आपकी मानस-उन्नति को क्या देखा ? एक दूसरे के लिये हम दोनो पूर्णतया अज्ञात हैं। ऐसों का वैवाहिक संबंध एकाएकी कहाँ संभव है ? यह सत्य है कि इनको निहारकर मेरा चित्त स्ववश नहीं रहता है, किंतु चित्त मेरे शरीर के कृत्यों का स्वामी नहीं। मैं कठिन प्रयत्न द्वारा उसे स्ववश करूँगा, किंतु बिना गुणादि जाने केवल रूप-संबंधी मोह से अपने को वैवाहिक बंधन में किसी से आबद्ध नहीं कर सकता। उधर देवीजी एक बालिका-मात्र हैं। उचितानुचित का सम्यक् बोध अभी इनको नहीं है। महर्षि बोधायन का कथन है—"न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।" इसका प्रयोजन यह है कि बालवय में पिता, युवावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र स्त्री के अभिभावक रहते हैं, तथा वह स्वतंत्र कभी नहीं होती।

रूपरेखा—यह कथन एक पुरुष ऋषि का है, न कि घोषा, मैत्रेयी, गार्गी आदि का। क्या उनके कथनों में भी आप ऐसे पोच विचार दिखलमा सकते हैं ?

विक्रमार्क—अच्छा, इस शास्त्रीय तर्क से क्या प्रयोजन है ? अभी तो आपकी अवस्था पिता की अभिभावकता के बाहर जाने की नहीं।

सखी—आप कैसे जानते हैं कि हमारी सखी द्वारा विना पिता की आज्ञा के आपसे ऐसा प्रस्ताव किया जायगा? हमारी सखी व्यक्ति-हीन राज्य से राज्य-हीन व्यक्ति को स्वीकार्य मानती हैं। आप स्वयं प्रीति-प्रदर्शन द्वारा एक प्रकार से प्रेम-प्रार्थना करके अब पीछे हट रहे हैं।

विक्रमार्क—सखीजी! मैंने तो राजपुत्री के जाज्वल्यमान सौंदर्य की उचित स न्यून प्रशंसा-मात्र की। अपने चित्त की विवशता भी चित्र न बना सकने के संबंध में बतलाई। इससे इतर याचना क्या की?

सखी—इसमें प्रेम-प्रस्ताव व्यंजित था।

विक्रमार्क पहले तो यह भाव मेरे चित्त में था नहीं, किंतु अब समझ पड़ता है कि एक प्रकार से ऐसा कहा अवश्य जा सकता है; फिर भी मैं चाहता हूँ कि देवीजी मेरे गुण-दोष समझ लें, और मैं इनके। इसके पीछेयदि इनके स्वजन भी मानें, तो मुझे विवाह में कोई आपत्ति न होगी। इतना समझ लिया जाय कि मैं एक साधारण व्यक्ति-मात्र हूँ; विशेष संपत्तिवान् नहीं। यदि केवल गुणों से रीझ संभव हो, तो मेरे आचरण पर विचार हो, तथा मुझे भी गुण-प्रदर्शन हों। मैं आपसे कोई धन-धान्य नहीं चाहता। अपने कुटुंब को सम्यक्प्रकारेण सुख-पूर्वक रखने-भर की संपदा मेरे पास है। मैं तो एक प्रकार से तपस्वी हूँ। यदि रूप के अतिरिक्त सद्गुण भी देखूँ, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। तथापि जान-समझकर मैंने कोई प्रस्ताव किया न था।

रूपरेखा—आप तो भगने के विचार में हैं, फिर गुण कैसे देखिएगा? मैं मानती हूँ कि आपके विचार परम शुद्ध थे, किंतु मेरा ही चित्त उन कथनों से भी चलायमान हो गया!

विक्रमार्क—मैं अपनी विचार-शून्यता से मूर्खता कर गया। निर्दोषिता

होते हुए भी मेरे-से कथन किसी अनुभव-शून्य बालिका को उद्वेग-कारी हो सकते हैं। अब तो जो हुआ, सो हो ही गया। मैं यहाँ से जाकर सीधा तक्षशिला के विद्यापीठ में प्रविष्ट हो तीन वर्ष-पर्यंत अध्ययन करूँगा। वहीं देवीजी भी यदि चाहें, तो विद्या-लाभ करें। इतने दिनों में यदि कोई अनौचित्य सामने न आया, जैसा कि मैं निश्चितप्राय समझता हूँ, तो देवीजी को अधिकार देता हूँ कि मेरा वरण कर लें। इनकी भारी कृपा से इन्हें इतना और वचन देता हूँ कि यदि यह चाहेंगी, तो मैं नाहीं न कर सकूँगा, किंतु इन्हें विना मेरा कोई दोष देखे भी न वरण करने का अधिकार रहेगा।

रूपरेखा—तीन वर्ष-पर्यंत विद्या-लाभार्थ व्रत-पालन अभी आप आवश्यक समझते हैं क्या ?

विक्रमार्क—अवश्य। यदि अभी आपका प्रस्ताव स्वीकार कर लूँ, तो भी इतने काल अविवाहित रहूँगा। ऐसी दशा में समझ सकती हैं कि मानो प्रस्ताव मैंने अभी से स्वीकार कर लिया। देश-प्रेम तथा औदार्य पर मेरी विशेष श्रद्धा है, तथा स्वार्थांधता से भारी खिद।

रूपरेखा—तब मैं गुप्तरीत्या यह निबंध स्वीकार करती हूँ। यद्यपि आप मुझे स्वतंत्रता का अधिकार देते हैं, तथापि मैं उसे ग्रहण नहीं करती। यदि तीन वर्ष-पर्यंत हम दोनो के आचरणों में कोई विशेष दूषण प्रकट न हो, तो आज ही से हम दोनो का वैवाहिक निबंध गुप्तरीत्या परम दृढ़ तथा अटूट है। मैं भी इतने दिनों विद्या-प्राप्ति और आचरणोन्नति के पाठ सीखने में तन-मन-धन से प्रवृत्त रहूँगी। एक प्रकार से भवदीय निबंध मेरी अमोघ उन्नति करेगा।

विक्रमार्क—जब आप इतनी दृढ़ता-पूर्वक मेरे अदत्त प्रेम का

आदर कर रही हैं, तब मैं भी गुप्तरीत्या बतलाता हूँ कि निर्धन न होकर मैं मालव-संघ का युवराज हूँ। केवल यह बात किसी से प्रकट न होने पाए, यहाँ तक कि आपके माता-पितादि भी न जानें।

रूपरेखा—यह सुनकर मैं और भी प्रसन्न हुई। मेरा एक गुण तो आपने जान ही लिया कि राजपद का गर्व छोड़ केवल गुणों पर रीझ-कर मैंने आपका आदर किया था।

विक्रमार्क—एतदर्थ अनेक धन्यवाद! इतना और कहे देता हूँ कि देश-प्रेम के लिये मैं शरीर ही धारण करता हूँ। यदि आपके या स्वयं मेरे भी कोई स्वजन इस महागुण से घोर प्रतिकूलता करेंगे, तो शत्रुओं के समान मेरे द्वारा विनाश्य तक होंगे।

रूपरेखा—सारे देश के लाभार्थ मुझे किसी बात में आपत्ति नहीं। कृपया इस लोगों का पूरा वार्तालाप गुप्त रखिएगा।

विक्रमार्क—ऐसा तो होगा ही। अच्छा, फिर आज ही से आपका चित्र बनना प्रारंभ होकर आठ-दस दिनों में पूर्ण हो जायगा। अब मुझे परिस्थिति-परिवर्तन के कारण कोई उद्विग्नता न होगी।

रूपरेखा—बड़ी कृपा।

अनंतर विक्रमार्क ने खूब चित्त लगाकर राजकुमारी का एक ऐसा उत्कृष्ट चित्र बनाया, जिसे देखकर वह परम प्रसन्न हुई। उनके प्रासाद में लगाए जाने को इन्होंने कई परमोत्तम चित्र और भी दिए, जिनमें एक स्वयं अपना भी था।

(स) संधि

दस ही पंद्रह दिनों में विक्रमार्क ने उत्तरी गुजरात अथच मालव-संघ से स्वीकार-पत्र मँगवाकर लाटेश्वर के सम्मुख उपस्थित कर दिए, और यथासमय तीनो राज्यों में साम्य के विचारों पर गर्भित

पूर्ण मित्रता की संधियाँ नियमानुसार हो गईं। उनका भाव यह था कि सारी बाह्य शक्तियों के संबंध में ये तीनो राज्य आत्मरक्षा तथा आक्रमणों में मिलकर पूर्ण मित्रता के साथ व्यवहार करेंगे, तथा इन तीनो में से प्रत्येक का शत्रु या मित्र तीनो के लिये ऐसा ही समझा जायगा। अनंतर सेना-संबंधी उन्नति के अपने सारे विचार महासेनापति को बतलाकर जब आप वहाँ से स्वदेशार्थ प्रस्थान करने को उद्यत हुए, तब एक अंतरंग राजसभा में महामंत्री तथा पर-राष्ट्र-सचिव के साथ बैठकर लाटेश्वर ने इनसे इस प्रकार विचार-विनिमय किया—

लाटेश्वर—विक्रमार्कजी! आपने विदेशस्थ शिवि क्षत्रिय होकर भी हमारे लाट-राज्य का भारी उपकार किया है; इसके लिये मैं परम प्रेम-पूर्वक अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ, तथा यह भी चाहता हूँ कि कोई पुरस्कार भी ग्रहण करके मुझे बाधित करें।

पर राष्ट्र-सचिव—आपके प्रयत्नों से हमारा संबंध भारतीय समीप-वर्ती राष्ट्रों से अच्छा हो गया है। आशा है, भविष्य में यह नवीन व्यवहार उत्तमता-पूर्वक चलेगा। आपको राजकीय आज्ञा से पुरस्कार लेने में लज्जा का बोध न करना चाहिए।

महामंत्री—आप इसे पुरस्कार न मानकर पारिश्रमिक समझिए। जिन लोगों के हाथ चित्र बेचते थे, उनसे क्या दाम न लेते थे? हमारा भी तो काम किया है। न्याय-पूर्वक देखा जाय, तो यह राज्य ही आपसे बिना मूल्य कोई काम क्योंकर ले सकता था?

विक्रमार्क—देव की आज्ञा योग्य है, तथा आप महानुभावों के कथन भी यथार्थ हैं। पारिश्रमिक या पुरस्कार कुछ भी लेने में मेरा कोई अपमान न होकर मान ही है। कोई लज्जा नहीं बोध करता, केवल इतना ध्यान आता है कि मैं वास्तव में देश-भक्त हूँ। यदि लाट-राज्य दृढ़ता-पूर्वक देश-रक्षा तथा शक-प्रतीकार में प्रवृत्त रहे,

तो मुझे सेवा तक करने में कोई आपत्ति नहीं, किंतु राज्यों के भाव समय के साथ बदल भी सकते हैं। इधर मेरे जीवन का मुख्य उद्देश्य शकों से देश की रक्षा है। संभव यह भी है कि यही राज्य किसी समय शकों के अनुकूल हो जाय। ऐसी दशा में मुझे इसके प्रतिकूल भी प्रयत्न करना पड़ेगा। इसीलिये स्वामी-सेवक-भाव नैमित्तिक रूप में भी स्थापित करने में मुझे संकोच होता है, क्योंकि किसी भी दशा में स्वामिलवण की लाज रखनी अद्रव्य के लिये आवश्यक है।

महामंत्री—नैमित्तिक सेवा का वेतन लेने से स्वामी-सेवक-भाव सदा को स्थिर नहीं होता। समझ लीजिए कि ऐसा होना उचित है कि न तो आप हमारे अनुचित भार के अधीन हों, न हम लोग आपके। न तो पारिश्रमिक पुरस्कार है, न पुरस्कार से ही सदैव स्वामी-सेवक भाव उपजता है।

विक्रमार्क—तब मैं यही बिनती करूँगा कि मैंने जितना कार्य किया है, उसी के अनुसार योग्य वेतन मिल जाय, उससे विशेष कुछ नहीं। राजकीय दया को भी मैं अग्राह्य नहीं मानता, किंतु राज्य से अपना संबंध अभी इतना दृढ़ नहीं समझता कि अपने में इसकी पात्रता समझूँ।

लाटेश - विक्रमार्कजी! मैं आपकी उच्च भावनाओं से हर्षित हूँ। आपको पारिश्रमिक ही दिया जायगा। यदि उसकी मात्रा आप ही के कथनानुसार रक्खी जाय, तो आप उसे बहुत घटाकर कहेंगे, ऐसा मुझे भय है। अतएव महामंत्रीजी से परामर्श करके उसकी मात्रा स्थिर कर लीजिएगा।

विक्रमार्क—जो आज्ञा देव! धृष्टताओं के लिये क्षमा माँगकर मैं अब इस राज्य से बिदा होता हूँ। बड़े ही प्रेम एवं नम्रता-पूर्वक देव तथा मंत्रिमंडल को प्रणाम करता हूँ। आशा है, भविष्य में भी

इस राज्य से मेरा संबंध प्रेम-पूर्ण रहेगा, तथा मेरे द्वारा इसे सदैव लाभ ही पहुँचेगा।

लाटेश्वर—मैं आपके उच्च विचारों तथा गुर्जर-प्रेम से बहुत प्रसन्न हूँ। आशा है, भविष्य में भी ऐसे ही भाव स्थापित रहेंगे।

अनंतर विक्रमार्कजी अपनी सामग्री एकत्र करके, राजकुमारी के एक बार फिर दर्शन करके, तथा उन्हें पूर्णतया आश्वासन देकर सवर्ग उज्जयिनी को पधारे। चलते समय ब्रह्मभोजादि करके आपने परम उदारता-पूर्वक निमंत्रित अतिथियों को प्रसन्न किया।

छठा परिच्छेद

तक्षशिला-विद्यापीठ

(अ) रूपरेखा और विक्रम

विक्रम की लाट-संबंधिनी कार्यवाही से राजा गंधर्वसेन बहुत ही प्रसन्न हुए। विशाल हर्षोत्साह एवं उत्सवों के पीछे इनके तक्षशीला में तीन वर्ष-पर्यंत अध्ययनार्थ सारे कुटुंब तथा मंत्रिमंडल ने प्रसन्नता-पूर्वक आज्ञा एवं सम्मति दे दी। स्वयं इनके, वीरवर के अथच पंचभद्रों के लिये उचित मात्रा में व्यय की आज्ञा हो गई, जो इन लोगों को एक शिवि-मित्र के द्वारा मिलने का प्रबंध हुआ। तक्षशिला शकों के राज्य में था, जिससे विक्रम के गुप्त रूप से रहने के संबंध में विशेष प्रयत्न किए गए। आप यथापूर्व शिवि क्षत्रिय विषमशील कहलाते रहे। वहाँ पहुँच, मुख्याचार्य की आज्ञा लेकर आप मासिक व्यय में से पुष्कर की भाँति छ पुण्य शिष्यों को सहायता देने लगे। वीरवर ने तीन को दी, तथा पाँचों भद्रमित्रों ने अपनी-अपनी छात्रवृत्ति से एक-एक को। इस प्रकार विक्रम को मिलाकर इक्कीस विद्यार्थियों का एक मित्रसंघ स्थापित हो गया। यद्यपि किसी भी मित्र का सहायता-स्थापन के संबंध में कोई कर्तव्य न था, वरन् विक्रम ने उन सबको पूर्णतया स्वतंत्र रहने की आज्ञा भी दी थी, तथापि पुष्कर में जैसा हुआ था, उसी प्रकार इन सबों ने यहाँ भी इनसे तथा आपस में पूर्ण मैत्री अथच सहायता देने का ढंग स्थापित किया। आचार्य की आज्ञा लेकर आपने जैसे वहाँ

रात्रि में रक्षणार्थ भ्रमण का नियम स्थापित किया था, वैसा ही यहाँ भी किया, केवल इस बार वीरवर ने इन्हें किसी दिन अकेले बाहर न जाने दिया, वरन् प्रतिरात्रि के लिये कभी इनका साथ न छोड़ा। शेष उन्नीस मित्रों में भी छ दिन तीन-तीन लोग साथ रहते थे, केवल एक दिन विक्रम और वीरवर ही फिरा करते थे। वीरवर ने मालव-राज्य द्वारा नियुक्त सारी-की-सारी छात्रवृत्ति इतरों को लगा दी थी, तथा अपने लिये व्यय का प्रबंध स्वयं अपने मंडल से किया था। पंचभद्रों ने अपनी-अपनी छात्रवृत्तियों को भारी समझकर आधी-आधी वृत्ति से एक-एक पुण्यशिष्य की सहायता की थी। स्वयं विक्रम के बहुत कुछ नाहीं करने पर भी इस बार व्ययार्थ कुछ अधिक धन मिलने लगा था। इसीलिये इन्होंने छ लोगों की सहायता की। प्रतिरात्रि के परिभ्रमण में इस रक्षा-मंडली में प्रतिसप्ताह एक रात्रि को दो लोग निकलते थे, तथा शेष दिनों में पाँच-पाँच। साधारण रक्षकों को आचार्य की गुप्त आज्ञा मिल चुकी थी कि इनकी सहायता किया करें। इस प्रकार रक्षा का कार्य चैतन्यता-पूर्वक चलने लगा।

विक्रम के वहाँ पहुँचने से प्रायः दस दिन पूर्व ही लाट-देश के युवराज, सोमदेव तथा राजकुमारी रूपरेखा विद्यापीठ में प्रविष्ट हो चुकी थीं। राजकुमार ने युद्ध-विद्या सीखने में विशेष ध्यान लगाया, तथा राजकुमारी ने स्त्रियों के योग्य विषयों पर। विक्रम की मंडली तथा इन दोनो की योग्यता एवं प्रबल विद्या-प्रेम से अध्यापक-वर्ग बहुत प्रसन्न रहता था। इस प्रकार इन सबकी उन्नति का मार्ग बहुत प्रशस्त तथा विद्या-संबंधी लाभ पूर्णता के साथ अग्रसर था। जब विक्रम विद्यापीठ पहुँचे, तब चार-छ दिनों में अपनी अंतरंगा सखी के साथ राजपुत्री रूपरेखा इनसे जाकर एकांत में मिलीं। दोनो अत्यंत प्रसन्न हुए, और वार्तालाप भी होने लगा—

रूपरेखा—कहिए युवराज महोदय ! हम लोग तो यहाँ आपसे दस-बारह दिनों पूर्व से प्रविष्ट हैं, आपने इतना विलंब क्यों लगाया ?

विक्रमार्क—देवीजी महोदया ! मुझे पिता तथा माताओं की आज्ञा अथच मंत्रिमंडल की सम्मति प्राप्त करने में कुछ विलंब लग ही गया। पहले लाट से उज्जयिनी गया। इतने दिन बाहर रहने से माता-पिता ने हर्षोत्सव मनाया। अनंतर पठन-पाठन का कथन करके कठिनाई से आज्ञा प्राप्त कर सका। उधर आप सीधी चली आई होंगी।

रूपरेखा—यही बात थी। अच्छा, यहाँ घोर दरिद्रता का यह भग्गल आप क्यों गाँठे हुए हैं ? यथायोग्य प्रकार से क्यों नहीं रहते ?

विक्रमार्क—यहाँ शकों का अधिकार है, अतएव गुप्त रूप से रहने में विशेष कल्याण की आशा है। दरिद्रावस्था से अपने ऊपर लोगों का ध्यान कम जाता है। उधर सारे जीवन-भर सधन दशा का उपभोग करता ही रहा हूँ, और भविष्य में भी करना है। अतएव कुछ काल-पर्यंत दरिद्रावस्था के भोगने से कष्ट न होगा, तथा अनुभव-वृद्धि होगी ही। विद्या-प्राप्ति को ब्रह्मचर्य ज्ञान-विवर्द्धनार्थ होता ही है। दरिद्रावस्था में लोकानुभव बहुत अधिक हो जाता है।

रूपरेखा—आपकी सभी बातें परम विचित्र हैं। कहाँ मालव-युवराज, कहाँ शिवि चित्रकार और कहाँ एक दरिद्र विद्यार्थी ! आपकी तो "अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे" वाली दशा है। मेरा इन सभी रूपों को भक्ति-भाव से नमस्कार है।

विक्रमार्क—ऐसी आज्ञा न हो देवीजी ! मैं तो आप ही दास हो चुका हूँ। सेवकों का ऐसा मान बढ़ाने से समय पर आज्ञा-भंग के क्लेश उठा सकेंगी।

सखी—ऐसी ही कृपा सदैव हमारी सखी पर बनी रहे, यही प्रार्थना है।

विक्रमार्क—यह बात अब इन्हीं के अधीन है, मैं तो वचन-बद्ध हूँ ही।

रूपरेखा—वचन-बद्ध हम दोनो हैं। अच्छा, एक प्रार्थना बिना किए नहीं रह सकती।

विक्रमार्क—वह क्या है ?

रूपरेखा—प्रतिसप्ताह एक बार हम लोगों को सहभोज्यता से क्या सम्मालित कर सकते हैं ?

विक्रमार्क—प्रति दो सप्ताह एक दिन स्वच्छंद रखिए, दो दिन मेरे यहाँ आप तीनों का भोज रहे, तथा एक दिन मेरा आपके यहाँ। मैं अकेला जाया करूँगा, उधर आपके साथ सोमदेवजी तथा सखीजी भी रहा करेंगी।

रूपरेखा—इसमें तो आपके नियमित व्यय पर बोझ पड़ेगा।

विक्रमार्क—किसी प्रकार काम चल ही जायगा। एक बात और है। आप स्वतंत्र न होकर भ्राता की अभिभावकता में हैं, अतएव प्रकट में यह प्रस्ताव उन्हें करना चाहिए।

रूपरेखा—क्या मुझे इतनी भी अधिकार नहीं ?

सखी—है अवश्य, किंतु युवराज के विषय में उन्हीं का प्रस्ताव योग्य है, वरन् उनसे बात भी मैं करूँगी। आप मौन ही रहिए।

विक्रमार्क—यही बात है, सखीजी ! आप दूर की बात सोच रही हैं। एक विनती भी है कि यहाँ मुझे युवराज कहने की आदत न डालिए।

रूपरेखा—अच्छी बात है। फिर मैं जाती हूँ। कृपा रखिएगा।

विक्रमार्क—जैसी इच्छा ; कृपा तो आपकी मुख्य है।

इस प्रकार वार्तालाप करके राजकुमारीजी सखी के साथ अपने

निवास-स्थान को पधारीं। उसी दिन युवराज सोमदेव ने इनके पास आकर उपर्युक्तानुसार सहभोज्यता का विषय निश्चित कर लिया। यह पूरी मंडली पठन-पाठन पर दृढ़ता-पूर्वक ध्यान देती थी। साथ-ही-साथ सामाजिक विषय भी चला करते थे। एक बार जब विक्रम युवराज सोमदेवजी के यहाँ भोजन कर रहे थे, तब इस प्रकार आलाप-संलाप होने लगा—

रूपरेखा—विषमशीलजी! आप जब लाट में विराजते थे, तब पाटंबर आदि धारण करते थे, आजकल घोर रूप से दरिद्रता क्यों घेरे हुए है?

विषमशील—उस काल में एक सधन व्यापारी था, किंतु अब अपनी साधारणी दशा पर हूँ।

रूपरेखा—समझ तो आप अत्यंत निर्धन पड़ते हैं।

विषमशील—"प्रत्यक्षे किम्प्रमाणम्" की बात है, देवीजी!

रूपरेखा—प्रत्यक्ष बातें बहुधा अशुद्ध भी निकल जाती हैं। मैं अनावश्यक विचार क्यों करूँ? आप उत्तर दीजिए न?

विषमशील—तब उत्तर यह है कि आप निर्धन होंगी, मैं तो सधन हूँ। सारा व्यय करके भी दश पण प्रतिमास इतरों के लिये बच जाते हैं। जिसे आवश्यकता हो, वह निर्धन है। दरिद्रता तो विचाराधीन होती है, धनाधीन नहीं।

सोमदेव—(हँसकर) तब तो आप महाधनवान् दिखते हैं।

रूपरेखा—लाट में तो अंगलीयक, तारहार, रत्नग्रथितोत्तरीय आदि धारण करते थे, वे सब क्या हुए?

विषमशील—उस काल चित्रों की बिक्री से धन कुछ अधिक पास था। विदेश-यात्रा के समय पिताजी ने भी विवश करके बहुत कुछ दे दिया था।

सोमदेव—वह सब सामग्री अब क्या हुई?

विषमशील—लाट से प्रस्थान के समय एक-एक ब्रह्मभोज और

चमरभोज किए थे। जो वस्तु जिस सुपात्र व्यक्ति को भाई, वह उसे ही मिल गई। मुझे उन वस्तुओं की आवश्यकता शेष न थी, क्योंकि व्यापार वहीं छोड़ चुका था।

सोमदेव—यह चमरभोज क्या वस्तु है?

विषमशील—जैसे ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है वैसे ही चमारों को भी कराना चाहिए। मैं सभी जातियों का सम्मान करता हूँ।

रूपरेखा—है तो श्रेष्ठ विचार।

सोमदेव—चलते समय मंत्रिमंडल ने भी आपको कई लक्ष पण तथा प्रचुर सामग्री दी थी।

विषमशील—मैंने उसे चाहा कब था? हठ-पूर्वक दी गई थी। आप ही के यहाँवाले ब्राह्मणों की भेंट हो गई। अपनी सामग्री भी उन्हीं को देकर विद्यापीठ को चला आया। यहाँ उन वस्तुओं की क्या आवश्यकता शेष थी?

रूपरेखा—तीन वर्षों के पीछे जब घर जाइएगा, तब क्या कीजिएगा? क्या वह दिन ध्यान में रखने योग्य न था?

विषमशील—मेरे-से सधन लोगों को भविष्य की क्या चिंता है?

सोमदेव—वस्त्र तो आपके पास पाटंबर एक नहीं दिखता।

विषमशील—तूलांबर तो प्रस्तुत हैं। केवल चमक की बात है, नहीं तो चिरस्थायी ये ही हैं।

सोमदेव—वस्त्रागार कितना बड़ा है?

विषमशील—सात-सात दुकूल युग्म तथा उष्णीष हैं।

सोमदेव—इतने ही से काम चल जाता है?

विषमशील—इसमें कौन काठिन्य है? एक-एक धुलाई के वस्त्र दो-दो दिन धारण करता हूँ। धोबी काम कर ही देता है।

सोमदेव—अधिक क्यों नहीं बनाते?

विषमशील—धन कहाँ से लाऊँ?

सोमदेव—यदि कोई कुछ भेंट करना चाहे ?

विषमशील—क्या ब्राह्मण हूँ, जो प्रतिग्रह के लिये हाथ फैलाऊँ ?

सोमदेव—एक-आध चित्र बना दीजिएगा।

विषमशील—आजकल ब्रह्मचारी विद्यार्थी हूँ, व्यापारी नहीं।

सोमदेव—मित्र-भाव से ग्रहण करके कृपा ही कीजिएगा।

विषमशील—जिस वस्तु की आवश्यकता हो, मित्र-भाव से ले सकता हूँ। उससे अधिक वस्तुएँ मैं इतरों को दे दिया करता हूँ, जिसमें उनके रक्षण का भार न पड़े। यदि मुझे कोई अनावश्यक वस्तु देनी हो, तो वह किसी सुपात्र व्यक्ति को दे दीजिए, मानो मुझी को दी।

सोमदेव—क्या इस दरिद्र-जीवन से कष्ट नहीं होता ?

विषमशील—कष्ट तब हो, जब कोई आवश्यक वस्तु अप्राप्त रहे। यदि भोजन, वस्त्र, शयन, चिकित्सा आदि के लिये सामग्री प्रस्तुत हो, तो कष्ट कहाँ हो सकता है ? चिकित्सा का मुझे काम नहीं पड़ता, क्योंकि नियमित जीवन के कारण अस्वस्थ होता ही नहीं। इतर कौन आवश्यकता अप्राप्त है ?

रूपरेखा—अपने वस्त्र देखिए, संपन्न महाशय !

विषमशील—मेरा कोई वस्त्र न तो मलिन है, न फटा-पुराना। मोटे वसन रहते विशेष हैं। व्ययाधिक्य भी नहीं होता। पाटंबर आदि के धारण से जो शारीरिक शोभा बढ़ती है, उससे अधिक स्वस्थ और सबल शरीर से प्राप्त है।

रूपरेखा—यदि पाटंबर भी हों, तो क्या कोई विशेषता न आवे ?

विषमशील—आवे क्यों नहीं, किंतु आवश्यक नहीं है। धनाभाव से उसके मोल चुकाने में असमर्थता है न ? और अपने हृदय में किंचित् यह सोच लेने से कि वस्त्र अच्छे हैं, संतोष भी पूर्ण हो जाता है।

रूपरेखा—कदाचित् हृदय में सोच लेने से क्षुधा-पूर्ति भी हो जाती होगी ?

विषमशील—यह भी संभव होता, यदि उदर स्मरण न दिलाया करता।

रूपरेखा—वस्त्रों की निकृष्टता का स्मरण नेत्र भी दिला सकते हैं ?

विषमशील—चित्त में ऐसा भाव प्रबल हो तब न। धनाभाव की भी बात कह ही चुका हूँ।

सोमदेव—इससे कष्ट हुआ कि नहीं ?

विषमशील—कष्ट तब हो, जब तदर्थ इच्छा-शक्ति बलवती हो। मेरी इच्छाएँ प्रायः परिमित एवं स्ववश रहा करती हैं।

रूपरेखा—कोई-कोई कामनाएँ तो आपकी भी बलवती हो जाती होंगी ?

विषमशील—ऐसा अद्यावधि एक ही बार हुआ, किंतु उस बार भी चित्त स्ववश हो जाने से कष्ट की सीमा प्राप्त न हुई।

सोमदेव—सेवक कितने रखते हैं ?

विषमशील—चार।

सोमदेव—कौन-कौन ?

विषमशील—दो हाथ और दो पैर। ये सेवक कभी साथ नहीं छोड़ते।

रूपरेखा—वास्तविक कोई नहीं है क्या ?

विषमशील—है क्यों नहीं ? किंतु "स्वयं दासास्तपस्विनः" की बात है ही। फिर भी पठनार्थ समय बचाने के विचार से दो रखता हूँ। इससे अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती।

रूपरेखा—जो बातें आप बघारते हैं, उनमें से कई में "अंगूर खट्टे" की बात भी समझ पड़ती है। अच्छा, भोजन क्या करते हैं ? शरीर में ऐसी दीप्ति तथा पौरुष का संचार किस युक्ति से रखते हैं ?

विषमशील—देवीजी ! भोजन शरीर-धारण के निमित्त किया जाता है ; शरीर-धारण भोजनार्थ नहीं है। जो व्यक्ति पोषक तत्त्व-

संबंधी ज्ञान का प्रयोग भोजनों में नहीं करते, उनके शरीर न तो सुंदर रहते हैं, न सबल।

सोमदेव—इसका विषय कुछ विस्तार के साथ कहने की क्या कृपा करेंगे?

विषमशील—अच्छा, सुनिए। देह एक यंत्र है। इसे समुचित प्रकार से चलाने को जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, केवल उन्हीं का खाना योग्य है, इतर का नहीं। मानुष-तन में दो सै पृथक्-पृथक् हड्डियाँ होती हैं, जो मांस-तंतुओं आदि से पारस्परिक संबंध रखती हैं। जैसे तैलादि के साथ ओंगे न जाने से वाहनों के पहिए तथा धुरे कट जाते हैं, उसी भाँति इनके भी लड़कर कट जाने को रोकने के लिये घृत, तैलादि की आवश्यकता है। प्रायः एक टंक घृत नित्यप्रति लेने से यह कार्य सुगमता-पूर्वक चल सकता है। इससे सवाया पर्यंत ले लेने से विशेष हानि नहीं, किंतु अधिक होने से चरबी (मज्जा) बढ़कर शरीर को स्थूल तथा निर्बल बना देगी। इसी भाँति पोषक तत्त्व यदि भोजन के साथ समुचित मात्रा में सजीव पहुँचते रहें, तो देह का पोषण होता रहेगा। कुछ वस्तुएँ कच्ची अवश्य खानी चाहिए, तथा शेष जल में पकाई हुई। भोज्य वस्तुओं के कल्हारने में उनके बहुतेरे पोषक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। नित्यप्रति हरी पत्तियाँ प्रायः दो टंक शाकादि के रूप में खाने से समुचित मात्रा में लोह-तत्त्व रुधिर में पहुँचकर लालिमा की वृद्धि करते हैं। ऐसे ही सैकड़ों विचार हैं। सारांश यह कि भोजन में स्वाद का विचार न्यून होना चाहिए, तथा पोषण का बहुत प्रधान।

रूपरेखा—ये बातें आपने जानी कहाँ से?

विषमशील—देवीजी! इसका वैद्यक विभाग ही है, जो प्राकृतिक जीवन को श्रेष्ठ मानता है। उसके अनुसार चलने से शरीर सबल

तथा नीरोग रहेगा, अथच जीवनावधि १०० से १५० वर्ष-पर्यंत सुगमता-पूर्वक प्राप्य है। सौंदर्य का तो यह चिकित्सा-विभाग मूल है। इसी विचार से मैंने एक बार लाट में आपको उपदेश भी दे डाला था, यद्यपि योग्यता में आपके समान भी न था।

रूपरेखा—मैं तभी से बराबर यथासाध्य इसका सेवन भी करती आई हूँ, और भविष्य में भी करूँगी। आपने तो तपस्विनी-जीवन का-सा उपदेश दिया था, किंतु फल भी उसका प्रत्यक्ष है।

विषमशील—मैं अपने यहाँ उन्हीं नियमों के अनुसार भोजन बनवाता हूँ।

सोमदेव—मेरी स्वसा ने मुझे भी इस विषय पर बहुत कुछ समझाया है। इसीलिये हम दोनो आपके आतिथ्य से प्रसन्न ही रहते हैं, यद्यपि बहुतों को वह भोजन सुस्वादु न लगेगा।

विषमशील—यही बात है, युवराज महोदय!

सोमदेव—अच्छा, आप हम लोगों के निमंत्रण करने पर क्यों हठ किया करते हैं? आपके सेवकों को प्रबंध विशेष करना ही पड़ता है।

विषमशील—मेरे यहाँ उन्हें काम ही कौन बहुत है? व्यय भी नियमित ही रहता है। आपके निमंत्रण से मुझे कोई कष्ट तो है नहीं।

रूपरेखा—सधन होने से उस व्यय से आपको कष्ट ही क्या होता होगा?

विषमशील—यही बात है, देवि! आपके वचन का व्यंग्य अभिधा-रूप में सत्य है।

रूपरेखा—कृपालु तो बहुत समझ पड़ते हैं। क्या अपनी दरिद्रता किसी को उदारता-पूर्वक अर्पण नहीं कर सकते?

विषमशील—कोई अत्यंत प्रिय वस्तु दे डालने में कभी-कभी मुझे भी हिचक संभव है।

सोमदेव—क्या आप भी हाड़-मांस के व्यक्ति हैं ?

विषमशील—यदि भवदीय शिक्षा मानकर किसी को देने भी लगूँ, तो योग्य पात्र कौन मिला जाता है ? जिसके पास है ही, उसे आवश्यकता नहीं, और जिसके पास नहीं है, वह कदाचित् ऐसी अलभ्य वस्तु का उचित मान करने में असमर्थ होकर प्रतिग्रह, ग्रहण का अभिलाषी नहीं।

सोमदेव—दूर खोजने की क्या आवश्यकता है ? मुझी को अर्पित न कर दीजिए।

विषमशील—(हँसकर) आप सुपात्र नहीं हैं। मैं कुपात्रों को दान कब दिए देता हूँ ?

सोमदेव—(हँसकर) उदार दाता लोग पात्रापात्र पर इतना ध्यान कब देते हैं ?

विषमशील—ऐसी उदारता मेरे पास नहीं है।

रूपरेखा—क्या एक बात कह सकती हूँ ?

विषमशील—जो आज्ञा।

रूपरेखा—मुझे चित्रकारी की कला क्या सिखा सकते हैं ?

सोमदेव—इसे तो कुछ मैं भी सीखना चाहता हूँ।

विषमशील—आप दोनो साथ-ही-साथ सीख सकते हैं। पठन-कार्य से समय निकालकर न्यूनाधिक बतला दूँगा।

सोमदेव—इसके विषय में आपको कुछ पारिश्रमिक लेने की कृपा करनी होगी।

विषमशील—मैं तो पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि आजकल व्यापारी न होकर ब्रह्मचारी हूँ। क्या लाट में चित्रों के मूल्य न लिए थे ?

सोमदेव—कहाँ लिए थे ? जो लिया, उसमें कुछ अपनी ओर से भी मिला-मिलाकर हमारे ही पौर-जानपदों में वितरित कर दिया।

मैं तो देखता हूँ कि आपको कोई भी धनी आभारी नहीं कर सकता, प्रत्युत हमीं लोग आपके आभारी हैं ।

विषमशील—मेरा कौन-सा आभार आपके ऊपर आया ?

सोमदेव—मेरी प्रजा-पोषण द्वारा; फिर आजकल भी निमंत्रणों में हमीं लोग आपको विशेष कष्ट देते हैं।

विषमशील—इतनी क्षुद्र बातों का विचार आप-सरीखे युवराज को योग्य नहीं ।

रूपरेखा—(हँसकर) आपके-से निर्धन को तो योग्य है ।

विषमशील —(हँसकर) निर्धन है कौन ? मैं तो सधन हूँ । अनावश्यक द्रव्य मैं यों भी कब चाहता हूँ ?

सोमदेव—चित्र-कला की शिक्षा में तो वास्तव में आभारी हूँगा ।

विषमशील—इसे मित्रता का उपहार मानिएगा ।

सोमदेव—आप तो ऐसा कोई उपहार लेते नहीं ।

विषमशील —आपको चित्र-कला की आवश्यकता है ; यदि मुझे आपकी किसी वस्तु का प्रयोजन हुआ, तो नाहीं न करूँगा ।

रूपरेखा—आपको आवश्यकता होगी ही क्यों ? आप तो एक विरक्त योगी हो रहे हैं ।

विषमशील—है तो यही दशा इन दिनों आपकी भी । मेरा उपदेश पूर्णतया मानने के लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ ।

रूपरेखा—इस धन्यवाद को मैं बहुत मूल्यवान् मानती हूँ ।

विषमशील—बड़ी कृपा । फिर चित्र-कला के विषय में कोई निश्चय न हुआ ?

सोमदेव—हम लोगों पर अनुग्रह करके इस शिक्षण के विषय में कुछ आज्ञा कर दीजिए ।

विषमशील—आज्ञा यही करता हूँ कि निःसंकोच भाव से सीखिए, तथा पारिश्रमिक आदि का विचार न कीजिए । यदि कभी

मुझे कोई आवश्यकता होगी, तो मित्र-भाव से प्रार्थना कर ही दूँगा, चाहे चित्र-विद्या सीखिए या नहीं।

सोमदेव—मैं वह दिन धन्य समझूँगा, जब आप-सरीखे महात्मा की कोई सेवा करने का समय प्राप्त होगा।

रूपरेखा—अभी तो विवश होकर हमीं लोगों को आपका आभारी होना पड़ेगा। चित्र-विद्या सिखलाने का अनुग्रह आप अवश्य कीजिए।

सोमदेव—तुझे तो बहन, बेचारे विषमशील को कष्ट देने में संकोच ही नहीं होता।

रूपरेखा—मैं कष्ट कब देती हूँ? यह स्वयं अपनी दरिद्रता-खंडन के प्रतिकूल हैं।

विषमशील—(हँसकर) किसी को भी प्रिय वस्तु के विनाश से दुःख होगा ही।

सोमदेव—ऐसी प्रिय वस्तु से इतना प्रेम करने के शिक्षक आपको गुरु कहाँ से मिल गए?

विषमशील—खोज से सभी कुछ प्राप्त हो जाता है। पठन का समय आ गया है। क्या अब आज्ञा है?

रूपरेखा—अच्छा, धन-हीन धनाढ्य महोदय! ऐसी ही कृपा बनी रहे।

(ब) सिंधुक और मृगया

तक्षशिला के विद्यापीठ में उन दिनों इन मित्रों के अतिरिक्त सुकवि भास, शातवाहन सिंधुक तथा कण्व नारायण भी पढ़ते थे। विक्रम की कुशाग्र बुद्धि के कारण इनकी भास कवि से मित्रता हो गई, तथा शस्त्रास्त्र-संबंधी प्रवीणता से सिंधुक और नारायण से भी। नारायण पाटलिपुत्र-साम्राज्य के महामंत्री वसुदेव के पौत्र थे। उधर सिंधुक-

वाला शातवाहन राजवंश सम्राट् अशोक के समय से सबल चला आता था, यद्यपि उस काल वह मौर्यों के न्यूनाधिक अधीन था। समय पर मौर्य-बलहीनता से यह महाराष्ट्रीय राजवंश स्वतंत्रप्राय हो गया था। सिंधुक एक प्रवीण विद्यार्थी थे, जो समर-कौशल एवं अंतरराष्ट्रीय विषयों पर विशेष ध्यान देते थे। नारायण मंत्रिपौत्र होने से साधारण विद्वत्ता और समर-शास्त्र पर विशेषता रखते थे। भास साहित्यिक योग्यता तथा योग-शास्त्र के अभ्यासी एवं विद्यार्थी थे। समय के साथ इन तीनो का प्रेम विक्रम से बढ़ता गया। भास नारायण के मित्र थे, तथा विक्रम पर न्यूनाधिक योगाभ्यास की आवश्यकता के विचार अंकित किया करते थे, जिनका कुछ प्रभाव भी पड़ा, और इन्होंने योग-विद्या तथा अभ्यास, इन दोनो को भी थोड़ा समय देना योग्य समझा। सिंधुक की भी मित्रता समय के साथ कुछ आधिक्य से विक्रम से बढ़ी, भास की विक्रम और नारायण की केवल भास से। विक्रम की सभी बातों में योग्यता, समर-कौशल की प्रबल विशेषता तथा आचरण-संबंधी शुद्धता देखकर सिंधुक इनसे बहुत प्रसन्न हुए। वह शातवाहन-राज्य के युवराज थे ही, और इन्हें निर्धन समझते ही थे, अतएव अपने राज्य के सैनिक विभाग में इन्हें उच्च पद देने के स्वभावशः उत्सुक हुए। एक दिन समय पाकर इनसे तद्विषयक वार्तालाप भी करने लगे—

सिंधुक—विषमशील महोदय! आपने प्रायः पूर्ण मित्र-भाव से मुझे कृतार्थ किया है। क्या मैं कोई प्रार्थना भी कर सकता हूँ?

विषमशील—यह आप क्या आज्ञा कर रहे हैं? मैत्री में प्रार्थना का प्रश्न उठता ही कब है? वहाँ तो इच्छा ही आज्ञा, प्रार्थनादि सभी का रूप धारण किए रहती है। जो जी में आवे, बराबर कहिए।

सिंधुक—है आपका कथन पूर्णतया यथार्थ, किंतु इस काल मैं प्रार्थना ही करूँगा। शायद आप स्वीकार करेंगे कि हम दोनो की मित्रता अद्य-पर्यंत साम्य भाव पर स्थित रही है।

विषमशील—यह तो इसका रूप ही है। यदि अहंभाव आ जाय, तो मैत्री रह कहाँ सकती है? इसका शुद्ध रूप स्वार्थ तथा असमता से बहुत दूर है।

सिंधुक—ऐसा तो है ही, और मैं भविष्य के लिये सदैव यही भाव पूर्णतया निभाने को वचनबद्ध भी हो सकता हूँ।

विषमशील—इसकी आवश्यकता क्या है? क्या मुझे किसी प्रकार का संदेह है, जिसके निवारणार्थ ऐसा कथन योग्य समझा जाय?

सिंधुक—है तो नहीं, किंतु जो बिनती मैं आज करनेवाला हूँ, उसमें ऐसा भय उपस्थित हो सकता है।

विषमशील—ऐसा आप न विचारा कीजिए। मेरा चित्त संदिग्ध नहीं होता। अच्छा, कहिए तो कि आप चाहते क्या हैं?

सिंधुक—आप जानते हैं कि मैं शातवाहन-राज्य का युवराज हूँ। जब घर से इधर को प्रस्थित हुआ था, तब पूज्य पिता के महामंत्री लूतवर्णजी ने यहाँ की उच्च सामरिक शिक्षा के विचार से पितृचरण के समक्ष मुझसे कहा था कि अध्यापकों अथवा विद्यार्थियों में से यदि कोई परम प्रवीण समर-पंडित देख पड़े, तो अपने राज्य के किसी परमोच्च पद के लिये उसकी स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयत्न करूँ। आपसे बढ़कर योग्य पुरुष मुझे यहाँ कोई देख नहीं पड़ता। शिवि क्षत्रिय होकर वर्तमान अंतरराष्ट्रीय प्रश्नों से एक प्रकार असंबद्ध होने से आप किसी राज्य से प्रेम-पूर्ण संबंध जोड़ सकते हैं। क्या यह संभव है कि आप मेरे पिता के राज्य पर कृपा कर सकें?

विषमशील—इस दया-पूर्ण निर्वाचन के लिये मैं आपको अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ, किंतु यह भी कहना पड़ता है कि इस अंतरराष्ट्रीय विषय पर मेरा प्रेम स्वच्छंद नहीं है, क्योंकि मेरे विचार दृढ़ता-पूर्वक एक ओर झुक चुके हैं। मित्रता के नाते अत्यंत गुप्त भाव से यह गोप्य कथन करता हूँ कि गुर्जर-मालव-संधि मेरी ही कराई हुई है। शकों का प्रचंड आक्रमण भारत पर हो रहा है। शुंगपति लंपट देवभूति में मैं ऐसी योग्यता नहीं देखता कि उनके द्वारा उत्तरी भारत का भी संरक्षण संभव हो। दक्षिण की तो बात ही क्या है? इधर शकों का प्रसर पाश्चात्य भारत में उत्तर तथा दक्षिण दोनो ओर हो रहा है। मैं इन आततायी आक्रमणकर्ताओं से स्वदेश की रक्षा करनी चाहता हूँ। ऐसी दशा में यदि केवल शातवाहन-राज्य पर आश्रित हो जाऊँ, तो उसी की अंतरराष्ट्रीय नीति से आबद्ध हो जाना पड़ेगा, तथा स्वतंत्र आत्मीय विचारों के प्रस्फुरण का पूर्ण अवकाश न रह जायगा।

सिंधुक—यद्यपि देख आप निर्धन पड़ते हैं, तथापि भावनाएँ पर-मोच्च रखते हैं। क्या आपके विचारों का प्रभाव हमारे राज्य पर पड़ेगा नहीं?

विषमशील—जब मेरी आपकी प्रगाढ़ मैत्री है ही, तब प्रभाव हर दशा में पड़ेगा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आपके राज्य से यथा-साध्य सद्भाव रक्खूँगा, तथा हम दोनों मिलकर प्रायः कार्य किया करेंगे। लूतवर्णजी की कामना पूर्ण करने का मैं संभवतः सफल प्रयत्न कर सकूँगा। यदि स्वार्थ-भाव छोड़कर कोई अंतरराष्ट्रीय विषयों पर प्रयत्न करे, तो सिद्धि शीघ्र ही हो सकती है। इस कथन का उदाहरण मालव-गुर्जर-संधि है, जो मेरे एक ही वर्ष के प्रयत्न से सिद्ध हो गई है, यद्यपि लाटेश्वर का व्यवहार शकों से न्यूनाधिक प्रगाढ़ था।

सिंधुक—कथन तो आपका पुष्ट है, किंतु स्वार्थ पूर्णतया छोड़ देने से संसार-यात्रा भी तो नहीं चलती। उधर लाटेश की संधि पर मुझे तो पूर्ण विश्वास है नहीं, क्योंकि वह बड़ा ही स्वार्थी, भीरु तथा प्रतिज्ञा-दौर्बल्य-युक्त है। कायरता उसकी ऐसी बढ़ी-चढ़ी है कि शकों का रूप ही देखने से उसकी सारी महत्ता चाटुकारिता में बदल जाती है।

विषमशील—सुना तो मैंने भी ऐसा है, किंतु कुछ तो प्रयत्न करना ही पड़ता है। जब जैसा अवसर देखूँगा, तब तैसा करूँगा। इधर उसका युवराज सोमदेव बड़ा ही सज्जन तथा मेरा प्रगाढ़ मित्र है।

सिंधुक—यह मैं भी मानता हूँ, किंतु भवदीय उपर्युक्त विचारों में सम्यक्प्रकारेण लोक-यात्रा न चल सकने का जो दोष है, उस पर आप अभी तक संभवतः उचित ध्यान नहीं दे रहे हैं। विद्यार्थी-जीवन-पर्यंत तो किसी भाँति रह सकते हैं, किंतु गृहस्थ होकर क्या कीजिएगा?

विषमशील—इसके लिये आशा करता हूँ कि चित्र-कला से इतनी आय होती रहेगी कि गार्हस्थ्य जीवन न्यूनाधिक सुख-पूर्वक चल सकेगा। जितनी कामना बढ़ाते जाइए, उतनी ही आवश्यकताएँ बढ़ती हैं।

सिंधुक—क्या सारे कुटुंब को अपने ही समान योग-मानस-पूर्ण बना सकेंगे? मुझे तो आशा नहीं है।

विषमशील—पूज्य पितृचरण की आज्ञा भी सेवा-स्वीकार के प्रतिकूल है। गार्हस्थ्य जीवन के लिये वह भी न्यूनाधिक सहायता कर सकेंगे।

सिंधुक—मैं हठ क्या कर सकता हूँ? आप तो योगी हो रहे हैं; केवल भिक्षा माँगता था।

विषमशील—यदि कोई वस्तु माँगिए, तो अदेय न होगी। आपका प्रश्न तो सारे जीवन से संबद्ध होकर उस प्रकार का है नहीं। आशा है, अपराध क्षमा कर सकेंगे।

सिंधुक—बात आपकी नितांत उचित है। अपराध भी आपका न होकर मेरा है। स्वयं मैं क्षमा का प्रार्थी हूँ। सच्ची मैत्री के प्रतिकूल मेरा ही कथन हुआ, न कि आपका। फिर भी यदि वेतन का प्रश्न हो, तो किसी प्रांत का महाराज्य तक आपकी भेंट करा सकता हूँ।

विषमशील—मित्रता से प्रतिकूलता नहीं थी। आपने तो कृपा ही की थी। प्रांत आदि लेकर क्या करूँगा? भला, यह तो कहिए कि मृगयार्थ कब चलिएगा? कई दिन हो चुके हैं।

सिंधुक—चलिए, एक दिन सोमदेवजी को भी लेकर चलें। आपके मित्र वीरवर भी शायद जायँ। मुझे आपके उत्तर से कुछ निराशा है ही।

विषमशील—वह तो जाएँगे ही। मुझे ऐसे समयों पर अकेला छोड़ना नहीं चाहते। कृपया निराशा निकट न फटकने दीजिए। जो प्रयोजन आप मेरी सेवा से चाहते हैं, उससे अधिक उभय पक्ष में शुद्ध मैत्री से बनेगा।

अनंतर ये चारो मित्र मृगयार्थ एक सघन वन में गए। हाँके इत्यादि का कोई प्रबंध न किया गया, वरन् दो-दो साथी मिल-मिलकर यत्र-तत्र विचरण करने लगे। विक्रम के साथ वीरवर हुए। दोनो जोड़ियाँ दो प्रतिकूल दिशाओं में गईं। विक्रम और वीरवर गहन वन की शोभा देखते हुए केवल मृगपतियों की टोह में चले। अधिक संख्या में सेवकादि के न लाने से साधारण मृगादि पर प्रहार न करते थे। जंगल में कहीं-कहीं दूर्वाच्छादित भूमि-मात्र थी, किंतु वह प्रायः सघन वृक्षादि से पूर्ण था। उनकी छाया ऐसी शीतल और

सुखद थी कि भानु-ताप से कष्ट न होता था। कुछ भोज्य तथा पेय सामग्री सेवक लोगों के साथ थी। वन का जल प्रायः अपेय समझा जाकर उसका व्यवहार न किया जाता था। कहीं-कहीं पाँच-पाँच, छ-छ हाथ ऊँची घास थी। वृक्षों पर यत्र-तत्र मोटी लताएँ चढ़ी थीं; जो पुष्पों से लदी हुई थीं। सुगंधित फूलों तथा पत्तियों से वह पूर्ण था। यत्र-तत्र पशु-पक्षी भी दृष्टिगोचर होते थे। पथरीली भूमि पर जब मृगादि तीव्रता से भागते या चलते थे, तब कभी-कभी जान पड़ने लगता था, मानो कोई ऊँची एँड़ीदार जूते पहने हुए चला आ रहा हो। साधारण जंतुओं पर प्रहार न करते हुए इन युगल मित्रों ने दो सिंहों का विनाश किया। चार हाथ ऊँचे लौह-धनुष तथा छ हाथ के लंबे बाण से मृगया हो रही थी। पैर के अँगूठे से धनुष का निम्नांश धरती पर दबाकर तथा वाम कर से उसे साधकर दक्षिण हस्त से बल-पूर्वक प्रत्यंचा खींचने पर जो बाण छोड़ा जाता था, उसका वेग हाथी तक नहीं सँभाल पाते थे। सिंहादि का एक ही एक बाण से निधन हो जाता था। इन दोनो के हाथों में खड्ग तथा कंधों पर चर्म भी थे। इसी प्रकार मृगया करते हुए विक्रम देखते क्या हैं कि एक सुंदर बालक वृक्ष पर बैठा है, और उसका धनुष नीचे पड़ा है, तथा एक मृगपति पृथ्वी पर खड़ा हुआ उसकी ओर ताक लगाए है। इन्हें देखकर उस बालक ने रक्षणार्थ इंगित किया। तब इन्होंने आगे बढ़कर सिंह को ललकारा, तथा वह भी इनकी ओर दौड़ा। यह देख विक्रम ने एक बाण इस वेग से मारा कि सिंह वहीं ढेर हो गया। अनंतर बालक प्रसन्नता - नाट्य करता हुआ इनके पास आकर बोला—

बालक—मेहरबानमन! क्या मैं आपका नाम जान सकता हूँ?

विषमशील—दयालु! मेरा नाम विषमशील है। मैं तक्षशिला-विद्यापीठ का एक विद्यार्थी हूँ।

बालक—यह नाम मैंने पहले से सुन रक्खा है, और औसाफ़ की भी तारीफ़ सुनी है। आप तो हर तरीक़े से क़ाबिल-तारीफ़ व नीज़ ख़ूबसूरती में एकता हैं। हज़ार-हज़ार शुक्रिया अदा करता हूँ। मेरी कमान हाथ से छूट गई, और इस शेर के मुक़ाबिले में कुछ न कर सकने से मैं ऊपर ही बैठा रहा। आपने आज मेरी जान बचाई, नहीं तो ख़त्म हो चुका था।

विषमशील—अब स्वस्थ हूजिए। चिंता की बात शेष नहीं।

बालक—मैं मथुरावाले एक ऊँचे दर्जे के शाही अफ़सर का बेटा हूँ। नाम हर्नेदुदेव है। मेहरबानी करके जो माँगिए, वही आपको दे सकता हूँ। कुछ कह-भर दीजिए, क़दमों में वही शै पेश पाइएगा।

विषमशील—कृपासिंधो! अनुग्रह ऐसा ही बना रहे। मैं क्षत्रिय-कुमार हूँ, किसी से कुछ माँग नहीं सकता, न मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता ही है।

हर्नेदुदेव—जब ऐसा है, तब मैं ही आपसे कुछ माँगूँगा? क्या मुराद बख़्शी जा सकती है?

विषमशील—यदि मेरी कोई ईप्सित वस्तु अदेय न हुई, तो बड़ी प्रसन्नता-पूर्वक भेंट करूँगा। कहिए, क्या आज्ञा है?

हर्नेदुदेव—जब आज आपने मेरी जान ही बचाई है, तब यही भीख भी माँगता हूँ कि जब तक मेरा कोई क़ुसूर न साबित हो, तब तक सादिक़ मुहब्बत बख़्शी क़ायम रहे।

विषमशील—बड़ी प्रसन्नता-पूर्वक एवमस्तु कहता हूँ, किंतु बिनती यह है कि इस वरदान में आपने मुझसे तो कुछ लिया नहीं, वरन् प्रकारांतर से मुझे ही अपनी अमूल्य मैत्री से कृतार्थ किया है। यद्यपि अवस्था आपकी चौदह-पंद्रह साल की होगी, तो भी बुद्धि बड़ी तीव्र है। मेरे कुछ न माँगने पर भी आपने एक अलभ्य दान दे ही दिया।

हनेंदुदेव—सख़ावत मेरी उसी हालत में मानी जा सकती है, जब आपकी दोस्ती से मेरा फ़ायदा कम हो, और आपका बेश। इधर मैं देखता हूँ कि आपको तो मेरी किसी चीज़ की ज़रूरत होगी नहीं; बल्कि मुझे ही आपकी सादिक़ मुहब्बत दरकार है। ऐसी हालत में मैं आपको क्या देता हूँ, बल्कि अलावा जाँ-बख़्शी के आप ही से मुस्तफ़ीद भी हो रहा हूँ।

विषमशील—जो हो, मैं तो इस वरदान से अपना ही विशेष लाभ समझता हूँ। फिर भी मैं तक्षशिला में हूँ, तथा आप मथुरा में विराजमान रहते हैं। ऐसी दशा में इस मैत्री का प्रस्फुरण किस प्रकार होगा?

हनेंदुदेव—उम्मीद करता हूँ कि वालिद माजिद की इजाज़त हासिल करके हर हफ़्ते तीन दिन तक्षशिला में मैं भी बतौर तालिबेइल्म के रहा करूँगा। आपही के पड़ोस का कमरा अपने रहने को चुनूँगा। ऐसी हालत में जनाब की ख़िदमत के मौक़े अक्सर मिला करेंगे।

विषमशील—अवस्था देखते हुए आपकी बुद्धि बड़ी प्रखर समझ पड़ती है। आशा है, मेरे कारण आपको कष्ट न होगा।

हनेंदुदेव—मैं तो यों भी हुसूले इल्म के ख़याल से वहाँ आकर रहनेवाला था। वहाँ जाकर आपको कई बार देख चुका हूँ, सिर्फ़ नाम जानने व गुफ़्तगू के मौक़े नहीं आए थे।

इतने में खोजते हुए हनेंदुदेव के कुछ साथी वहीं पहुँच गए, जिससे विषमशील को सधन्यवाद नमस्कार करके वे एक ओर को प्रस्थित हुए। इधर विषमशील और वीरवर इस सिंह को तक्षशिला पहुँचाने का ग्रामीणों द्वारा प्रबंध करके स्वयं भी पलटे। मार्ग में दोनो मित्र सिंधुक और सोमदेव भी मिले। सबों ने एक-एक व्याघ्र और मारा था। ये पाँचों शव समय पर तक्षशिला पहुँचे,

तथा इनके चर्म प्रवीण चर्मकारों द्वारा बनवाए जाकर अपने-अपने मृगयार्थी के कक्षों में लगाए गए।

(स) सामाजिक विचार

एक दिन, सोमदेव की अनुपस्थिति में, रूपरेखा की विषमशील से बातें सखी के साथ होने लगीं—

सखी—विषमशीलजी ! आपने हमारी राजकुमारी को यहाँ विद्या-लाभ का उपदेश तो दिया, किंतु किसी मुख्य विषय पर कोई शिक्षा न दी।

विषमशील—शिक्षा मैं क्या देता? मैं ही कौन बड़ा पंडित हूँ? यदि कुछ पूछतीं, और मुझे वह ज्ञात होता, तो अवश्य बिनती कर देता।

रूपरेखा—अच्छा, यही पूछती हूँ कि स्त्री-पुरुष के मुख्याति-मुख्य गुण क्या हैं, जिनसे वे अनुकरणीय समझे जायँ?

विषमशील—प्रश्न भारी है, देवीजी ! किंतु उत्तर बहुत सूक्ष्मता-पूर्वक देता हूँ कि पुरुष का काम है यथासाध्य गार्हस्थ्य संपन्नता-परिवर्द्धन तथा स्त्री का कार्य है प्राप्य वस्तुओं से कुटुंब का भली भाँति परिचालन अथच सारे कुटुंबियों की सुख-सामग्री का वर्द्धन।

सखी—यह तो साधारण उत्तर है।

विषमशील—है अवश्य ऐसा ही, किंतु इस पर समुचित कौशल से चलने पर जीवन का सुख तो बढ़ेगा ही, जीवनावधि भी वर्द्धमान होगी। स्त्रियों को विशेष परिश्रम की आवश्यकता न होकर समीक्षा-शक्ति को बढ़ाना योग्य है।

सखी—तब प्रथम समीक्षा यही है कि आपने लाट में पहले तो हमारी सखी की अत्युक्ति-पूर्ण प्रशंसा की, और पीछे निराशा का भाव प्रकट कर दिया, इसका क्या तात्पर्य था?

विषमशील—मैंने पहले ही क्षमा माँगकर तथा व्यंजनाभव भावों की वृद्धि अवरुद्ध करके कथन किए थे, जो केवल सौंदर्य-विवर्द्धन अथच उसी के स्थिरीकरण से संबद्ध थे। तो भी ध्वनि-भेद का सांगोपांग प्रयोग मेरे न चाहते हुए भी हुआ। मुझे अद्यावधि ब्रह्मचर्य का विशेष अनुभव है, किंतु प्रेम-प्रदर्शन अथच उसकी याचना में अनभिज्ञप्राय रहा आया हूँ। तो भी आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर ही ली। अतएव आशा करता हूँ कि वक्रालोचना का अवसर न समझा जाय।

रूपरेखा—कथन आपका पूर्णतया औचित्य-गर्भित था। कहते ही हैं कि शीघ्रता में निर्णय करके यावज्जीव पछताने की बात मूर्खता-मिश्रित है। वास्तव में यह जानने की आशा है कि जब आपके इच्छानुसार मैंने यहाँ तीन वर्षों का श्रम स्वीकार किया है, तब अध्ययन भी ऐसा हो, जिसमें मुझे संतोष हो ही, तथा आपकी भी पूर्ण प्रसन्नता रहे।

विषमशील—देवीजी! आपकी इतनी कृपा के लिये मैं शतशः धन्यवाद देता हूँ, तथापि ऐसी धृष्टता मुझमें न थी कि आपको इतना कष्ट देता। मेरा प्रयोजन तो इतना ही था कि ऐसी बड़ी राजकुमारी विना स्थिति, आचरण आदि का समुचित ज्ञान प्राप्त किए एक चित्राकार-मात्र पर अनुरक्त न हों। तीन वर्ष यहाँ साथ रह-कर हम दोनो एक दूसरे को भली भाँति जान लेंगे, जिसमें दो में से किसी को भी अंत में निराशा अथवा पश्चात्ताप का अवसर न आवेगा। नियम तो इतना ही था कि जब तक कोई विशेष दोष न हो, तब तक स्वीकृति है। विद्याध्ययन देवीजी का ठीक चल रहा है, और मेरा भी।

रूपरेखा—तो भी मैं चाहती हूँ कि आपकी सम्मतियों का ज्ञान मुझे हो जाय, विशेषतया बृहत्तर विषयों पर।

विषमशील—जैसी मैंने अभी बिनती की थी, देवियों की समीचीन आलोचना-शक्ति बढ़ानी मेरी समझ में योग्य है। उसके कथनोपकथन में हम दोनो के सम्मत भी प्रकट हो जायँगे। प्राचीन समय से प्रधान भारतीय दंपतियों पर विचार हो जाय, जिसमें संभवतः हम दोनो के मत मिल सकेंगे।

रूपरेखा—अच्छा, सबसे प्रथम सम्राट् ययाति की रानियों पर विचार हो। मेरी समझ में शुक्र-तनया देवयानी ने अपने पिता के बल पर राजा वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा को दासी बनाने में भारी भूल की, और उससे भी बड़ी भूल उसे पति-सदन में दासी की भाँति साथ ले जाने में की।

विषमशील—ऐसी दशा में उसके राजकन्या होने से ययाति की अनुरक्ति स्वाभाविक थी, जो हुई भी। देवयानी की बृहत्तम भूल थी पिता से पति को शापित कराना, जिससे उनके ज्येष्ठ पुत्रवाला यौवराज्य का अधिकार भी गया। यह आलोचना ऐसी सुगम थी कि विचार-प्राबल्य की इसमें आवश्यकता ही न थी।

रूपरेखा—तब कोई और विषय उठाइए।

विषमशील—मतभेदवाला यह कठिन विषय है कि सम्राट् भरत की तीन रानियाँ थीं। उनके तीन-तीन पुत्र थे। उन सबको महाअयोग्य मानकर सम्राट् ने रानियों के द्वारा ही उन्हें वध-दंड दिलाया, तथा बिदथिन भरद्वाज को दत्तक पुत्र करके अपना युवराज बनाया। इस पर क्या विचार है?

रूपरेखा—यह तो बड़ा ही कठिन प्रश्न है। अयोग्यता-भर के लिये वध-दंड अनुचित है ही, फिर भी विचार यह होता है कि यदि वे जीवित रक्खे जाते, और सम्राट् किसी अन्य को उत्तराधिकार देते, तो राज्य में प्रचंड विग्रह अवश्य उठता, जिससे लाखों निरपराध लोगों का वध युद्धादि में होता। संभवतः ये पुत्रगण नर-वध के भी दोषी

हों। उन्होंने राजकीय उत्तरदायित्व तथा प्रजा-वत्सलता को इतनी महत्ता दी कि पितृप्रेम पूर्णतया डूब गया। फिर भी उनकी प्रचंड आज्ञा को अनुचित कहने का साहस नहीं होता। इतना प्रश्न तो भी रह जाता है कि घातक का कठिन एवं असह्य कार्य रानियों से ही क्यों लिया गया? यदि रानियाँ ऐसी कठोर आज्ञा का पालन न करतीं, तो अनुचित न था। यही मेरी सम्मति है।

विषमशील—इसमें मतभेद नहीं है। अच्छा, अब राम और सीता के दांपत्य प्रेम-संबंधी आचरणों पर विचार हो।

रूपरेखा—प्रेम तो उनमें अथाह था, किंतु सीताजी ने वियोग न सह सकने का जो मानसिक दौर्बल्य दिखलाकर वन में भी साथ न छोड़ा, उसी से उन दोनो पर विपत्ति आई। इस बात में भी उन्होंने प्रेम का परम गंभीर उदाहरण दिखलाया अवश्य, किंतु वन में संभव कठिनाइयों पर समुचित ध्यान न देने की भूल कर दी।

विषमशील—भूल क्यों की? जानती वह भी होंगी, किंतु वियोग सह न सकीं। आत्मसंयम की कमी से विपत्तियों में पड़ीं, यद्यपि समय के साथ वह संयम भी प्राप्त करके वाल्मीकि के आश्रम में वही वियोग असह्य न था, ऐसा प्रमाणित कर दिया। अच्छा, राम द्वारा उनके निर्वासन का कार्य कैसा था?

रूपरेखा—उनके दांपत्य प्रेम में तो न्यूनता तिल-मात्र न थी, केवल प्रजा में अपना आचरण उच्च दिखलाने का राजधर्म उन्होंने सर्वप्रथम कर्तव्य समझा, चाहे प्रजा का विचार स्वयं उन्हीं की ज्ञात घटनाओं से अशुद्ध था। इस स्थान पर न तो राम का आचरण दोष देने योग्य था, न सीता का।

विषमशील—धन्य देवीजी! आपमें निर्णयकारिणी शक्ति अवश्य बढ़ी-चढ़ी है। अच्छा, अब श्रीकृष्ण पर विचार हो।

रूपरेखा—उनकी सोलह सहस्र रानियों के संबंध में पौराणिक

विवरण अत्युक्ति-पूर्ण तथा अमान्य हैं; तो भी नौ रानियाँ होंगी ही। सबके साथ स्वभावशः योग्य दाक्षिण्य भाव न दिखला सके। रुक्मिणी और सत्यभामा का सोहाग गुरुतम हो गया, जिसमें इतरों के साथ अन्याय प्रत्यक्ष ही है। यह तो कोई कठिन प्रश्न दिखता नहीं।

विषमशील—बात ऐसी ही है। अच्छा, अब गौतम बुद्ध पर विचार हो।

रूपरेखा—उनका पत्नी त्याग किसी अनुचित भाव पर आधारित तो था नहीं, वरन् परमोच्च धार्मिक भावों से प्रेरित होकर उन्होंने ऐसा किया। यदि पहले ही से विवाह न किए होते, तो और भी अच्छा होता, किंतु जहाँ सारे संसार की हानि-लाभ का प्रश्न आ जाता है, वहाँ व्यक्तिगत कर्तव्य डूब सकते हैं। ऐसे समयों पर उन्हें कोई दोष नहीं दे सकता। पहले से अपने गृह-त्याग-संबंधी विचार दृढ़ न किए होंगे।

विषमशील—देवीजी महोदया ! आपकी आलोचना-शक्ति ऐसी बढ़ी हुई है कि अब यह बात आगे चलानी अनावश्यक हो गई है। अब आप ही जो चाहिए, मुझसे पूछिए।

रूपरेखा—मैंने तो आपके संबंध में अत्यंत शीघ्रता करने में भूल अवश्य की, किंतु यदि ऐसा न करती, और विदेशी होने से आप नौ-दो-ग्यारह हो जाते, तो कहाँ खोजती फिरती ? इतना आपको भी मानना पड़ेगा कि केवल गुण-श्रवण तथा रूप-दर्शन द्वारा मैंने क्षण-भर में जो निर्णय कर लिया, वह दश वर्ष विचार करने के पीछे भी उतना ही दृढ़ निकलता।

विषमशील—संसार के रुचि-प्रधान होने से आपका वर्तमान विचार दृढ़ दिखेगा ही, यद्यपि मैं अपने में इस कृपा के योग्य गुण नहीं पाता। अपने विषय में तो भी कहूँगा कि मेरा देवीजी के संबंध का ज्ञान केवल रूप-दर्शन पर आधारित होने से अधूरा था, यद्यपि

यहाँ के अनुभव से मैं आपको अपने से शत बार श्रेष्ठतर समझता हूँ।

रूपरेखा—यह अत्युक्ति है।

अनंतर तीनो व्यक्ति नमस्कारादि के पीछे अपने-अपने स्थानों को जाते हैं।

सातवाँ परिच्छेद

गुप्त मंत्रणाएँ

(अ) भूमक और लाट

उज्जयिनी से परम रुष्ट भाव-पूर्वक चलकर बदला लेने के विचारों में चूर्ण कालकाचार्य अपने कुछ शिष्यों-सहित यत्र-तत्र भ्रमण करने लगा। उसके एक पट्ट शिष्य ने पूर्ण भाव जानकर ज्ञान-प्राप्ति के व्याज से शिष्योचित तर्कों द्वारा उसे प्रकारांतरों से बहुत समझाया कि संसार-त्यागियों के लिये बदला लेने का भाव बहुत गर्हित था, तथा इसमें संन्यासिनी सरस्वती की स्वच्छंदता पर अनुचित दंश था, किंतु वह अपने हठ के वश में इतना हो चुका था कि एक न मानता था। शिष्य ने बहुतेरा कहा कि जब स्वसा ने भूल ही से सही, एक बार संन्यास छोड़कर गृहस्थाश्रम ग्रहण कर लिया, तब उसी आश्रम का झूठा-सच्चा सुख उसे भोगने दिया जाय, अथच गंधर्वसेन के प्रतिकूल साफल्य से भगिनी का भी अहित होने को था, किंतु कालक को यही समझ पड़ा कि उसकी भगिनी जब फुस-लाई और मूर्खा बनाई जाकर उस (कालक) के द्वारा समझे हुए सत्य मार्ग से डिगाई गई, तब ऐसे नीच से प्रतिशोध आवश्यक था, उसमें स्वयं भगिनी का ही अपकार भले ही हो। शिवियों, गुर्जरों, कुनिंदों, मित्र साम्राज्य आदि में फिरते हुए उसने कहीं अपने विचारों का अनुमोदन इस सौहार्द के साथ न पाया कि कोई शक्ति मालवों से युद्धार्थ प्रस्तुत हो जाती। बहुतेरे स्थानों पर उसे वैसे ही उपदेश

भी मिले, जैसे उपर्युक्त पट्ट शिष्य के विचार थे। अनंतर अपने दुष्टता-गर्भित हठ के रक्षणार्थ उसे स्वदेश के शत्रु शकों में भी प्रयत्न करना पड़ा। उस काल सिंधुदेशीय ९६ शक-शाहियों में से कुछ की अन-बन शक-शाहानुशाही से ही हो गई थी। अतएव इस देश-द्रोही आचार्य ने उन शाहियों में से भूमक को योग्य अथच उत्साही समझ-कर उसके देश में प्रयत्न करने का निश्चय किया।

अब यह आचार्य समझा जानेवाला संसार-त्यागी देश-द्रोही भूमकीय राजधानी में जाल फैलाने लगा। इसने यत्र-तत्र पृथ्वी में गुप्त भाव से न्यूनाधिक धन गाड़-गाड़कर अपने तद्देशीय मूर्ख भक्तों में से कुछ को योग-बल दिखलाते हुए धन खोदवा दिया। जब इस प्रकार की चार-छ घटनाओं से इस दुराचारी का यश न्यूनाधिक फैला, तब वहाँ के दो-एक मंत्री भी आ-आकर इस "सिद्ध" वंचक से मिलने लगे। उन्होंने अपनी कई राजकीय कठिनताओं को बतला - बतलाकर इससे मंत्र पूछा, तो इसने स्वयं शाह को उचित उपदेश देने की इच्छा प्रकट की। जब शाह भूमक ने ये बातें सुनीं, त बपहले तो उसे बहुत संदेह हुआ कि एक क्रूर देश-द्रोही का विश्वास कैसे संभव था, किंतु जब मंत्रियों ने चैतन्यता न छोड़ते हुए प्रयत्न करने का मंत्र सहठ दिया, तब उसने भी इस आचार्य को बुलवाकर बात की, तथा विचार मानकर सिंध छोड़ सौराष्ट्र में उपनिवेश जमाने का प्रयत्न किया, जो साधारण बल की ही सहायता से सिद्ध हो गया, क्योंकि उस ओर किसी सशक्त भारतीय राज्य का अभाव न था। अब भूमकीय साफल्य से प्रोत्साहित हो कई और सिंधी शक शाहियों ने भी सौराष्ट्र में प्रभाव फैलाया, यहाँ तक कि इन सबके सिंधी राज्य छूट ही गए, क्योंकि उधर शाहानुशाही के प्रतिकूल इनका बल टिकाऊ नहीं हो सकता था।

अनंतर कालक का उनमें मान बढ़ा, विशेषतया भूमक के राज्य में, और इसके विचारानुसार उसने कादर लाट-नरेश पर भी मित्रता के व्याज से न्यूनाधिक प्रभाव विस्तार किया। समय पर वीरवर विक्रमार्क ने गुर्जर तथा मालव-संगठन द्वारा इसे ध्वस्त कर दिया। यह दशा देखकर भूमक ने पहले तो कालक को लाट भेजा, जहाँ इसने शक-शक्ति का प्रतिनिधि बनकर उस कादर, प्रतिज्ञा में दुर्बल तथा स्वार्थी नरेश के स्वजातीय निश्चय को बहुत कुछ शिथिल किया। अनंतर स्वयं भूमक ने लाटेश से भेंट की, और यों बात हुई—

भूमक—कहिए राजा साहब! आपने हमारी दोस्ती को ज़लील समझकर एकाएक उससे हाथ क्यों खींच लिया? क्या आप एक मामूली शिवि क्षत्रिय की सलाह-भर से समझ गए कि शकों की ताक़त कोई चीज़ नहीं है? फिर दोस्ती तो हर हालत में क़ायम रहनी चाहिए, नतीजा कुछ भी हो।

लाटेश्वर—राजकीय मित्रता व्यक्तिगत मैत्री से भिन्न होती है। इसमें मुख्यता स्वराज्य-रक्षण की रहती है। मैं शक-शक्ति को गई-बीती कभी नहीं समझता। मैं तो आप लोगों का सेवक तक बनने को प्रस्तुत था, और अब भी हूँ, किंतु राजनीतिक मित्रताएँ तथा शत्रुताएँ बलाबल के विचारों पर समुचित ध्यान देकर ही की जाती हैं। क्यों महामंत्रीजी!

लाटीय महामंत्री—यही बात है, अन्नदाता! (भूमक से) ग़रीबपरवर! उस काल अस्मदादिक को दिखा कि उत्तरीय गुर्जर-राज्य और मालवों की मिलित शक्ति का सामना करना अपने लिये दुस्तर था। संधि क्या हुई, एक प्रकार से युद्ध का होना बचाकर अपने राज्य का रक्षण-मात्र किया गया। देववाली शक्ति के प्रतिकूल अपनी संधि में तो कोई धारा है नहीं। उन तीनों शक्तियों का मिलकर चलना-मात्र स्थिर है।

भूमकीय वज़ीर आज़म—है क्यों नहीं महामंत्रीजी! आप लोग तीनों में से किसी के भी दोस्त व दुश्मन को हरएक का दोस्त व दुश्मन मानते हैं।

महामंत्री—इससे क्या होता है? कुछ ऐसा तो होना अनिवार्य नहीं कि कोई राष्ट्र अपने प्रत्येक शत्रु से अवश्य युद्ध ठाने। सैकड़ों शत्रुताएँ बनी रहती हैं, किंतु सदैव युद्ध थोड़े ही हुआ करते हैं।

भूमक—तो क्या लाट रियासत पोशीदा तरीक़े से हमसे ऐसी सुलह करने को तैयार है कि अगर हम से कभी इन ताक़तों से मुठभेड़ हो, तो आप लोग हमारे मुक़ाबिले में शरीके-जंग न होंगे?

लाटेश—इसमें क्या हानि है?

वज़ीर आज़म—मगर हुज़ूर! इतने से क्या काम चल सकता है? अपना असली मंशा तो हमेशा ऐसा था कि मालवों से अगर लड़ाई हो, तो लाट से अपने को मदद मिले।

महामंत्री—ऐसी कोई संधि तो थी नहीं, देव ने केवल वार्तालाप में दो-चार बार ऐसा भाव-मात्र प्रकट किया था।

वज़ीर आज़म—मर्द की तो बात एक होती है।

महामंत्री—हमारे सम्राट् अपने वचनों से पीछे हटनेवाले भी नहीं हैं, किंतु ऊँच-नीच देखकर काम किया जाता है। धधकती आग में कोई थोड़े ही कूदता है।

वज़ीर आज़म—ऐसी बड़ी ताक़त मालवों की कब है? अपने को शुमाली गुजरात से तो ज़ोर-आज़माई करनी नहीं है, जब कभी जंगो जदल छिड़ेगा, तब मालवों से ही। उम्मीद क़वी है कि जब तक शुमाली गुजरात की फ़ौज उनकी मदद को पहुँचेगी, तब तक यहाँ काम ही हो जायगा। अपना तर्ज़ तो ऐसा है, जैसे बिल्ली उछलकर चूहे को दाब लेती है।

लाटेश—तो भी मैं मालव-शक्ति-मात्र को ऐसी साधारण नहीं समझता कि केवल हम दोनो मिलकर उसे पछाड़ सकें। उन वीरों में मालव-संघ के प्रति असीम श्रद्धा है। अभी उनके सम्मुख युद्धोन्मुख होने की नीति को सुयशवर्द्धिनी नहीं समझता।

भूमक—है सम्राट् की राय में भी बहुत कुछ ग़ौर। अच्छा, अगर मथुरा से महाक्षत्रप राजबुल की ताक़त भी अपनी मदद पर हो, तब तो राजा साहब को शुबहा न होगा? ख़ूब समझ-बूझकर जवाब दिया जाय।

महामंत्री—जब एक बार उनसे मैत्री की संधि हो चुकी है, तब निष्कारण वह भंग कैसे की जा सकती है? उनकी सहायता न करनी एक बात है, किंतु उन्हीं से युद्ध में ही प्रवृत्त हो जाना देखने में भी अच्छा न लगेगा, जब तक कोई आत्मीय कारण न हो।

भूमक—अगर राजा साहब का भी यही ख़याल हो, तो हम लोगों की पुरानी दोस्ती टूटती है। ऐसी हालत में हमारी व मथुरा की ताक़त को पहले लाट पर ही यूरिश करने को शायद मजबूर होना पड़े।

लाटेश—नहीं हुज़ूर! महामंत्रीजी ने विना मेरी सम्मति के अपनी निजू बात कह दी है, अभी तक लाट का निर्णय ऐसा नहीं है।

भूमक—यही तो मैं भी समझता था। आपकी पुरानी दोस्ती से उम्मीद क़वी थी व है कि जिस सूरत में लाट के ऊपर ख़ौफ़ का सवाल न हो, तब आप हमारी मदद पर ज़रूर होंगे। मैं समझता हूँ, अगर मैं मथुरा से मामला तय कर लाऊँ, तो लाट को शक बाक़ी न रहना चाहिए।

लाटेश—यही बात है।

भूमक—अच्छा, फिर कीजिए हातिमी वादा।

लाटेश—हाँ, करता ही हूँ।

भूमक—(महामंत्री से) आर्य ! अब आप भी असली बात फ़र्मा दीजिए।

महामंत्री—जब देव ही वचन-बद्ध होते हैं, तब मैं क्या कुछ और कह सकता हूँ ?

वज़ीर आज़म—तो यक़ीनी तरीक़े से वादा हो रहा है क्या ?

महामंत्री—अवश्य।

इस प्रकार निश्चय हो जाने पर यह गुप्त सभा भंग हुई, तथा इसी के अनुसार एक गोप्य संधि-पत्र प्रस्तुत हो गया।

(ब) माथुर शक

मथुरा में शक राजबुल अपने भ्राता षोडास का बहुत मान करता था। राजबुल का पुत्र खरओस त्तत्रप कहलाता था, और बेटी हन प्रायः मर्दाने वस्त्रालंकार धारण करके मृगयादि को भी जाती थी। ऐसी दशा में वह अपने को हनेंदुदेव कहती थी। एक दिन पिता के पास जाकर उसने निवेदन किया—

हनेंदुदेव—अब्बाजान ! मुझे आपने बेटी क्यों बनाया ? भाई खरश्रोस की तरह मुझे भी बेटे का दर्जा क्यों न दिया ?

राजबुल—कैसी पगली है ? अरे, क्या यह मेरे अख़्तियार में था ? तू तो मर्दाने तरीक़े से रहती है, अपने को बेटा ही समझकर। मैं कब इनकार करता हूँ ?

हनेंदुदेव—आजकल मैं तक्षशिला के विद्यापीठ में भरती होकर हर हफ़्ते में सिर्फ़ तीन दिन वहाँ रहकर इल्म हासिल करना चाहती हूँ। क्या इसकी इजाज़त अता हो सकती है ?

राजबुल—क्या हर्ज है ? दो क़ाबिल-एतबार लोग अलावा मामूली ख़ादिमों के साथ रख लेना।

हर्नेंदुदेव – बहुत बजा इर्शाद होता है।

राजबुल—(षोडास से) क्यों बिरादर ! मित्रों की ताक़त तो अब बाक़ी है नहीं, मगर कुनिंद गणराज्य अभी अपने को दब नहीं रहा है। उसके बाबत क्या सलाह है ?

षोडास—वहाँ का गणमुख्य अमोघभूति है तो अच्छा बहादुर। उसकी बेटी चित्रा भी ख़ूबसूरती में एक ही है। पहले तो यही कोशिश करता हूँ कि वह अपनी बेटी हुज़ूर को या मुझे ब्याह दे। अगर ऐसा हो जाय, तो दोस्ताना क़ायम हो सकता है, वरना लड़ना पड़ेगा ही।

राजबुल—मैं अब शादी क्या करूँगा ? तुम्हीं कर लेना। तुम्हारी बीबी भी मौजूद नहीं है।

षोडास—जैसा हुक्म होगा, वही किया जायगा।

राजबुल—एक मर्तबा तो कुनिंद की अच्छी दंदाँशिकनी हो चुकी है, मगर हनोज़ होश ठिकाने नहीं हैं।

खरओस—तो क्या हुआ, अब्बाजान ! अब ठीक हो जायँगे।

राजबुल—इन दिनों भाई भूमक आनेवाले थे, कुछ हाल नहीं मिला।

षोडास—वह तो आ ही चुके हैं, बल्कि हुज़ूर के क़दमों में भी हाज़िर होनेवाले हैं। जैनों का एक फ़क़ीर भी साथ लाए हैं, जिसे कालकाचार्य कहते हैं।

राजबुल—तब बुलाते क्यों नहीं ?

षोडास—अभी बुलाता हूँ। (कुछ ऊँची आवाज़ से) अरे कौन है ? (एक नक़ीब का आना।)

नक़ीब—हुक्म हुज़ूर !

षोडास—चत्रप भूमकजी को अभी इज़्ज़त से बुलवाओ।

नक़ीब—जो हुक्म। (नक़ीब का प्रस्थान। भूमक और कालकाचार्य का प्रवेश। दोनो सलाम करके बैठते हैं।)

राजबुल—कहो भाई भूमक! अच्छे तो हो? यह बाबाजी कौन हैं?

भूमक—हुज़ूर! यह बाबाजी राजाधार के बेटे हैं, मगर फ़क़ीर होकर कालकाचार्य कहलाते हैं। इनकी बहन सरस्वती भी संन्यासिनी थी, जिसे फुसलाकर मालव-राजा गंधर्वसेन ने घर डाल लिया है, जिससे निहायत नाशाद होकर आप उससे बदला लेना चाहते हैं। इसलिये मेरे दिली दोस्त हो गए हैं। इन्हीं की सलाह से मैंने सिंधी शाही छोड़कर सौराष्ट्र में रियासत क़ायम की है।

षोडास—क्या आजकल मालवों पर हमला करने के इरादे हैं?

भूमक—बग़ैर उनको पस्त किए उस तरफ़ अपना दबदबा भी तो नहीं बैठ सकता। यह बाबाजी उधर के सूबेजात का काफ़ी इल्म रखते हैं। इनकी मदद से उज्जयिनी पर भी हमला हो सकता है। इनकी सिदाक़त पर किसी क़िस्म का शको शुबहा नहीं हो सकता, क्योंकि अलावा अपने फ़वायद के आप ख़ुद गंधर्वसेन के जानी दुश्मन हैं।

राजबुल—बात तो तुक की बैठती है, क्यों न षोडास!

षोडास—है तो ग़रीबपरवर यही बात। (भूमक से) सुना, उधर लाट के राज्य से ज़ाहिरा सुलह तो मालवों से हो है, मगर ख़ुफ़िया आपसे भी हो चुकी है।

भूमक—ज़रूर ख़ुदावंद नेमत!

हर्नेदुदेव—जो ज़लील शख़्स एक सल्तनत से सुलह करके अंदरूनी तरीक़े से उसके ख़िलाफ़ लड़ने को भी तैयार हो, उसका एतबार ही क्या किया जा सकता है? मामूजान!

भूमक—बात तो बेटी ! ऐसी ही है, मगर सल्तनत के अमूर में सभी तरह के लोगों से काम निकालना पड़ता है।

हर्नेंदुदेव—उसका बेटा तक्षशिला में आजकल पढ़ता है। उसे तो मैं बहुत लायक़ समझती हूँ।

भूमक—बहरहाल हम लोगों का साबिक़ा उसके वालिद से है। उम्मीद है, वह मदद हमारी ज़रूर करेगा, लेकिन इसी शर्त से कि अगर पहले रियासत हाज़ा उज्जयिनी पर हमला करके हमारी दोस्ती में पूरे तौर से मुस्तहकम हो।

राजबुल—इसमें तो कोई मुश्किल नहीं है। क्यों बिरादरे अज़ीज़!

षोडास—बहुत मुनासिब हुक्म हो रहा है। इधर शुमाल से अपनी फ़ौज हमलावर हो, और उधर मग़रिब से भूमकजी और लाट की।

भूमक—यही बात है, खुदावंद नेमत !

षोडास—इधर से बसूरत फ़ौजकशी बाबाजी से क्या मदद मिल सकेगी ?

कालक—मैं आपके साथ रहकर ठीक रास्ते से फ़ौज ले जाऊँगा, दुर्ग पर अधिकार करा दूँगा, तथा उज्जयिनी पर ऐसे डौल के साथ योग्य स्थानों से आक्रमण कराऊँगा कि शत्रु प्रतीकार न कर सकेगा।

राजबुल—तब तो अच्छी बात है। यह धावा कब तक हो सकेगा ?

षोडास—इंतिज़ाम में अभी साल-दो साल का लग जाना लाज़िमी है ही।

हर्नेंदुदेव—मैं समझती हूँ, लाट से अगर मदद मिले, तो वक़्त पर उसकी भी मदद मामूजान व नीज़ अब्बाजान पर लाज़िम आ ही जायगी। मुम्किन है, दुश्मन कभी उस पर यूरिश करे।

भूमक—यह तो बात ही है, बेटीजान ! लाट की मदद हम लोगों पर ऐसी सूरत में लाज़िम हो ही जायगी ।

राजबुल—तब फिर ख़ुफ़िया तरीक़े से इसका इंतिज़ाम मथुरा और सौराष्ट्र, दोनो जगहों से शुरू कर न दिया जाय ?

भूमक—बहुत ही अच्छी बात है । मैं तो यही मुराद लेकर इस मर्तबा हाज़िर ख़िदमत हुआ ही था ।

(स) तक्षशिला के शक

वहाँ पर क्षत्रप लिअक और पतिक कुसलस का राज्य था । इन लोगों का एक लेख भी संवत् पूर्व २१ का मिला है । आए सभी भारतीय शक सिंध से ही थे । तक्षशिला में पहले माउअस शक (१२० बी० सी०) का राज्य था । अनंतर कुसलस शकों का हुआ । ये बौद्ध थे, और तक्षशिला-विद्यापीठ को उन्नत रखना चाहते थे । इसीलिये देश-देश के युवराज तथा अन्य क्षत्रिय और ब्राह्मण-कुमार यहाँ पठनार्थ निर्भयता-पूर्वक आते थे । मालवों का शकों से विशेष विरोध होने से विक्रम ने गुप्त रूप में आना योग्य समझा था, नहीं तो साधारणतया अन्य विद्यार्थी यहाँ प्रकट रूप से विद्या-लाभ करते थे । जब भूमक और कालक की कार्य-सिद्धि मथुरा में हो गई, तब उन्होंने तक्षशिला में जाकर भी सहायता-प्राप्ति का प्रयत्न किया । लिअक और पतिक ने गुप्त मंत्रणा-गृह में उनसे बात की ।

लिअक—कहिए क्षत्रप साहब ! आपने बहुत दिनों में नवाज़िश की । ऐसा कौन-सा काम आ पड़ा, जिससे इस क़दर तकलीफ़ करनी पड़ी ?

भूमक—जनाबेमन ! हम लोग हिंदुस्तान में वारिद तो थोड़े ही ज़माने से हुए हैं, मगर दबदबा अपना अच्छा क़ायम हो गया है । तक्षशिला, मथुरा और सौराष्ट्र में अपनी ताक़त अच्छी चल रही है । हैं तो ये तीनो ताक़तें इलाहिदा-इलाहिदा, मगर आपसी कोशिशों में

अगर मिली न रहें, तो यहाँ के राजा लोग मिलकर हम लोगों को नेस्तो नाबूद कर सकते हैं। आजकल जनूब में अपनी ताक़त अच्छी बढ़ रही है, मगर जब तक मालवों को ज़ेर न कर लेंगे, तब तक अपने फैलाव की ख़ामी क़ायम ही रहेगी।

लिअक—है तो एक तरीक़े से यही बात, मगर अपने असर तीन अतराफ़ से बढ़ रहे हैं। सबसे पहली कोशिश इधर तक्षशिला से ही चली, मगर मथुरा में जो नई सल्तनत तेज़ी से क़ायम हो गई है, उससे इधर तक्षशिलावालों का फैलाव अलावा कुनिंद के जनूब की जानिब ही मुम्किन रह गया है। कुनिंदवालों से अपने मरासिम कई सालों से दोस्ताना चले आते हैं। ऐसी हालत में अगर हम यह दोस्ती क़ायम रक्खें, जैसा कि मुनासिब समझ पड़ता है, तो सिर्फ़ जनूब ही की जानिब अपने फैलाव की सूरत नज़र आ रही है। उधर मालवों की और हमारी सल्तनत के दर्मियान अभी कई रियासतें हैं, जिन्हें बग़ैर ज़ेर किए या मददगार बनाए हम लोगों का मालवों से साबिक़ा पड़ ही नहीं सकता। ऐसी सूरत में इस रियासत से आप क्या मदद पा सकते हैं? अौवल तो हनोज़ अपनी उनसे कोई ख़सूमत नहीं। दोयमश, अगर क़ौमी तरक़्क़ी के ख़याल से आपकी मदद करनी भी चाहें, तो हमारी फ़ौज उधर पहुँच कैसे सकती है?

भूमक—यह इंतिज़ाम तो दर्मियान में पड़नेवाली एकाध रियासत से अहद पैमान कर लेने से मुम्किन है।

पतिक—मुम्किन तो सब कुछ है, मगर बशर्ते नाकामयाबी, या उस रियासत के किसी वजह से मालवों का दोस्त हो जाने से अपनी फ़ौज पर वापसी में भारी जोखिम की सूरत हो सकती है। अगर उधर फ़ौज भेजी जाय और कुमक के लिये यहाँ से नई फ़ौज भेजने की ज़रूरत हो, तो भी नई मुश्किल सामने आ सकती है। फिर

बशर्ते फ़तहयाबी अगर अपने को उधर कोई सूबेजात मिलें, तो इतनी दूर से उनका इंतिज़ाम मुश्किल होगा।

लिअक्ष—ऐसी सूरत में हालाँकि हमको आपसे क़वी हमदर्दी है, ताहम कोई अमली सूरत नज़र में नहीं आ रही है। जनाब खुद ख़याल फ़र्मा लेवें।

भूमक—बात तो हुज़ूर की ठीक समझ पड़ रही है, मगर जिसका काम सामने रहता है, वह अपने सवाल के ख़िलाफ़ अयूब नहीं देखता। हमारे बाबाजी एक जैन आचार्य हैं। इनको उम्मीद थी कि इस बौद्ध ताक़त से सनातनधर्मियों के ख़िलाफ़ मदद ज़रूर मिलेगी।

कालक—यही मेरा विचार था, धर्मात्मा! कहते ही हैं कि "अर्थी दोषं न पश्यति।"

पतिक—बात तो ठीक है, मगर यहाँ से कोई इंतिज़ाम मुम्किन नहीं समझ पड़ता।

भूमक—है तो यही बात। अच्छा, इस वक़्त मजबूरी है। कभी आगे मौक़े से देखा जायगा।

आठवाँ परिच्छेद

तक्षशिला में हर्नेंदुदेव

(अ) हर्नेंदुदेव और विक्रम

जब तीनों मित्रों-सहित विक्रम मृगया से पलटकर साधारण कार्य में लगे, तभी, दो ही तीन दिनों के भीतर, हर्नेंदुदेव भी विद्या-पीठ में प्रविष्ट हो गए। इनका कक्ष विक्रमवाले के निकट रक्खा गया। प्रतिसप्ताह तीन दिन आप विद्यापीठ में रहते थे, तथा चार दिन पिता के राजकीय प्रबंध में योग देते थे। इन्होंने समर-कौशल का कुछ अभ्यास किया, तथा कई ऐसे विषय भी लिए, जो स्त्री-विद्यार्थी लिया करती थीं। दो तीन मास पीछे विक्रम को इस बात से कुछ आश्चर्य होकर इनसे बात भी हुई—

विषमशील—हर्नेंदुजी! मुझे स्मरण आता है कि मैंने कई बार यहाँ आपको देखा भी था।

हर्नेंदुदेव—यही बात है, दोस्तमन! मैं यहाँ अक्सर आया किया हूँ, और आपको देखने के भी मुतादि्द मौक़े मिले, मगर इत्तिफ़ाक़ से कभी बात न हुई। आप पढ़ाई में हमेशा ऐसे मशग़ूल नज़र आए कि कुछ कहना आपका वक़्त ज़ाया करना समझ पड़ा।

विषमशील—आप कुछ शीघ्रता में भी रहा करते थे। मथुरा की दूरी के विचार से यहाँ स्वल्प काल ही ठहरते थे।

हर्नेंदुदेव—मथुरा तो यहाँ से बहुत दूर है। जब आता था, तब ख़ेमों वग़ैरह से। ताहम फ़ुज़ूल वक़्त ज़ाया न किया करता था।

विषमशील—यही बात है। राजकीय प्रबंधों के कारण आपको समयाभाव रहा ही करता होगा।

हर्नेदुदेव—था कुछ यह भी, मगर यों ही बात न हुई, हालाँकि आपसे मिलने की मुझे क़वी ख़्वाहिश न-जाने क्यों हो गई थी। जब बोलना चाहता था, तब कुछ शरम-सी लग आती थी।

विषमशील—क्षमा कीजिएगा। बालक होकर भी आप बालिकाओं के-से कई गुण धारण किए हुए हैं। विद्या-संबंधी पठन में भी उन्हीं के कई विषय लिए हैं। आपकी सारी बातें कुछ अनोखी-सी हैं। भला, मुझसे बात करने में लज्जा की क्या बात थी?

हर्नेदुदेव—ग़लती थी, दोस्त! मुआफ़ कीजिएगा। लड़कियों के पाठ जो मैं पढ़ता हूँ, उसकी वजह यह है कि हालाँकि हम शक लोग बाहर के आदमी हैं, तो भी यहाँ हिंदुस्तानी ही बनकर रहना चाहते हैं। आप लोगों के धरम भी अपना रहे हैं।

विषमशील—इससे क्या?

हर्नेदुदेव—किसी ग़ैर क़ौम की असली शकल ज़नानख़ानों से ही मालूम होती है। उन्हीं के ख़यालात, रसूमात, काम-काजों के ढंग, रहन-सहन वग़ैरह से किसी की क़ौमियतवाली ख़सूसियतों के वजूहात का पता चलता है। इसीलिये मैं अंदर से हिंदुस्तान को सीखना चाहता हूँ।

विषमशील—धन्य है आपके भारतीय समाज-संबंधी प्रेम को! आशा है, हम लोगों को अति शीघ्र पूर्णता के साथ जान लेंगे।

हर्नेदुदेव—इसमें क्या शक है? अभी थोड़े ही दिनों से यहाँ आया हूँ, मगर आपकी भी बहुतेरी बातें जान चुका हूँ।

विषमशील—अच्छा, क्या-क्या आपने जाना?

इनेंदुदेव—एकबारगी सभी बातें कैसे बतला सकता हूँ? आहिस्ता-आहिस्ता मौक़ों पर अर्ज़ करूँगा।

विषमशील—भला, कुछ तो कहिए।

इनेंदुदेव—आपके निस्बत सख़्त तअज्जुब की यही बात है कि हैं तो आप खुद शिवि क्षत्रिय, लेकिन बीस ख़ास दोस्तों में एक कुलिंद हैं, और उन्नीस मालव। समझ यह भी पड़ता है कि उन लोगों की छिपे-छिपे कुछ मदद भी करते हैं, नहीं तो वे आपकी इतनी ज़्यादा इज़्ज़त क्यों करते?

विषमशील—तब समझ पड़ता है कि आपकी भी छिपे-छिपे कुछ सहायता करता हूँगा, नहीं तो आप इतना प्रेम क्यों करते?

इनेंदुदेव—मेरी तो खुली हुई मदद कर चुके हैं, छिपाकर करने की क्या बात रह गई?

विषमशील—खुली हुई कौन-सी सहायता की? मृगयार्थ निकला था, धनुष-बाण पास थे ही, सिंह सम्मुख आया ही, यदि सहायता का प्रश्न न होता, तो भी उसे मारता। ऐसी दशा में आपके आभारी होने का प्रश्न क्या? फिर भी प्रीति या कम-से-कम कृपा आप विशेष से भी अधिक करते हैं। इससे क्या नहीं सिद्ध है कि छिपाकर आपकी भी सहायता करता हूँ?

इनेंदुदेव—मतलब आपके कहने का शायद यह निकला कि उन लोगों से आपकी कोई ख़सूसियत वैसी ही नहीं है, जैसी कि मुझसे।

विषमशील—यह मैंने कब कहा? मुख्यता उनसे बहुत कुछ है, तथा आपसे भी। वे कृपा करते हैं, तथा आप भी। सज्जन पुरुष साधारण लोगों पर कृपालु रहते ही हैं। मेरे पास रक्खा ही क्या है, जो मैं किसी की सहायता करूँ? देखते ही हैं कि महाधनहीनों का जीवन व्यतीत करता हूँ।

हर्नेंदुदेव—तो भी मुझे आपकी ग़रीबी पर एतबार नहीं आता। मिस्कीनों के जबड़े ऐसे नहीं होते, जैसे आपके हैं। अगर कुछ भेंट करूँ, तो क्या मंज़ूर फ़र्मा सकते हैं? कोई मेहरबानी नहीं करता, सिर्फ़ दोस्ती के नाते से कहता हूँ।

त्रिपमशील—क्यों न लूँगा? जिस वस्तु की आवश्यकता होगी, अवश्य माँग लूँगा।

हर्नेंदुदेव—ये ही तो हीलेसाज़ी की बातें हैं। ज़रूरत कभी किसी चीज़ की बतलाइएगा ही नहीं।

त्रिषमशील—यह तो मैं भी मानता हूँ कि मुझमें कुछ-कुछ अनस्तुष्टि है। फिर भी इससे धनाढ्यता अथवा दरिद्रता का कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। तुष्टि धन से प्राप्य है तथा मानसिक शिक्षा से भी।

हर्नेंदुदेव—तो भी मेरा जी बोलता है कि आपके बीसों दोस्त मराआत से ख़ुश हैं। आपने तो मुझे सादिक़ दोस्ती का वरदान दिया था, फिर अब उस्तादी की बातें क्यों करते हैं? साफ़ क्यों नहीं कहते कि मेरा ख़याल ग़लत है या सच?

त्रिषमशील—जब मित्रता के नाते से बात करने लगे, तो जान लीजिए कि विचार आपका सत्य है, किंतु कहता यह विश्वस्तप्रकारेण गुप्त भाव से हूँ।

हर्नेंदुदेव—जब क़ौल हारे बैठे हैं, तब बात यों कीजिए, गोया हम लोगों की दोस्ती दस-बीस बरसों की हो।

त्रिषमशील—बीस वर्षों का तो अभी आपका जीवन भी नहीं है?

हर्नेंदुदेव—इससे क्या होता है? बात वैसी ही सफ़ाई से हो। यहाँ पढ़ने तो आया ही हूँ, मगर आपसे दोस्ती निभाना भी मेरे ख़यालात में उतना ही ज़रूरी है, जितना कि पढ़ना।

विषमशील—यह आपकी कृपा है। अभी हमारा-आपका साथ थोड़े ही दिनों का है, किंतु वचन-बद्ध होने तथा आपके हठ करने से पुराने मित्रों की भाँति व्यवहार करने को प्रस्तुत हूँ।

हर्नेदुदेव—बड़ी ही मेहरबानी हुई। (एक परमोत्कृष्ट हीरा-जड़ी तथा दूसरी वैसी ही पन्ना-जड़ी अँगूठी निकालकर) देखिए, ये अँगूठियाँ कैसी हैं?

विषमशील—बहुत ही श्रेष्ठ हैं। इनका मूल्य दश लक्ष पण से भी अधिक होगा।

हर्नेदुदेव—क्या इन्हें क़ुबूल फ़र्माकर मुझे मश्कूर कर सकते हैं?

विषमशील—मित्रों से कुछ प्रेम-भाव से लेना अनुचित तो है नहीं, क्योंकि शुद्ध मैत्री के पीछे अपना-पराया कुछ रह नहीं जाता। तथापि ऐसी बहुमूल्य वस्तुओं का संचय ब्रह्मचर्य-व्रत के क्या प्रतिकूल नहीं है?

हर्नेदुदेव—मैं भी तो यहाँ तालिबेइल्म हूँ, ऐसी राय ज़ाहिर करके आप क्या मुझे शर्मिंदा नहीं कर रहे हैं?

विषमशील—आप तो अपना प्रबंध-कार्य भी करते हैं, और प्रतिसप्ताह तीन ही दिनों के लिये विद्यार्थी रहते हैं। ऐसी दशा में ब्रह्मचर्य के पूर्ण नियम आपके ऊपर लागू कहाँ हैं? फिर आपके एक विदेशी शक होने से भारतीय सामाजिक नियमों का पालन बाध्य नहीं है।

हर्नेदुदेव—मंतक़ तो आप अच्छा भिड़ा सकते हैं, मगर इसी तरीक़े के साथ अपनी ग़रीबी के ख़िलाफ़ भी सुबूत दे रहे हैं।

विषमशील—उसका पर्दा तो आपने पहले ही उठा डाला। अब जो कुछ और पूछना हो, वह भी पूछ सकते हैं।

हर्नेदुदेव—ऐसा तो करूँगा ही, मगर इस वक़्त आप ही पूछ चलिए।

विषमशील—अच्छा, यही सही। तब सबसे पहले यही पूछता हूँ कि पुरुष होते हुए भी कभी-कभी आपकी मुखाकृति, वार्ता और मुस्कान स्त्रियोंवाली के कुछ ऐसी समान दिखती हैं कि प्रेम-चुंबन अंकित कर देने को जी चाहने लगता है। यह क्या बात है? आप भी ठीक-ही-ठीक उत्तर दीजिए।

हर्नेदुदेव—अब जाना कि आपने मेरे साथ पुराने दोस्त का-सा बर्त्ताव शुरू किया। अगर एक बोसे-भर से आपकी ख़ुशी हो, तो दो ले लीजिए, मुझे इनकार भी नहीं है।

विषमशील—यह बात नहीं है; मैं तो एक प्रश्न पूछता हूँ।

हर्नेदुदेव—जवाब यह है कि हम शकों के दाढ़ी-मूछ तो होती नहीं, पस, हम लोगों में मर्दोज़न की शिनाख़्त सहल नहीं है। जिन लोगों ने हमारे दर्मियान बहुत वक़्त न गुज़ारा हो, वे मेरी उम्रवाले लोगों की असलियत समझने में आप ही की तरह ग़लती कर सकते हैं।

विषमशील—(हँसकर) तो भी यदि स्त्री होते, तो आपके रूप की निछावर बहुतेरे हो जाते।

हर्नेदुदेव—(हँसकर) उम्मीद है, आप उन बहुतेरों में न शामिल होंगे।

विषमशील—मैं इन बातों में कब पड़ता हूँ? भई, क्षमा करना; ऐसा उपहास मैंने आज तक किसी और से नहीं किया।

हर्नेदुदेव—मज़ाक़ आप बराबर कीजिए। इसीलिये तो हाज़िर हुआ हूँ। दोस्ती में मुआफ़ी बात-बात में क्या माँगनी?

विषमशील—शत बार क्षमा का प्रार्थी हूँ।

हर्नेदुदेव—मैं एक बार भी मुआफ़ नहीं करता। बात ही आपने कौन-सी कही, जो मुआफ़ी की ज़रूरत हो? आप तो हैं पत्थर, मैं आपको भी पिघलाने यहाँ आया हूँ। ज़रा इंसानियत पकड़िए।

इतने ऊँचे न उठिए कि बुलंदी देखने में किसी की पाग गिर जाय।

विषमशील—बात आपकी है उचित। नित्य के व्यवहारों में बहुत उच्च भाव-प्रदर्शन से सुख तथा मनुष्यता की न्यूनता दिखने लगती है। अच्छा, आप ही बतलाइए कि प्रेम आप किसे कहते हैं ?

हर्नंदुदेव—मुहब्बत किसी माशूक़ के सिलसिले में होती है। उसकी सबसे बड़ी सिफ़त यह है कि दोस्त की भलाई सच्चे दिल से हर हालत में की जाय, मगर किसी सूरत में उसमें ख़ुदग़रज़ी या मतलबबरारी की बात न आने पावे।

विषमशील—बात आपने नितांत श्रेष्ठ कही है। अच्छा, पूछता हूँ कि आपने मुझसे मित्रता का प्रण-सा किया है; यदि मैं भवदीय वर्ग से असंतुष्ट हूँ, अथवा उससे शत्रुता तक करूँ, तो इसका फल इस प्रेम पर कैसा पड़ेगा ?

हर्नंदुदेव—जब तक आप ख़ुद मुझसे दुश्मनी का बर्ताव न करें, तब तक शकों की दुश्मनी से अगर नाराज़ हो जाऊँ, तो सादिक़ दोस्ती कहाँ रह गई ?

विषमशील—धन्य है आपकी बुद्धि को ! अच्छा, प्रेम का उपहार आप क्या समझते हैं ?

हर्नंदुदेव—अगर मुवाविज़े की बात दिल में आ गई, तो मुहब्बत कहाँ रही ? तब तो बनिए की दूकान हो गई। सादिक़ मुहब्बत में तबादिले का सवाल नहीं उठता। आपने बोसा लेने का मज़ाक़ किया। अगर इससे आपको ख़ुशी हासिल होती हो, तो मेरा क्या नुक़सान हुआ ? कुछ लड़के से लड़की तो हो न जाऊँगा। एक नहीं, दस बोसे लीजिए। मर्दों में यह सिर्फ़ मुहब्बत की बात है, किसी बदचलनी की नहीं।

विषमशील—आप तो निरे बालक होकर भी पूर्ण पंडित दिखते

हैं। अच्छा, एकाएक मुझसे मित्रता के आकांक्षी क्यों हो गए? जब स्वार्थभाव था ही नहीं, तब इसी की क्या आवश्यकता थी?

हर्नेंदुदेव—मैं ज़माना बिसियार से दोस्ती के क़ाबिल कोई शख़्स ढूँढ़ता था। अगर शकों में मिल जाता, तो अच्छा ही था, मगर न मिला। आपके-से औसाफ़ हमीदा मैंने दूसरे में न देखे, और उम्मीद हुई कि आपकी दोस्ती से मेरे भी अच्छे औसाफ़ की तरक़्क़ी होगी। आप ही बतलाइए कि यहाँ आपके बराबर कौन है?

विषमशील—हैं तो मुझसे बढ़कर कई व्यक्ति, किंतु संसार रुचि-प्रधान होता है। अच्छा, विवाह के विषय में आपके कैसे विचार हैं?

हर्नेंदुदेव—शादी की दुनिया में ज़रूरत ही क्या है? आपके दोस्त भासजी बतलाते थे कि योग साधने से नफ़्स क़ाबू में रहती है। मुफ़्त के लिये इन बातों में क्यों पड़े? दुनिया में किसी ने मुझे पैदा किया ही है। उसका क़र्ज़ा अदा करने को अगर एक बच्चा पैदा कर दूँ, तो बहुत है। अगर शादी करूँ, तो दो के ख़याल से दो औलाद काफ़ी हैं। मुहब्बत के लिये औरत में अपने ही के-से ऊँचे औसाफ़ लाज़िम हैं, नहीं तो ज़िंदगी बेकार हो जायगी। मुझे तो सिवा आपके अब तक कोई ऐसा मिला नहीं, जो इसके क़ाबिल होता। अगर औरत होते, तो मैं आपसे निकाह ज़रूर पढ़ा लेता। अगर मैं लड़की होता, तो भी आपसे शादी करने की कोशिश करता। जब तक आप ही की-सी कोई ऊँचे ख़याल की ख़ातून न मिलेगी, तब तक इस बात की क्या ज़रूरत है? योग से ही मिज़ाज क़ाबू रहेगा।

विषमशील—मुझ पर ऐसी अनहोनी कृपाओं के लिये शत-शत धन्यवाद हैं! बड़ा दुःख है कि मैं कन्या न हुआ, नहीं तो ऐसा बढ़िया वर सुगमता-पूर्वक प्राप्त हो जाता।

हर्नेंदुदेव—मुझे इस बात का अफ़सोस नहीं है कि मैं लड़की नहीं हूँ, क्योंकि ऐसी सूरत में शायद बहन रूपरेखा के दिली कोफ़्त का बायस हो जाता।

विषमशील—क्यों, उनसे क्या प्रयोजन ?

हर्नेंदुदेव—तुम तो दोस्तमन ! ऐसे दूध के धोए व मट्ठे के भिगोए बनते हो, गोया कुछ जानते ही नहीं, या सारी दुनिया अंधी समझते हो। जान लीजिए, ख़ुदा ने आँखें मुझे भी बख़्शी हैं।

विषमशील—आप तो बौद्ध हैं, ख़ुदा आपके यहाँ कहाँ से टपक पड़े ?

हर्नेंदुदेव—अरे यार ! कहने की आदत मान लीजिए।

विषमशील—क्या आपको किसी प्रकार से संदेह है कि वह मेरी प्रेयसी हैं ? मैं उनसे कभी एकांत में मिलता तक नहीं।

हर्नेंदुदेव—यार ! अब मुझसे क्या उड़ते हो ? मैं भी दुनिया चराए फिरता हूँ। मसल मशहूर है कि "अधजल गगरी छलकत जाय।" बकबक वे बेवक़ूफ़ मचाते हैं, जिनके माशूक़ काफ़ी मुहब्बत नहीं करते। आप दोनो तो सादिक़ इश्क़ से पुर हैं, फिर फ़ुज़ूल बकवास क्यों नाधें ? दोस्त होने का तो वादा किए बैठे हो, फिर मुझी से उड़ते भी जाते हो।

विषमशील—एक बालक-मात्र होकर इतनी बुद्धि आप कहाँ से लाए ? अच्छा, तुमने जाना कैसे कि मेरा उनसे प्रेम है ? है बात बहुत कुछ सत्य, किंतु तुमसे किसने कहा ?

हर्नेंदुदेव—कहता कौन ? हफ़्तेवार हाज़िरी बजाते हो। मेरे तवाज़ों से भी न रुके, बल्कि मुझे ही वहाँ घसीट ले गए। न-जाने कितना इसरार करने पर सिर्फ़ इस बात पर राज़ी हुए हो कि फ़ी माह उनके जो चार तवाज़े आपके यहाँ होते थे, उनमें सिर्फ़ दो मेरे ज़िम्मे रहें। मैं इसी का शुक्रिया अदा करता हूँ।

विषमशील—किंतु प्रेम कैसे स्थापित किया ?

हर्नेंदुदेव—दोस्तमन ! न तो आप ग़रीब हैं न ख़ुदमुख़्तार। रूपरेखा से मुहब्बत हर तरीक़े व तर्ज़-गुफ़्तगू से ज़ाहिर है, हालाँकि आप दोनो उसका इज़हार छिपाए बहुत रहते हैं। आपकी ग़रीबी का एकाध मर्तबा ज़िक्र आ ही जाता है, जिस पर बजाय शर्मिंदा होने के आपकी बाछें खिल जाती हैं। इतने तुलबा को पढ़ाते हो। ज़ाहिरा बवजूहात आपको ग़रीबी का ढोंग कुछ पसंद-सा है।

विषमशील—अच्छा मित्र ! मैं ही हारा। कृपया ऐसी बातें किसी पर प्रकट न कीजिएगा। उन्हें लज्जा लगेगी, और मैं धनी ज्ञात हो जाऊँगा, जो बात मैं कारण-वश चाहता नहीं। एक बात यह भी जाने रहिएगा कि मेरा ऐश्वर्य साधारण श्रेणी का है। यदि बहुत धनाढ्य होने के विश्वास पर आप मुझसे मैत्री करते हों, तो भविष्य में निराशा का दुःख भोगना पड़ेगा।

हर्नेंदुदेव—मैं तो एक मिस्कीन तालिबेइल्म का दोस्त हूँ। ना-उम्मेदी का अफ़सोस बेवक़ूफ़ों को होता है।

विषमशील—अच्छा, यदि बालिका होते और मैं आपके प्रेम का निरादर करके उन्हीं को चाहता, तो आपको कैसा लगता ?

हर्नेंदुदेव—मैंने तो बतलाया न कि योग-साधन से ख़्वाहिशात क़ाबू में रहती हैं। सादिक़ मुहब्बत के लिये ख़ुदग़र्ज़ी ज़हर है। अगर किसी दूसरी को चाहते हों, और मैं लड़की भी हूँ, तो बवजह आपकी मुहब्बत के उससे भी सच्ची दोस्ती निबाहूँ। अगर ऐसा न कर सकूँ, तो यारी के क़ाबिल नहीं।

विषमशील—बात तो यही है, किंतु साधारणतया निर्वाह अत्यंत कठिन। यदि स्त्री होते, तो ऐसा न सोचते।

हर्नेंदुदेव—दुनिया में सचाई भी तो सहल नहीं होती। औरत होने से कैसे ख़यालात होते, यह मैं क्या कह सकता हूँ ?

विषमशील—अच्छा मित्र ! अब सौंदर्य के विषय में अपने विचार प्रकट करो।

हर्नेदुदेव—ख़ूबसूरती असली वह है, जो बिला किसी ज़ाती फ़ायदे के देखनेवाले का दिल शाद कर दे। वह सिर्फ़ देखने की शै है, बरतने या अपने क़ब्ज़े में लाने की नहीं। एक बढ़िया गुलाब का फूल डाली पर लगा हुआ हवा के झकोरों से थिरक-थिरककर व नीज़ अतराफ़ में ख़ुशबू भरकर तबीयतें ख़ुश करता है, मगर ज्यों ही तोड़कर पास रख लीजिए, त्यों ही वह शान ग़ायब हो जाती है, और फ़ौरन् कमोबेश कुम्हलाने लगता है। यही हाल शख़्सी ख़ूबसूरती का है ; उसे देखकर हज़ उठाइए, मगर सेहत बिगड़ने या बेजा इस्तेमाल वग़ैरह से बहुत जल्द फीकी पड़ जायगी। मेरा तो यही ख़याल है।

विषमशील—मित्रवर ! तुमने इतनी छोटी वय में ऐसे महान् अनुभव कैसे प्राप्त कर लिए ? धन्य है आपके लोक-संग्रह-संबंधी ज्ञान और विचारों को ! जी चाहता है, बैठा हुआ आप ही से बातें किया करें, दूसरा काम ही न हो।

हर्नेदुदेव—दोस्तमन ! इसीलिये तो मैं यहाँ हाज़िर हुआ हूँ। अच्छा, पूछ तो मुझसे बहुत कुछ चुके, अब मेरे भी एक-दो सवालों के क्या जवाब दीजिएगा ?

विषमशील—ऐसी भी कोई वस्तु है, जो आपके लिये भी अदेय हो ? पूछिए, क्या जानने की इच्छा है ?

हर्नेदुदेव—मेहरबानी करके अपनी मुहब्बत की तवारीख़ बतलाइए। इस सवाल के जवाब में शरमाइएगा तो नहीं ?

विषमशील—प्रश्न तो लज्जाजनक है ही, तथापि जिस प्रेम से आपने मेरे कितने ही प्रश्नों के विश्वास-पूर्वक उत्तर दिए हैं, उस प्रकार क्या मैं एक का भी न दूँगा ? और यदि न भी दूँ, तो आपकी इन तीव्र आँखों से कोई भेद छिपा कब जाता है ?

हर्नेंदुदेव—मैं राज़ों की जाँच नहीं करना चाहता, न शर्मिंदा करने को फिरता हूँ। मैं तो सिर्फ़ मुहब्बताना गुफ़्तगू चाहता हूँ। अगर शर्मिंदगी हो, तो जानने की ज़रूरत नहीं।

विषमशील—नहीं मित्रवर! अब आपसे कुछ न छिपाऊँगा। अच्छा, सुनिए। मैंने प्रारंभ में प्रेमादि पर कभी ध्यान न दिया। जब पुष्कर-विद्यापीठ में गया, तब पहलेपहल एक सुंदरी पर न्यूनाधिक अनुरक्त हुआ। पहले वह मेरे मित्र वीरवर को थोड़ा-बहुत चाहती थी, किंतु मेरी ओर उसका विशेष झुकाव देखकर वीरवर ने उसे मुझसे माँगा, और मैंने भी तुरंत हाँ कहकर इनसे उसका विवाह करा दिया।

हर्नेंदुदेव—की तो आपने बहुत बड़ी शराफ़त वनीज़ ख़ुदग़र्ज़ी-कुशी, मगर उसकी मुहब्बत की काफ़ी इज़्ज़त न हुई।

विषमशील—मैंने उससे प्रेम की भिक्षा कभी न माँगी थी, तथा जितना कुछ झुकाव था, वह केवल विविध छल-हीन, धर्म-पूर्ण कृत्यों-मात्र से। यदि मैं इतना जानता होता कि उसका इनसे किंचित् भी रुझान है, तो इतना भी न बढ़ता। ज्यों ही जाना, त्यों ही अलग हो गया। तभी से मेरा वीरवर से विशेष प्रेम है।

हर्नेंदुदेव—कोई ऐब न था। अच्छा, दूसरी बात बतलाइए।

विषमशील—द्वितीय उदाहरण तो आप जानते ही हैं। रूप-रेखा को देखते ही मैं विवश-सा हो गया, तथापि चित्त को स्ववश रक्खा। आशा है, उनसे मेरा त्रैवार्षिक निबंध सफल होगा।

हर्नेंदुदेव—औसाफ़ पर ख़ूबसूरती से ज़्यादा ख़याल करना ठीक ही है। इसके आगे भी कोई बात हुई क्या?

विषमशील—इसके आगे आपके परम शुद्ध प्रेम को पाने का सौभाग्य मिला। आशा है, ऐसी ही कृपा सदैव बनी रहेगी।

हर्नेंदुदेव—किसी मुहब्बत में कभी नफ़्सानियत का ख़याल तो नहीं पैदा हुआ ?

विषमशील—कभी नहीं।

हर्नेंदुदेव—अच्छा, आपको विषमशील क्यों कहते हैं ? दिखते तो आप समशील हैं।

विषमशील—एक बार बाल वय में सगी के सम्मुख मैं विमाता का विशेष मान कर गया, तभी से हँसकर वह विषमशील कहने लगीं। अच्छा, एक बात और पूछूँ ?

हर्नेंदुदेव—एक नहीं, दो पूछिए।

विषमशील—क्या आप तैरना जानते हैं ?

हर्नेंदुदेव—अच्छी तरह से। चलिए, एक दिन नदी में ग़ुस्ल हो।

विषमशील—यही तो चाहता था।

अनंतर ये दोनो मित्र अपने-अपने कामों में लगे। एक दिन स्नानार्थ सरिता को गए। वहाँ दोनो ने एक दूसरे को तैरने की अनेकानेक उत्कृष्ट गतियाँ दिखलाईं। फिर वस्त्राभूषण धारण होने पर बात भी होने लगी—

विषमशील—तुम्हारा शरीर परम विशेषता से गौर वर्ण धारण किए हुए है। ऊरुओं तथा हाथ-पैरों की बनक भी बहुत ही श्रेष्ठ है। आपने सौंदर्य और बल, दोनो की प्राप्ति साम्य के साथ की है।

हर्नेंदुदेव—बड़ी क़दरदानी हुई। मैं हमेशा खाना हकीमों की सलाह से खाता हूँ, वर्ज़िश काफ़ी मेक़दार में करता हूँ, और अब क़रीब एक साल से योग के आसनों को भी भास कवि से सीख रहा हूँ।

विषमशील—तभी भवदीय शरीर की आभा चंद्र-सी दीप्तिमान् है। भला, स्नान करने में भी आप कटि से ग्रीवा-पर्यंत शरीर में कोई मोटा वस्त्र क्यों धारण किए रहते हैं ?

हनेंदुदेव—हम लोगों का देश शकस्थान ठंडा काफ़ी है, इसी से हमारी तरफ़ पिंडे के खोलने का तरीक़ा ग़ुस्ल वग़ैरह में भी नहीं है। हम लोग ठंडक ज़्यादा लगने का यहाँ भी ख़ौफ़ खाते हैं।

विषमशील—आपने एक दिन ऐसी ख़्वाहिश की थी कि अगर मैं औरत होता, तो आप और भी ख़ुश होते। स्मरण है न ?

हनेंदुदेव—ख़ूब याद है! अगर कोई पहुँचा फ़क़ीर मिले, तो आपको अपनी बीबी ज़रूर बनवा डालूँ।

विषमशील—मैं भी शायद ऐसी ही प्रार्थना उससे आपके विषय में कर बैठूँ।

हनेंदुदेव—पहली माँग तो मेरी होगी।

विषमशील—क्या आपको लीलाहाव का लक्षण ज्ञात है ?

हनेंदुदेव—उसमें स्त्री मर्द बनती है न ?

विषमशील—यही बात है। मैं इससे ठीक उलटा रूप अपने चित्रों में लाना चाहता हूँ। देखूँ, हम लोग औरत की शकल में कैसे लगते हैं? और नहीं, तो चित्र में ही आपकी इच्छा पूरी कर दूँ। कहिए, है पसंद क्या ?

हनेंदुदेव—अच्छा, बनाइए; देखा जायगा।

विषमशील—वस्त्राभूषण आप ही के इच्छानुसार बनेंगे।

हनेंदुदेव—बहुत ठीक है। अपनी तस्वीर क्या शीशे की मदद से बनाइएगा ?

विषमशील—यही बात है। आचार्य तो सोचते हैं कि स्त्री-वेष में पुरुष सुंदर लगेंगे नहीं, तथा उनकी मर्यादा न रहेगी, जिससे लीलाहाव का वर्णन केवल स्त्री के पुरुष-रूप रखने के संबंध में कहा जाता है, किंतु हम दोनो एक दूसरे को स्त्री-रूप में देखना चाहते हैं, जिससे आचार्यों से वैपरीत्य करता हूँ।

हनेंदुदेव—ख़ूब सँभालकर तस्वीरें बनाना।

विषमशील—ऐसा तो होगा ही।

अनंतर विक्रम ने बहुत मनोयोग के साथ हर्नेंदुदेव की रुचि के अनुसार वस्त्राभूषणादि बनाकर अपने दोनो के दो पृथक्-पृथक् चित्र स्त्री-रूपों में बनाए। विक्रमवाला तो वृद्धिगत शारीरिक गठन के कारण बहुत शोभायमान आया नहीं, किंतु हर्नेंदुदेववाला ऐसा उत्कृष्ट तथा स्वाभाविक बना कि ये दोनो उसे ध्यान-पूर्वक देख-देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए। अनंतर रूपरेखा के चित्र को सम्मुख रखकर दोनो मिलाए गए, तब भी हर्नेंदुदेववाला ही कुछ श्रेष्ठतर निकला।

विषमशील—क्या कहूँ मित्र! तुम्हें तो कन्या होना चाहिए था। मेरे चित्र ने आपके संबंध में विधि-विडंबना को शुद्ध-सा कर दिया है। ब्रह्मा ने आपको बालिका न बनाने में भारी भूल की। मेरी धृष्टताओं को क्षमा करना, मित्र!

हर्नेंदुदेव—दोस्ती में कहीं बेवक़ूफ़ियाँ मानी जाती हैं। मगर इस वक़्त आप ख़्वाहिशात के क़ाबू होकर असली मुहब्बत के नीचे गिरे जाते हैं।

विषमशील—मैं क्या कुछ अपने लिये कहता हूँ? मैं तो संसार के लाभार्थ कथन कर रहा हूँ।

हर्नेंदुदेव—जी हाँ, आप आदमी थोड़े ही हैं; आप तो नामर्दी के सबक़ पढ़े हुए होंगे।

विषमशील—अच्छा भाई, सच्ची बात यह है कि इस समय मैंने स्वार्थपरता-गर्भित कथन कर अवश्य दिया। क्षमा करना।

हर्नेंदुदेव—मुआफ़ी की क्या ज़रूरत है? जब तक कोई पूरा फ़रिश्ता बना रहता है, तब तक उससे चलतू मुहब्बत भी तो नहीं हो सकती। अगर मेरी तस्वीर पर आप आशिक़ भी हो जायँ,

तो मेरा क्या बिगड़ा ? मैं इससे कुछ लड़की थोड़े ही हुआ जाता हूँ ।

विषमशील—आपकी सहनशीलता धन्य है ! अच्छा, आपको मेरा स्त्री-चित्र कैसा लगा ?

हर्नेंदुदेव—बहुत ही पसंद आया । अगर इसमें सिदाक़त होती, तो आज ही निकाह पढ़ा लेता । एक पल की देर न करता ।

विषमशील—बड़ी ही कृपा हुई । अच्छा, चलिए, ये तीनो चित्र रूपरेखाजी को दिखलाए जायँ ।

हर्नेंदुदेव—बहुत ठीक है ।

(ब) रूपरेखा पर भय

अनंतर ये दोनो रूपरेखाजी के पास गए । उस समय उनके साथ सखीजी तो थीं, किंतु सोमदेवजी न थे । वार्तालाप होने लगा—

विषमशील—देखिए देवीजी ! आज हर्नेंदुदेवजी आपके सम्मुख स्त्री के रूप में उपस्थित हो रहे हैं, तथा मैं भी उसी रूप में हूँ । तीनो चित्रों को देखकर आप ही निर्णय कीजिए कि कौन कैसा है ?

रूपरेखा—अकेली मैं निर्णय क्यों करूँ ? सभी की सम्मतियाँ ली न जायँ ।

हर्नेंदुदेव—बहुत अच्छी बात है, देवीजी !

रूपरेखा—(विक्रम के चित्र को देखकर) यह चित्र तो किसी काम का नहीं है । स्त्री क्या है, पूतना का अवतार है । इतनी भारी बहू देखकर दिन में भी कोई डर जाय ।

हर्नेंदुदेव—मैं तो औरतों में ताक़त ख़ूबसूरती के लिये भी ज़रूरी समझता हूँ । नज़ाकत गुड़ियों का खेल-भर है । औरत के ताक़तवर होने से बच्चे अच्छे होंगे, और बीमारी वग़ैरह की तकलीफ़ न होगी । बहुत हल्की-पतली, नाज़नीन किस काम की ? दो-चार दिन अच्छी

लगकर भज जाती है। बादहू औसाफ़ की बरतरी ताब ज़िंदगी काम आती है। अगर यह औरत होते, तो मैं आज ही शादी कर लेता।

रूपरेखा—तुम तो छोटे-से हो। ऐसी कुंभकर्ण लेकर क्या करते ?

हर्नेंदुदेव—शक का बच्चा हूँ। पाँच सालों में इतना ही बड़ा हो जाऊँगा। इनको अब थोड़े ही बढ़ना है, जितना कुछ होना था, हो चुके।

रूपरेखा—पाँच-छ सालों तक क्या होता ?

हर्नेंदुदेव—तब तक यह इंतिज़ार करतीं। यह भी तो दीगराँ से ऐसा ही इंतिज़ार कराते हैं। (सब लोग हँसते हैं।)

विषमशील—किंतु यहाँ प्रश्न सौंदर्य का है।

हर्नेंदुदेव—आपकी ख़ूबसूरती की तारीफ़ सारे तक्षशिला में है।

विषमशील—किंतु पुरुष-रूप में न कि स्त्री होकर।

हर्नेंदुदेव—ख़ूबसूरती का अंदाज़ा तो ज़नोशू में एकसाँ होना चाहिए। (सब लोग हँसते हैं।)

विषमशील—अच्छा, अब अन्य दोनो पर विचार हो।

रूपरेखा—हर्नेंदुदेवजी! आपका चित्र तो मेरेवाले से भी श्रेष्ठतर है। यदि स्त्री होते, तो संसार-भर के सुंदर युवक आपके चरणों पर लोटते। कुशल इतनी है कि बालक हो पड़े।

हर्नेंदुदेव—यह तो हुआ मज़ाक़, लेकिन ख़ूबसूरती मैं देवीजी के चित्र में इस फ़र्ज़ी तस्वीर से बढ़कर पाता हूँ।

रूपरेखा—मैं तो ऐसा समझती नहीं। (सखी से) देखिए, सखीजी! इन दोनो में कौन श्रेष्ठतर है ?

सखी—मैंने तो एक रात स्वप्न में एक सुंदरी देखी थी, जो इन दोनो से बढ़कर थी। स्वप्न और सौतुक की क्या समता ?

इनेंदुदेवजी का चित्र तो स्वप्न है। कोई प्रत्यक्ष वस्तु इसके आगे कैसे ठहर सकती है?

रूपरेखा—इस चित्र के बनाने में तो चित्रकार के शरीर में सात्त्विक भावों का उद्वेग नहीं हुआ होगा?

विषमशील—कैसे होता? देवीजी! क्या सौतुक में स्वप्न की दशा हो सकती है? जानता ही हूँ कि इन ठूँठों में सौंदर्य का विचार कल्पना-मात्र है।

इनेंदुदेव—यही तो बात है; दोस्त! देखिए, इन दिनों हम लोगों के साथी नारायण के दादा वसुदेव ने क्या मज़े में एक शहंशाही हथिया ली। है बड़ा चालाक। हम लोगों की रियासत उधर बढ़ने का रुख़ कर ही रही थी कि बीच में यह गुल खिल उठा।

विषमशील—अब तो उन्होंने प्रबंध बहुत उत्कृष्ट कर लिया होगा।

इनेंदुदेव—इंतिज़ाम तो बहुत बरतर है नहीं। मगर फ़िलहाल अब उधर हमले की सूरत नहीं हो सकती। (रूपरेखा से) देवी-जी! एक बात आपके कान में कहनी थी।

रूपरेखा—यहाँ पराया कौन बैठा है? केवल सखीजी समझी जा सकती हैं, किंतु इन पर पूर्ण विश्वास योग्य है। इनकी सुनी हुई वस्तु मानो किसी तीसरे के कान में पड़ी ही नहीं।

इनेंदुदेव—अच्छा, तो कहता हूँ। राज़ निहायत ही पोशीदा रहे। सिवा इतने लोगों के और कोई न जाने। सिर्फ़ इंतिज़ाम काफ़ी हो जाय। बड़ी ही चौकसी की ज़रूरत है।

रूपरेखा—आपके कथनों से तो भय लगता है। कहिए, क्या बात है?

इनेंदुदेव—बात ही ऐसी है; सुनिए। मथुरा का शहज़ादा

खरगोस इधर विद्यापीठ में कई बार आ-आकर आपको देख गया है। वह आपकी ख़ूबसूरती से ऐसा फ़रेफ़्ता है कि किसी तरह उड़ा ले जाने की पूरी कोशिश कर रहा है। उससे विषमशील और आप, दोनो को बहुत होशियार रहने की ज़रूरत है। यह किसी तरह न ज़ाहिर हो कि मेरे ज़रिए से यह राज़ यहाँ तक पहुँचा है। मेरे बादशाह का लड़का है। मुझ पर उसकी कामयाबी की कोशिश लाज़िम है, न यह कि उसे बिगाड़ने की तदबीर बताऊँ। ताहम आप सबसे दोस्ती हो जाने से मजबूरन् अपने क़ौमी फ़रायज़ के ख़िलाफ़ कमोबेश जा रहा हूँ। अगर बात बहुत बेजा न होती, तो क़ौमियत का लिहाज़ न छोड़ता। मगर इतना और कहे देता हूँ कि वह शहज़ादा ऊँची कलगी लगाता है। अगर लड़ाई-दंगा हो, तो ख़ास उस पर आँच न आने पाए। मेरा दोस्त भी है।

रूपरेखा—मित्र भी आप अच्छे-अच्छे रखते हैं।

हर्नेंदुदेव—जो बात थी, वह साफ़-साफ़ ज़ाहिर कर दी गई।

रूपरेखा—मैं इस कृपा के लिये कोटिशः धन्यवाद देती हूँ। मुझसे तो आपका विशेष व्यवहार था नहीं; संभवतः यह कृपा विषमशील के कारण हो रही है।

विषमशील—ऐसी बात नहीं है, देवीजी! हर्नेंदुदेवजी मित्रता का आचरण दार्शनिक तथ्य-पर्यंत ले जाते हैं। मेरे सभी शुद्ध मित्रों को भी मेरे ही समान मानते हैं।

रूपरेखा—तब तो, हर्नेंदुदेवजी! मेरी मूर्खता को क्षमा कीजिएगा।

हर्नेंदुदेव—इसकी कोई बात नहीं है। मुझे जितना यह जानते हैं, उतना आप कैसे जान सकती थीं?

विषमशील—अब मुख्य वस्तु पर विचार करना योग्य है। मैं

तो रात को नित्य घूमा ही करता हूँ। अपने मित्रों को और भी सजग रक्खूँगा कि थोड़े ही से खटके से चैतन्य हो जाया करें। विद्यालय के रक्षकों को भी समझा-बुझा दूँगा।

रूपरेखा—दिन में तो आक्रमण का भय है नहीं; जो कुछ संभव होगा, किसी रात्रि में ही होगा। क्यों न हर्नेदुजी ?

हर्नेदुदेव—समझ तो ऐसा ही पड़ता है, बहन ! मैं समझता हूँ, वे लोग आधी रात के कुछ ही पीछे किसी दिन आएँगे। सात-आठ लोग होंगे। लड़ाई होगी ही। अपने फाटक वगैरह का ठीक इंतिज़ाम रखिएगा। इतनी रात को आप बाहर तो निकलतीं नहीं।

रूपरेखा—ऐसा कभी नहीं होता। अपने भाई को भी चैतन्य कर दूँगी।

विषमशील—सो तो बात ही है।

रूपरेखा—आप तो देख-भाल में प्रवृत्त रहेंगे ही ?

विषमशील—इसमें क्या संदेह है ?

अनंतर यह मित्र-सभा भंग हुई, तथा रक्षा पर विशेष ध्यान रहने लगा। चार-छ दिनों के पीछे एक अँधेरी रात को दस-बारह शक लोग आ पहुँचे, और कमंद लगाकर उनमें से दो-तीन ने छिपे-छिपे सोमदेव का फाटक खोलकर भीतर प्रवेश किया। कक्षों के द्वार वहाँ सब भीतर से बंद थे, जिन्हें तोड़ने में कुछ शब्द हुआ ही, जिससे सेवकों ने चैतन्य होकर त्राहि-त्राहि का रव मचाया। यह सुनकर विक्रम अपने साथियों-सहित वहीं आ पहुँचे। उनके सारे सहायक बुला लिए गए, तथा विद्यालय के दस-बीस रक्षक भी आए। डकैतों को सब ओर से घेरकर युद्ध होने लगा, जिससे उनमें से चार-छ हताहत हुए, तथा शेष निकल भागे। खरओस पकड़ लिया गया था, किंतु विक्रम ने अपमान न करके उसे छोड़ दिया, जिससे वह भी भाग गया। विद्यालय पर इस उपद्रव का

समाचार लोकतंत्र में भी भेजा गया, जहाँ से मथुरा को सूचना गई, किंतु किसी डकैत की पहचान न हो सकने तथा विक्रम द्वारा खरओस का नाम न लिए जाने से कोई फल न निकला।

(स) अवभृथ-स्नान और कुनिंद

अनंतर समय पर विद्यापीठ में विक्रमादित्य के तीनो वर्ष समाप्त हो गए, और अवभृथ-स्नान तथा प्रमाण-पत्र-वितरण के पीछे परीक्षोत्तीर्ण छात्रगण अपने-अपने देशों को चले गए। इन्हीं में भास, नारायण, सिंधुक, सोमदेव, रूपरेखा आदि थीं। उधर वीरवर ने अमोघभूति, कुनिंद गणमुख्य से विक्रम के सौजन्य, समर-कौशल-ज्ञान, शस्त्राभ्यास आदि की बड़ी प्रशंसा की थी। इससे वे विद्यापीठ में इनसे मिलने आए, और अवभृथ-स्नान के पीछे बहुत हठ करके इन्हें अपने राजस्थान कुरुक्षेत्र को लिवा ले गए। चलने के कुछ ही पूर्व इनेंदुदेव ने इनसे मिलकर यदा-कदा गुप्त मिलन के संबंध में कुरुक्षेत्र के निकट एक स्थान नियत कर लिया था। अमोघभूति के राज्य में जाकर इन्होंने राजनीति और गण-रक्षण के प्रश्नों पर ध्यान दिया, तथा उचित परामर्श द्वारा नीति स्थिर की गई। अनंतर वीरवर को बिठलाकर तथा कौनिंद महामंत्री को भी साथ लेकर मंत्रणागार में विचार होने लगा—

अमोघभूति—विषमशीलजी! आपके यहाँ पधारने से इस राज्य की भारी मान-वृद्धि हुई है। अब इसके विषय में जैसी आज्ञा हो, वैसा ही प्रबंध किया जाय।

विषमशील—(महामंत्री से) आर्य! पहले आप अपने राज्य की स्थिति का विवरण गुप्तरीत्या मुझे बतलाने की कृपा कीजिए।

महामंत्री—जो आज्ञा। यह राज्य था तो पाटलिपुत्र-साम्राज्य के अधीन, किंतु इसके स्वतंत्रप्राय होकर मध्य में माथुर मित्र-शक्ति

के पड़ जाने से वह संबंध समय के साथ बहुत कुछ शिथिल होकर नाम-मात्र का रह गया था। इतने ही में क्रूर शकों ने उस मित्र-शक्ति पर विजय प्राप्त करके वहाँ अपना विशाल राज्य ही फैला लिया है। अपने पश्चिम में तक्षशिला के शकों का राज्य है, और पूर्व में माथुर शकों का। पाश्चात्य शक-शक्ति तो अपने से भिन्न भाव रखती है, किंतु पूर्वीय माथुर शक्ति विशेष उद्दंड है। जब से पाटलिपुत्र में मित्र-साम्राज्य ध्वस्त होकर महामंत्री वसुदेव के प्रयत्नों से काण्व साम्राज्य प्रायः दो वर्षों से स्थापित हुआ है, तब से पाटलिपुत्रीय बल कुछ जगमगा-सा उठा है, किंतु उस शक्ति के प्रसर का दो-चार वर्षों तक भय नहीं, क्योंकि अभी वह अपना प्रभाव वहीं दृढ़ कर रही है। साम्राज्यभोगी मित्रों का यत्र-तत्र कुछ प्रभाव अब भी शेष है, जो संभवतः कुछ काल चले। यही इस ओर की अंतरराष्ट्रीय दशा है। आपके आज्ञानुसार वीरवरजी ने भवदीय मालव गणसंघ की बहुत कुछ स्थिति बतलाई है। तक्षशिला में शिवि क्षत्रिय का रूप प्रकट करके आपने बुद्धिमानी का ही काम किया। थी तो वहाँवाले क्षत्रपों की भलमंसी से विशेष जोखिम नहीं, किंतु राजबुलीय और भूमकीय प्रयत्नों से संकट उपस्थित हो जाना असंभव न था। अब हमारी सेना तथा अंतरराष्ट्रीय नीति के संबंध में जो आज्ञा हो, उस पर विचार किया जाय।

विषमशील—इस काल काण्वों तथा माथुरों के देखते हुए कुनिंदों की राजभक्ति तथा सामरिक शक्ति कैसी है?

महामंत्री—माथुर शकों ने एक बार आक्रमण किया था, जिसमें हानि तो उनकी भी हुई थी, किंतु जन-विनाश अपना विशेष हुआ। पराजय तो भी न हुई, तथा इन दस-बारह वर्षों में हम लोगों ने अपनी शक्ति फिर से दृढ़ कर ली है। तो भी ऐसा है ही कि विना बाह्य सहायता के हम लोग न तो काण्वों से लड़ अकेले सकते हैं

न माथुरों से। अपने एक गणराज्य होने से कौनिंद राजभक्ति परम दृढ़ है ही। ऐसा न होने से यह शक्ति बहुत पूर्व माथुर मित्रों की भाँति लुप्त हो चुकी होती। जब शक-शक्ति तक्षशिला-पर्यंत आ ही चुकी थी, और आगे बढ़नेवाली थी, तब बारी पहले अपनी ही थी, और पीछे माथुर मित्रों की, किंतु उसे निर्बल समझकर उन्होंने जीत लिया। अब इस पर भी दाँत लगाए हुए हैं। हम लोग सुगमता-पूर्वक पराजय स्वीकार करनेवाले हैं नहीं। जो होगा, देखा जायगा।

विषमशील—अभी तक आपसे माथुरों की इधर कोई नोक-झोंक तो नहीं हुई है? यदि हुई हो, तो किस प्रकार से?

अमोघभूति—युवराज महोदय! चित्रा नाम्नी मेरी एक षोड़शवर्षीया कन्या है, जिसे लोग कुछ सुंदरी भी समझते हैं। माथुर क्षत्रप षोडास ने उसे पाने की मेरे पास एक बार प्रेम-पूर्वक प्रार्थना भेजी थी। देना तो मैं उसे नहीं चाहता था, किंतु शकों की भी क्षत्रिय संज्ञा होने से झगड़ा बचाने के विचार से मानने को प्रस्तुत हो गया। तथापि इतना निर्बंध करना चाहा कि इस संबंध से कोई कौनिद राजनीतिक संबंध माथुरों से न होगा, न भविष्य में उनकी ओर से कोई सामरिक अथवा राजनीतिक दबाव पड़ेगा।

विषमशील—आपने एक प्रकार से स्वतंत्र सत्ता-युक्त मित्रता-पूर्वक संधि का प्रस्ताव किया।

अमोघभूति—यही बात थी, युवराज महोदय! किंतु माथुरों ने न माना, जिससे वह विषय वहीं का वहीं दब गया। अभिलाषा-पूर्ति में हम लोगों के उद्यत होने से भी जब माथुर शक्ति हमारी पूर्ण स्वतंत्रता मानने को सन्नद्ध नहीं, तब युद्ध आगे-पीछे अवश्यंभावी दिखता है। इधर अपने कुनिंद वीर ऐसे स्वातंत्र्य-प्रेमी हैं कि उसे किसी मोल नहीं बेच सकते।

विषमशील—मैं बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ कि देव ने अपने संघ

का परम गोप्य आंतरिक विवरण मुझे पूर्णता के साथ परम प्रीति-पूर्वक सुना दिया है। हमारा मालव-संघ भी पूर्णतया स्वतंत्रता-प्रेमी है। सौराष्ट्रीय शकों की नोक-झोंक हम लोगों से चला ही करती है। जब तक शक-शक्ति का वर्तमान प्राबल्य स्थिर है, तब तक हम लोग अपने को निष्कंटक नहीं समझ सकते, तथा जब तक हमारी शक्ति बलवती है, तब तक दक्षिण में शक-प्रसर असंभव है। अकेला सौराष्ट्र तो कुछ कर सकता नहीं, वरन् आगे-पीछे मालव-गण उसी का राज्य समाप्त कर देंगे। अंत में तो तक्षशिला के भी शकों से अपनी मुठभेड़ बनी-बनाई है, किंतु अभी भूमक का ऐसा प्रयत्न है कि लाट और माथुर शक्तियों की सहायता से वह मालव-बल तोड़े। लाटाधिपति से संधि तो अपनी है, किंतु उस कादर का कोई विश्वास है नहीं। जब तक मालवों की शक्ति दक्षिणी जयपुर के आगे नहीं बढ़ती, तब तक हमारा आपका व्यवहार केवल प्रेम पर अवलंबित रह सकता है। जब मालव-शक्ति सौराष्ट्र-विजय कर लेगी, जैसी कि मेरे उधर पलटने पर आशा है, तब माथुर शक्ति से युद्ध ठनेगा ही। उस काल मालव-कुनिंद-शक्ति की मैत्री सामरिक रूप भी ग्रहण कर सकेगी। यदि बीच ही में सौराष्ट्र माथुर-लाट-आक्रमण हो गया, तो देखना होगा कि महाकालेश्वर को क्या भाता है? मैंने इन दिनों भवदीय सामरिक शक्ति का निरीक्षण करके उसे सबल अथच सुसंगठित पाया है। मित्र वीरवरजी भी मेरे ही समान समर-शास्त्रज्ञ हैं। इनके प्रयत्नों से मैं भवदीय बल के गुण-दोषों का विशेष विवरण जानकर अपनी भी सम्मति सेवा में भेज दिया करूँगा।

अमोघभूति—प्रियवर युवराज महोदय! संभवनीयता को देखते हुए आपने जो कुछ आशाएँ की हैं, अभी उतना ही हो सकता है, उससे विशेष नहीं। फिर भी मैं आपको अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ कि स्नातक होकर घर पलटने की अत्यंत शीघ्रता स्वाभाविक रूप से रखते

हुए भी आपने मेरा निमंत्रण स्वीकार करके उलटे इधर पधारने का कष्ट उठाया। इच्छा तो मेरी ऐसी थी कि आप अभी दो-एक मास यहीं विराजकर मुझे कृतार्थ करते, किंतु भवदीय स्वाभाविक इच्छाओं का मैं विरोध नहीं कर सकता। जैसा आपने कल कहा था, हम लोगों की कामकाजू वार्ता अब समाप्त होती है। इससे आगे जितने दिन और यहाँ विराज सकें, उतना ही अधिक मुझ पर आभार होगा। जानते ही हैं कि कौनिंद मालव-प्रेम प्राचीन है।

विषमशील—कृतार्थ होने की देव क्या आज्ञा करते हैं? मैं यहाँ आकर अत्यंत प्रसन्न हुआ हूँ, और यथासाध्य समय पाकर फिर भी दर्शन किया करूँगा, तथा देव को उज्जयिनी देखने का भी कष्ट देता रहूँगा। अब पयानार्थ आज्ञा माँगता हूँ। आशा है, प्राचीन कौनिंद मालव-प्रेम समय के साथ वृद्धिंगत होगा।

अमोघभूति—मैं आपकी महती कृपाओं से जीवन-पर्यंत आभारी रहूँगा।

इस प्रकार सहृदयता-भाव-पूर्ण व्यवहार के पीछे अपने बीसों मित्रों तथा सारे अनुचरों के साथ राजवेष धारण किए हुए जब विक्रम स्वदेशार्थ प्रस्थान के विचार ही में थे, तब एक दिन एक विश्वस्त चर द्वारा हनेंदुदेव ने इन्हें पूर्व-निश्चित स्थान पर बुलवाकर यों वार्तालाप किया—

हनेंदुदेव—दोस्तमन! अब तो आप अपनी असली हैसियत पर आ गए हैं। मालवों से ख़ास मुहब्बत देखकर मैं आपको कोई मालव सरदार ही समझता था। इसीलिये उन्हीं के बाबत एक राज़ बतलाने को तकलीफ़ दी थी। जब कि अपना राज़ छिपाना अब आप चाहते नहीं, तब यही पूछूँगा कि पहले उसी का बयान कर जाइए।

विषमशील—अब तक आपने मुझसे यह बात क्यों न पूछी?

हर्नेंदुदेव—दोस्त लोग अपने बाबत जितना कुछ बतलाना चाहें, उतना ही जानना ठीक होता है। दोस्ती में तो कुछ कमी थी नहीं, फिर मुफ़्त में न बतलाने क़ाबिल राज़ों की फ़ुज़ूल ख़्वाहिश क्यों करता? मसल मशहूर है कि "यार की यारी से काम है कि उसके फ़ेलों से?"

विषमशील—मित्रवर! आपके अनुभव अनुकरणीय हैं। अच्छा, अब प्रसन्नता-पूर्वक बतलाता हूँ कि मैं उज्जयिनी-निवासी मालव गणमुख्य राजा गंधर्वसेनजी का ज्येष्ठ पुत्र तथा युवराज हूँ। दरिद्रावस्था का भी अनुभव प्राप्त करने को तक्षशिला में वैसा ही जीवन व्यतीत करता था, जो ब्रह्मचर्य के लिये योग्य भी था। आपका दो-ढाई साल साथ रहा, जिससे शुद्ध निष्कपट मैत्री बढ़ बहुत गई है। साथ छूटने का मुझे बड़ा ही खेद है।

हर्नेंदुदेव—साथ छूटता ही कब है, जो आप रंज महसूस करते हैं? मैं दोस्ती हमेशा निभाऊँगा, और जहाँ कहीं आप रहेंगे, वहीं मिला करूँगा।

विषमशील—बड़ी ही कृपा हुई। इसके लिये मैं यावज्जीवन आभारी रहूँगा। यदि आज्ञा हो, तो एक और गुप्त भेद बतला दूँ। अब तो कुछ दिनों को साथ छूटता ही है, भेद क्यों रक्खूँ?

हर्नेंदुदेव—ज़रूर बतलाइए।

विषमशील—आप थे बालक अवश्य, किंतु बहुत काल-पर्यंत मुझे आपके बालिका होने तथा अपने से वैवाहिक प्रेम-प्राप्ति के प्रयत्नों का संदेह बना रहा। वह भ्रम भी देवी रूपरेखाजी की रक्षा आपके द्वारा होने से मिट गया।

हर्नेंदुदेव—इससे तो उसका मिटना ग़लत था। अगर मैं लड़की होता, और आपसे शादी चाहता, तो भी उसके लिये सादिक़ मुहब्बत की पूरी ज़रूरत थी। अगर माशूक़ा छूट जाती,

तो आपको भारी सदमा ज़रूर होता। अपने जान से अज़ीज़ शौहर को ऐसा रंज पहुँचाकर भी कोई औरत मकरूह ख़ुदगर्ज़ी के ऐब में पड़कर मुँह देखने के भी क़ाबिल क्या रह जाती ?

विषमशील—ऐसे ऊँचे विचार प्रत्येक रमणी के नहीं होते।

हर्नेंदुदेव—मैंने तो सादिक़ मुहब्बत जोड़ने ही को आपसे दोस्ती की भीख माँगी थी। अच्छा, अब जो राज़ मुझे बतलाना है, वह भी कहता हूँ।

विषमशील—अवश्य कृपा कीजिए।

हर्नेंदुदेव—सौराष्ट्र का भूमक मेरा सौतेला मामू है। वह लाट के राजा की मदद से पच्छिम की जानिब से मालव-सल्तनत पर पंद्रह दिनों के अंदर धावा करेगा, और इधर मशरिक़ व शुमाल से मथुरा के शकों की फ़ौज ख़ास उज्जयिनी पर हमला आवर होगी। इन दोनो हमलों का पूरा इंतिज़ाम हो चुका है। जल्द जाकर अपनी सल्तनत की हिफ़ाज़त कीजिए। कोई यह न जान पाए कि मुझसे आपने यह जाना है।

विषमशील—क्या यह बात पूर्णतया निश्चित है ?

हर्नेंदुदेव—फ़ौजें रवाना तक हो चुकी हैं। कल की ही तो बात है।

विषमशील—तब मैं आपकी अभूतपूर्व प्रीति के लिये सहस्रों धन्यवाद देकर अति शीघ्र चलना चाहूँगा।

हर्नेंदुदेव—मौक़ा इसी बात का मुतक़ाज़ी है भी।

अनंतर प्रेम-पूर्वक मिलकर दोनो मित्र पृथक् हुए।

नवाँ परिच्छेद

शक-मालव-संग्राम

(अ) उज्जयिनी राज्य पर आक्रमण और युद्ध

अब विक्रमादित्य महोदय अपने बीसों मित्रों तथा अनुचर-वर्ग को लेकर परम शीघ्रता-पूर्वक पतिस्थान की ओर धावित हुए। मार्ग में जहाँ-जहाँ मालव-राज्य था, वहाँ-वहाँ से युद्धकर्ता सारे मालव वीरों को बटोरते हुए आप यथासाध्य द्रुतगति से जा रहे थे। नियत स्थान पर पहुँचते-पहुँचते इनके साथ साठ सहस्र मालव वीरों का एक प्रचंड दल हो गया, जो अपने पहले ही से नियत चमूपों सेनापतियों आदि की अध्यक्षता में युवराज की आज्ञा के अनुसार कार्य करता था। इनके उन्नीसों मालव मित्र भी उस दल में यत्र-तत्र नियुक्त कर दिए गए, जिससे तक्ष-शिलावाली शिक्षा के ज्ञान का भी लाभ सेना को मिले। इनके वे मित्र युद्धकर्ता मालव-संघ के सदस्य होने से पहले ही से ऐसे कार्यों के लिये उपयुक्त तथा उत्साही थे। अतएव उनसे युद्ध-संबंधी सेवा लेने में न तो इन्हें संकोच हुआ, न उन्हें इस भार-वहन की तत्परता से नाहीं हुई। पूर्ण उत्साह के साथ संचालित यह सुशिक्षित मालव-दल समर-भूमि के निकट जा पहुँचा। वहाँ भूमक और लाट की मिलाकर प्रायः सवा लक्ष विनीत सेना उपस्थित थी, जिसमें से पछत्तर सहस्र भूमकीय थी तथा पचास सहस्र लाटीय।

विक्रम ने वीरवर की अध्यक्षता तथा पुष्कर क्षेत्रवाले पाँचो मित्रों के सहयोग से बीस-पच्चीस चतुर मालव वीरों को गुर्जर योद्धा बनाकर लाटीय सेना में भेज दिया। इन लोगों ने विविध रूप रख-रखकर तथा लोगों से मिल-मिलकर सेना का भेद लिया, तो बहुतेरे सैनिक लाटेश के कपट-पूर्ण व्यवहार से परम रुष्ट पाए गए। वे लोग भारतीय प्रांत जीतने में शकों को सहायता देने के नितांत विरुद्ध थे। अतएव महासेनापति ने तो प्रतिकूलता न की, किंतु प्रायः आधा लाट-दल गुप्तरीत्या विक्रम से मिल गया, और, जब इन्होंने परम शीघ्रता-पूर्वक उस दल पर प्रचंड आक्रमण कर दिया, तब अपने आधे भाइयों की प्रतिकूलता से वह सेना मित्र-शत्रु में भेद न जान सकी, और थोड़े ही संग्राम के पीछे बिललाकर भागी। लाटेश स्वयं विक्रम के हाथ से मारा गया। यह देखकर उसका बेटा सोमदेव भी युद्धार्थ इनके सम्मुख उपस्थित हुआ। तब विक्रम ने मित्रता के नाते उसे बहुत समझाया, तथा युद्ध से निवृत्त करना चाहा, किंतु पितृ-वध से क्रोधित उसने स्वभावशः प्राचीन मित्रता का विचार न किया। कुछ देर दोनो में कठिन युद्ध हुआ, क्योंकि उसने भी तक्ष-शिला में शस्त्रास्त्र-प्रहार के सारे दाँव-पेंच सीखे थे। अनंतर विक्रम ने ढाल के प्रहार से सोमदेव के दक्षिण हाथ की कलाई कुछ काल के लिये भूठी कर दी, जिससे उसकी तलवार भनाती हुई पृथ्वी पर जा पड़ी। तब इनके साथियों ने उसे बाँध लिया। लाटीय पट भवनों पर भी विक्रम का स्वत्व हो गया, जिससे प्रचुर सामग्री के साथ रूपरेखाजी भी इनके अधिकार में आईं। उनकी माता का शरीरांत पहले ही हो चुका था। विक्रम ने अत्यंत मान के साथ सोमदेव तथा रूपरेखा को पतिस्थान के मालव-राजप्रासाद को भेजना चाहा, तो सोमदेव ने यों बिनती की—

सोमदेव—मित्रवर ! पितृवध का बदला लेना मेरे लिये आवश्यक

था, और मैंने उसका पूर्ण प्रयत्न कर लिया। यदि आप चाहते, तो मुझे वहीं समाप्त कर सकते थे। मुझे छोड़ देने में आपकी कृपा-मात्र थी। अब मैं जीवित न समझकर अपनेको मृत एवं प्रेत मानता हूँ, और जिस भक्ति से वीरवरजी बैताल बनकर आपकी सेवा करते हैं, वैसे ही मुझे भी अपना दूसरा बैताल मान लीजिए। अब से शत्रु न होकर मैं आपका सेवक-मात्र हूँ।

विक्रम—मित्रवर! आप क्या कहते हैं? जैसे पहले भाई थे, वैसे ही अब भी रहिए। पितृवध के प्रतिकार में मुझे मारने का प्रयत्न करना आपका धर्म था। यदि युद्ध से निवृत्त होना नहीं चाहते, तो आइए, हमारी मालव तथा लाटीय सेनाएँ मिलकर भूमकीय शकों पर अभी आक्रमण करें।

सोमदेव—जो आज्ञा। रूपरेखा को आप पतिस्थानवाले राज-प्रासाद को अपनी पहली इच्छा के अनुसार भेज दीजिए। उसकी सखी तथा अन्य रक्षक साथ रहेंगे।

इस प्रकार निश्चय करके तथा रूपरेखा की आज्ञा लेकर विक्रम ने पूर्ण राजकीय मान के साथ उन्हें अपने प्रासाद को भेज दिया। अनंतर लाटीय दल एकत्र करने का प्रयत्न किया गया, तो उसका पराजित भाग ऐसा तितर-बितर हो गया था कि फिर न पलटा, तथा प्रायः २३,००० लोगों का विजयी भाग मालवों से मिलकर शकों पर आक्रमण करने लगा। युवराज सोमदेव के मालवों से मित्रभाव ग्रहण करने पर महासेनापति भी इस लाटीय दल के नियंत्रण में विक्रम की आज्ञा से प्रवृत्त हुए। एक प्रचंड सेना को अपने सम्मुख आते देख तथा लाटीय दल की प्रतिकूलता से रुष्ट होकर भूमक ने अपने योद्धाओं में से प्रायः पंद्रह सहस्र सेना अलग कर ली, तथा इतने ही और वीर सौराष्ट्र से मिलवाकर इस तीस सहस्र दल को लाट-राज्य पर अधिकार जमाने को भेज दिया। अनंतर अपनी साठ

सहस्त्र सेना से उसने मालव तथा लाटीय मिलित दल का सामना किया। दो दिनों तक घोर युद्ध होता रहा, जिसके पीछे शक-दल पराजित होकर पीछे हट गया। यह देख भूमक ने मालव-पराजय की आशा छोड़ अपनी हतशेष आधी सेना सौराष्ट्र भेज दी, तथा शेषार्द्ध को लेकर लाट का रास्ता लिया। वहाँ जाकर उसने उस राज्य की स्थानीय सेना को पूर्णतया पराजित करके पूरे राज्य पर अधिकार जमाया, और मालव के बदले लाट-राज्य पाकर अपने को बहुत कुछ कृतार्थ माना। उसे आशा थी कि अकेले राजबुल के प्रबल दल के सामने मालव-शक्ति ठहर न सकेगी। इधर विक्रम ने यत्र-तत्र ध्यान देने के बदले उस समय माथुर शकों से उज्जयिनी-रक्षा का अपना कर्तव्य प्रधान समझकर परम द्रुतगति से उसी ओर प्रस्थान किया।

उधर राजबुल षोडास एवं खरओस को साथ लिए हुए परम शीघ्रता-पूर्वक बढ़ता हुआ उज्जयिनी के निकट पहुँच गया, तथा उत्तर और पूर्व से उस पर आक्रमण करने लगा था। राजा गंधर्वसेन पहले से इस अचानक धावे के लिये तैयार न होने तथा दुर्ग के भी निकल जाने से एकाएकी किं-कर्तव्य-विमूढ़-से हो गए। तो भी मालवों के उत्साह अथच महासेनापति आदि के तात्कालिक प्रबंध ने उन्हें साहस प्रदान किया। मालवों की डेढ़ लक्ष सेना एकत्र हुई। उधर राजबुल तीन लक्ष दल लाया था। कई दिनों तक घोर युद्ध होता रहा, किंतु अंत में विवश होकर पच्चीस सहस्त्र सेना के साथ गंधर्वसेनजी वन की ओर निकल जाने को प्रस्थित हुए। दैव-योग से इनका गमन उसी ओर हुआ, जहाँ स्वयं राजबुल और षोडास का झंडा गर्व-पूर्वक लहरा रहा था। वीरता के आवेश में आकर इन्होंने स्वयं राजबुल को प्रचारा, और वह भी ढाल-तलवार लेकर इनके सामने हुआ। दो घड़ी तक

दोनो में घोर द्वंद्व-युद्ध होता रहा। अंत में इनके एक प्रचंड प्रहार से उसका सिर कटकर पृथ्वी पर जा पड़ा। यह दशा देखकर कुछ शक-सेना तो भागी, किंतु षोडास ने उसे सँभाला, तथा द्वंद्व-युद्ध का प्रकार छोड़कर प्रबल दल के साथ गंधर्वसेन के केवल २५,००० वीरों पर आक्रमण किया। मालवों ने जी तोड़कर युद्ध किया, किंतु प्रायः तिगुनी शक-सेना के सम्मुख उनको विजय-लक्ष्मी न अपना सकी, तथा क्रमशः हताहत-संख्या बढ़ने लगी, यहाँ तक कि गंधर्वसेन दस-पाँच अनुयायियों के साथ युक्ति-पूर्वक जंगल में निकल गए। वहाँ भी शकों ने पीछा न छोड़ा, और अंत में एकाकी होकर आप एक मृगपति के शिकार हो गए।

(ब) सरस्वती और कालकाचार्य

इधर विजयी शकों ने नगर में प्रवेश किया। ऐसे अवसर पर रनिवास की रक्षा के लिये राजा गंधर्वसेन ने पहले ही से पचीस सहस्र मालव वीर नियोजित कर दिए थे। सौतों के साथ रानी सरस्वती ने अपने प्राण-प्रिय पुत्र भर्तृहरि को भी रख दिया था। स्वयं उस रानी ने महल न छोड़ा। अतएव शेष सारा राजकुटुंब पतिव्थान की ओर प्रस्थित हुआ। मार्ग में शकों से युद्ध करता हुआ वह आगे बढ़ता जाता था। इधर राजकीय प्रासाद में घुसकर कालकाचार्य ने अपनी भगिनी सरस्वतीदेवी का प्रेम-पूर्ण संभाषण की आशा में अभिवादन किया।

कालकाचार्य—मेरी प्राण-प्रिय भगिनी! मैं तेरे धूर्तों द्वारा फुसलाए जाने से अत्यंत दुःखित हुआ था। अब जाकर कई वर्षों के प्रयत्नों से तेरे उद्धार में समर्थ हुआ हूँ। आशा है, तू फिर से अपने संन्यास धर्म में प्रवृत्त होकर तीर्थंकरों की कृपा प्राप्त करने में समर्थ होगी।

सरस्वती—मैंने आपसे कहला भेजा था कि प्रसन्नता-पूर्वक गृहस्थाश्रम स्वीकार कर चुकी हूँ। अब आपने मेरे साथ निग्रह किया है या अनुग्रह ? मुझे प्रसन्न करने आए हैं, अथवा जलाने ? इतने दिन संसार में रहकर अनुभव की मात्रा क्या इतनी ही पा सके हैं ? आप मुझसे धन्यवाद की आशा करते हैं या धिक्कार की ? आपका श्रीमुख देखकर प्रसन्न हूँगी या उस पर थूकने को उत्सुक ? क्या इन प्रश्नों के उत्तर समझने की बुद्धि अब तक आपको नहीं प्राप्त हो सकी है ?

कालक—तू क्या कह रही है ? बहन ! क्या ज्येष्ठ भ्राता और एक गृहत्यागी आचार्य से ऐसे ही कथन योग्य हैं ? संन्यास लेने के पीछे गृहस्थाश्रम का विधान कहाँ है ? बहन ! तू मूर्खा बनाई गई है; इतना क्यों नहीं देख पाती ?

सरस्वती—यह पूर्णतया स्वीकार है। प्रश्न केवल इतना रह जाता है कि मुझे किसी महात्मा राजपुरुष ने मूर्खा बनाया है अथवा धार्मिक कहलानेवाले किसी दुरात्मा ढोंगी ने ?

कालक—देख बहन ! किसी धर्माचार्य से ऐसा नहीं कहा जाता।

सरस्वती—मैं आचार्य से कुछ न कहकर एक नीच दुरात्मा से आलाप कर रही हूँ।

कालक—क्या अपने दुश्चरित्रों में तू ऐसी लीन हो गई थी कि अब सन्मार्ग देखने की बुद्धि ही तुझमें शेष नहीं ?

सरस्वती—दुश्चरित्रों में लीन है तू नारकी, दुष्ट ! मैं तो एक सच्चरित्रा रानी हूँ, जिसके प्रभाव से करोड़ों प्रजा सुख-चैन से सोती थी।

कालक—अच्छा, बहन ! गाली-गलौज छोड़कर यदि हो सके, तो तार्किक वाद कर ले।

सरस्वती—यों ही सही। मैंने नियम-पूर्वक संन्यास ग्रहण किया ही नहीं। उस काल मेरी अवस्था परिपक्व विचार के योग्य न थी, अतएव संन्यास के संबंध में मैंने तुझ स्वार्थी, ढोंगी के फुसलाने से जो निर्णय किया, वह अशुद्ध तथा अग्राह्य था। फिर जब मैं संन्यासाश्रम में भी स्वतंत्र न रहकर तेरी अभिभावकता में रही, जो गुरु न होकर भाई-मात्र था, तब गृहस्थाश्रम कहाँ छूटा ? तू था अपने पिता का छोटा पुत्र। राज्य तो तुझे मिलना था नहीं। विवाह करके पुत्रोत्पादन का सुख तू पा ही चुका था। जब पुत्र और पत्नी, दोनो काल के गाल में चली गईं, तब शोक-विह्वल हो तू संसार से उदास होकर विरक्त हो गया। छोड़ा तूने क्या, वरन् धार्मिक ढोंग में भी आचार्य-पद का भोग कर रहा है। मैंने न तो विवाह-सुख का अनुभव किया था न मातृत्व का। रानी हो सकती थी और हुई भी, किंतु तुझसे न देखा गया। अब बोल दुष्टराज ! तू दुष्कर्मी है या मैं ? मैंने तेरा कोई अमंगल न किया। स्वतंत्र थी, अपने विषय में कुछ भी निश्चय कर सकती थी। मैंने सोच-समझकर निर्णय किया। तू कब का वैर निकालकर धर्म-कार्य छोड़, राजनीतिक बखेड़ों में पड़, देश-प्रेम को तिलांजलि दे तथा भारत के शत्रु क्रूर विदेशी शकों से मिलकर मेरी तथा देश की शांति और सुख में बाधक हुआ ?

कालक—मैंने तो धार्मिक पथ से भ्रष्ट देखकर तुम्हें सद्धर्म पर लौटा लाने का प्रयत्न-मात्र किया।

सरस्वती—महा घोर पातकों द्वारा मुझे विवश करके मिथ्या मार्ग पर लाना चाहता है ? अधम पामर ! मैं तेरे झूठे विचारों पर थूकती हूँ। अभी राजप्रासाद से निकलकर अपने धर्मवान् स्वामी का खोज लगाऊँगी। यदि जीवित मिल गए, तो भली भला, नहीं तो उन्हीं के साथ सती हो जाऊँगी। यदि मेरे धर्मात्मा स्वामी

का अमंगल हो गया होगा, तो सती के रूप में तुझे शापित करती हूँ कि मेरा बेटा विक्रम अपने हाथ से तुझसे पितृघात का उचित बदला ले। यदि मेरे वचन धर्म-पूर्ण होंगे, तो यह शाप सत्य होगा। अब नेत्रों से ओट हो जा, कपटी, नीच, धूर्त कहीं के, नहीं तो मेरी कोपाग्नि चक्षुद्वय से निकलकर अभी तुझे भस्म कर देगी। यदि क्षत-विक्षत शरीरवाले जीवन पर तुझे कुछ भी ममता शेष रहे, जैसी कि प्रत्येक पापी और नीच को होती है, तो अभी मेरे दृष्टि-पथ से दूर हो जा।

ऐसे उग्र वचन सुनकर कालक उलटे पैरों वहाँ से भागकर शक-सेना में जा मिला। उधर रानियों की सेना रोकने को पच्चीस सहस्र वीरों के साथ खरओस धावित हुआ। इसी दल में कालक भी जा मिला। रानियों पर विपत्ति सुनकर सब ओर से मालवों की साधारण युद्धोत्साही प्रजा भी दौड़ पड़ी, तथा जो मालव योद्धा उज्जयिनी में प्रासाद के रक्षणार्थ रह गए थे, वे भी दौड़े। यह दशा देखने पर पच्चीस सहस्र और शक-दल भी खरओस की सहायता को भेजा गया। इस प्रकार पचास सहस्र मालव-दल एकत्र हुआ, और एक लक्ष शक-सेना। इन दोनो पक्षों में फिर से प्रचंड संग्राम होने लगा। मालव-दल इधर से लड़ता हुआ राजपरिवार को लिए हुए आगे बढ़ रहा था, और उधर शक-दल प्रहारों पर प्रहार करता हुआ उसे घेरने के ढंग में था। दस-बीस कोस आगे तो मालव बढ़ गए, किंतु यहाँ इन पर संकट उपस्थित होने की दशा निकट आने लगी। इतने ही में पतिस्थान से आगे बढ़ता हुआ विक्रम का प्रायः पचास सहस्र मालव और लाटीय दल इसी स्थान पर आ पहुँचा। इस नवीन सेना की सहायता से उज्जयिनीवाला मालव-दल भी बचाव की युक्तियाँ छोड़कर विक्रमीय युद्ध-नीति के अनुसार आक्रमणकारी हुआ। दोनो ओर सेना सम थी, किंतु इधर विक्रम का समर-कौशल

प्रबल था। तीन दिनों तक घोर युद्ध होता रहा, जिससे शक-सेना क्षत-विक्षत होकर भागने का मन करने लगी। कालक भी बार-बार दक्षिण हाथ उठा-उठाकर उसे युद्धार्थ प्रोत्साहित करता था। यह देख स्वयं विक्रम ने बढ़कर उस पर एक ऐसा वार खड्ग से किया कि बाहु-मूल से उसका दक्षिण हाथ कटकर पृथ्वी पर गिर पड़ा, तथा धर्म-गुरु होकर भी उसके स्वदेश-शत्रुओं में मिलकर लड़ने से कुपित हो वीरवर ने उसे जान से तो नहीं मारा, किंतु पृथ्वी पर पटककर इतनी लातें मारीं कि वह दुरात्मा मरणप्राय मूर्च्छा की दशा को प्राप्त हो गया। अनंतर विक्रम की आज्ञा से वह सामरिक चिकित्सागार को भेज दिया गया। अपनी सेना की दुर्दशा देख स्वयं क्षत्रप खरओस ढाल-तलवार पकड़कर विक्रम के सामने आया। इन्होंने बहुत समझाया कि एक बार मित्रता-पूर्वक उसे जीवन-दान देकर यह पुनर्बार युद्ध करना न चाहते थे, किंतु उसने न माना। अनंतर दोनो में दो घड़ी-पर्यंत प्रचंड द्वंद्व-युद्ध हुआ, जिससे परम क्षत-विक्षत होकर भी उसने संग्राम न छोड़ा। तब चित्त में उसके शौर्य की सराहना करते हुए इन्होंने एक ऐसा वार खड्ग का किया कि वह मरकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। अनंतर प्रायः पचहत्तर सहस्र योद्धाओं के हताहत होने पर शेष शक-दल उज्जयिनी की ओर पलायित हो गया। इधर विक्रम की भी अर्द्ध सेना हताहत हो चुकी थी, जिससे जो योद्धा उज्जयिनी से आए थे, उनके द्वारा उस ओर का समाचार पाकर तथा शक-संख्या का विवरण जान उन्होंने माताओं को लेकर पतिष्ठान पलट जाना योग्य समझा। राजा गंधर्वसेन के मरण का समाचार सुनकर सारे राजकुटुंब में शोक-सागर उमड़ पड़ा, तथा विक्रम के रोकने पर रानी मदनरेखा तो मान गईं, किंतु रानी सौम्य-दर्शना पति की पाग के साथ सती हो गईं। समय पर नीरोग होने के पीछे कालक अपमान के साथ वहाँ से छोड़ दिया गया। उधर रानी

सरस्वतीदेवी दस-बारह अनुयायियों के साथ निकलीं। शकों ने कालक की स्वसा होने से उनका मार्ग न रोका। उन्होंने सारा जंगल छान डाला, किंतु पति न मिला। एक स्थान पर सिंह द्वारा भक्षित एक मानुष-अस्थि-पंजर मिला, जिसका शिर-मात्र बचा हुआ था। उसे पहचानकर रानी सरस्वतीदेवी नगरी में आकर उसी के साथ सती हो गईं।

(स) मालव तथा शक-प्रबंध

उधर माथुर शक-सेना राजवुल और खरओस, दोनो को खोकर भी हुई विजयिनी। उसकी प्रायः आधी संख्या तो युद्ध में समाप्त हो चुकी थी, किंतु शेषार्द्ध के बल पर षोडास ने उज्जयिनी पर शकाधिकार स्थापित किया। तुरगामी साँड़िनी-सवार मथुरा भेजे गए, जहाँ से प्रायः पचास सहस्र नवीन सेना भी आई, जिसके बल पर आकर-अवंति प्रांतों पर शकों का राज्य स्थापित हो गया, तथा कर्कोट, प्रतिष्ठान उपनाम पतित्थान (पैठान) और पूर्वी जयपुर में विक्रम का अधिकार रहा। षोडास की ओर से हगाम तथा हगामस उज्जयिनी प्रांत के क्रमशः उपरिक एवं सेनापति नियत हुए। इधर विक्रम पतित्थान में रहकर अपने बचे-बचाए देश का गणमुख्य के रूप में पालन करने लगे। मालवों की ऐसी दुर्दशा सुनकर सिंधुक शातवाहन का महामंत्री लूतवर्ण श्रीकाकुलम से विक्रम की सेवा में उपस्थित हुआ। आप महामंत्रीजी से परम प्रेम-पूर्वक मिले। गुप्त मंत्रणागृह में बैठकर वीरवर तथा महामंत्री अमरगुप्त के साथ विक्रम लूतवर्णजी से आलाप करने लगे।

लूतवर्ण—अब आपके क्या विचार हैं ? देव !

विक्रम—जो दशा है, वह तो विदित ही है। आप ही आज्ञा कीजिए कि क्या करणीय है ? किसी प्रकार उज्जयिनी का उद्धार तो आवश्यक है ही।

लूतवर्मा—आप जानते ही होंगे कि पितृवियोग के पीछे आपके सहपाठी तथा मित्र देव सिंधुक ही अब हमारे सम्राट् हैं। राज्य भी बृहत् है। उसका आकार आप पर विदित ही होगा।

विक्रम—आर्य ! यह सारा हाल मुझे ज्ञात है।

लूतवर्मा—मैं तो समझता हूँ कि आप श्रीकाकुलम चलकर अपने मित्र से मिलिए। उनकी सहायता से कोई-न-कोई युक्ति लग ही जायगी।

विक्रम—है तो यह प्रस्ताव योग्य, और मुझे यों भी उनसे मिलने की इच्छा है, तो भी शीघ्रता क्या है? जब समय होगा, तब आऊँगा अवश्य। अभी तो दशा यह दिखती है कि मालव तथा कुनिंद, इन दोनो गण राज्यों पर माथुर शकों का दाँत लगा हुआ है। देखना यह है कि किस पर पहले आक्रमण होता है? माथुर शक मालव-शक्ति को ध्वस्तप्राय समझते हैं। ऐसी दशा में वे कुनिंद पर ही प्रथम आक्रमण करेंगे, ऐसा समझ पड़ता है, तथा इसके समाचार भी मिले हैं। मैंने मित्रवर वीरवर के द्वारा कुनिंद गणमुख्य अमोघभूतिजी से कहला भेजा है कि यदि ऐसा हो, तो वह सम्मुख युद्ध न करके विलंबकारिणी नीति का अवलंब लें। यदि किसी प्रकार दो वर्षों तक आत्मरक्षा में समर्थ हो जायँ, तो मैं भी इधर मालव तथा लाट-शक्ति संगठित करके उज्जयिनी पर घोर आक्रमण कर सकूँगा, जिससे दो ओर से दबकर माथुर शक्ति हम दोनो में से किसी को स्ववश न कर सकेगी। पहले वर्ष प्रयत्न करके मैं सौराष्ट्र तथा लाट पर विजय प्राप्त करने से इधर की शक-शक्ति को अशेष कर दूँगा। यदि माथुर लोग पहले पतिस्थान पर ही आक्रमण करें, तो कुछ कठिनता अवश्य पड़ेगी, किंतु उधर कुनिंद के भी भिड़ जाने से संभवतः वे कुछ कर न सकेंगे।

लूतवर्मा—इन विचारों का कुनिंद-पति पर कैसा प्रभाव पड़ा?

वीरवर—उन्हें तो, आर्य, मैं भली भाँति समझा आया हूँ, और मामले को वह पूर्णतया समझ रहे हैं, अथच सहमत भी हैं। आशा है, कोई गड़बड़ न पड़ेगा।

लूतवर्मा—तब तो प्रबंध आपके ठीक-ठीक चल रहे हैं। यदि किसी प्रकार का कष्ट हो, तो संकोच न कीजिएगा।

विक्रम—इसमें संदेह न पड़ेगा।

लूतवर्मा—आपके शेष तीनो प्रांतों के प्रबंध में तो कोई विशंखलता नहीं है ?

अमरगुप्त—सो सब ठीक-ठाक है, आर्य !

लूतवर्मा—तब फिर मैं आज्ञा माँगूँगा।

विक्रम—मित्रवर, देव सिंधुकजी से बिनती कर दीजिएगा कि मैं उनसे शीघ्र मिलने का उत्सुक हूँ। यह भी क्षमा माँग लीजिएगा, जो मैंने कारण-वश अपना ठीक परिचय उन पर तक्षशिला में प्रकट न किया।

लूतवर्मा—इस बात पर तो वह बहुत हँसते थे।

अनंतर प्रेम-पूर्वक मिल-भेंटकर लूतवर्माजी स्वदेश को प्रस्थित हो गए।

दसवाँ परिच्छेद

सौराष्ट्रीय शक-शक्ति का पतन और विवाह

(अ) सौराष्ट्र-पतन

गणमुख्य विक्रमादित्यजी ने वीरवर और सोमदेव से मंत्रणा करके परम शीघ्रता-पूर्वक सौराष्ट्र तथा लाट देश जीतने के प्रयत्न किए। भूमक ने नवीन राज्य समझकर अपनी मुख्य सेना लाट ही में रक्खी थी, तथा सकुटुंब वहीं वह स्वयं रहने भी लगा था। सौराष्ट्र में मुख्य शक्ति भूमक ही की थी, जिससे स्थानीय निर्बलता आ गई थी। शेष सौराष्ट्रीय शक-शक्तियाँ सबल न थीं। अतएव पहले उसी ओर ध्यान दिया गया। विक्रम ने मालव वीरों को प्रोत्साहित करने में कोई युक्ति उठा न रक्खी। वे भी इनके शास्त्र-ज्ञान, परिश्रम, मिलनसारी, रण-कौशल, शस्त्रास्त्र-प्रहार के प्रकांड अभ्यास आदि से परम संतुष्ट थे। अतएव दो ही तीन मास के भीतर छितरी हुई मालव-शक्ति फिर से जगमगा उठी। उधर ज्यों ही निश्चित समाचार मिला कि माथुर शक-शक्ति कुनिंद-विजय करने को प्रस्थित हो चुकी थी, त्यों ही विक्रम ने कहा, अब यदि ईश्वर ने चाहा, तो समय पर शक-शक्ति पूर्णतया निर्मूल हो जायगी। महाकालेश्वरजी ने उन्हें अंधा करके अब मेरे हाथ में दे दिया है। अनंतर मालवीय तथा लाटीय महासेनापतियों की अधीनता में प्राय: एक लक्ष प्रचंड सेना विक्रम के समर-कौशल से परिचालित होकर एकाएकी सौराष्ट्र पर जा धमकी। वहाँ की शक-सेना

युद्धार्थ सन्नद्ध न थी, न इसकी कोई संभावना समझती थी। अतएव भूमकीय राज्य दस ही दिनों में पूर्णतया पराजित हो गया, तथा प्रायः दो ही मास में शेष सौराष्ट्र पर भी मालवीय स्वत्व हो गया। इस नवीन प्रांत पर पूर्ण अधिकार प्राप्त होने से मालवीय शक्ति फिर से जगमगा उठी, तथा आकर-अवंति प्रांत से जो हानि हुई थी, वह आर्थिक दृष्टि से प्रायः पूरी हो गई, यद्यपि नाम के विचार से कुछ हेठी शेष बनी ही रही। सौराष्ट्र में प्रबंधार्थ उचित मात्रा में मालवीय सेना लगा दी गई। भूमक ने जब यह समाचार पाया, तब अपनी अचैतन्यता पर केवल हाथ मलकर रह गया। उसका किया कुछ हो न सका। सौराष्ट्र-विजय से विक्रमीय महत्ता की ज्योति समीप के प्रांतों में पूर्ण मान के साथ देदीप्यमान हो उठी।

(ब) हनेंदुदेव और लाट-विजय

सौराष्ट्र-विजय के पीछे मालवों ने एक-दो मास के लिये भविष्य में अपने आक्रमण-शैथिल्य का रूप दिखलाना योग्य समझा। इनका विचार ऐसा हुआ कि अधिक शीघ्रता लाट के संबंध में करने से उस ओर शक-शक्ति की स्वाभाविक विशेष चैतन्यता से कठिन युद्ध के कारण सैन-संबंधी विशेष हानि की भी संभावना थी। अतएव दिखलाने-भर को सैनिक प्रबंध ढीला कर दिया गया, यद्यपि आंतरिक प्रकारेण चाणिक सूचना से ही तत्परता का डौल रहा। इन्हीं दिनों उज्जयिनी का निरीक्षण करते हुए लाट देश को भी जाने के विचार से स्वयं हनेंदुदेवजी पतिष्ठान पहुँचकर विक्रम से मिले। दोनो मित्र अत्यंत प्रसन्न हुए। रूपरेखाजी की सखी के साथ विक्रम और हनेंदुदेव लाट राजकुमारी से भी बात करने लगे।

हनेंदुदेव—बहनजी! आपके राज्य में भारी उथल-पुथल का हाल सुनकर मुझे बड़ा रंज हुआ है। उम्मीद है, यहाँ खुशी से रहती होंगी।

रूपरेखा—प्रसन्नता का समय तो अब देख नहीं पड़ता । पूज्य पिताजी स्वर्गवासी हो गए, तथा मालव गणपति की भी वही दशा हुई । यदि लाटेश इस झमेले में न पड़ते, तो संभवतः यह युद्ध ही न उभड़ता । मैंने तथा भाई ने हम दोनो के दुलार रखने के नाम पर भी उन्हें बहुत समझाया था, किंतु भावी-वश उन्होंने न माना । जो होना होता है, वही होकर रहता है ।

इनेंदुदेव—युद्ध के न उठने की बात न सोची जाय, बहनजी ! मैं इस मामले का कुछ ज़्यादा हाल जानता हूँ । लड़ाई होती ज़रूर, मगर आपके वालिद माजिद के शरीक न होने से मुम्किन था कि पहला हमला एकाएक उसी जानिब होता । क्या कहूँ, सबों से मैंने अपना पूरा हाल बतलाया नहीं । मैंने इस लड़ाई के रोकने की बड़ी कोशिश की, और मरहूम महाक्षत्रप से अर्ज़-मारूज़ करने का कोई मुक़ीक़ा उठा न रक्खा, मगर भूमकजी की सलाह इस क़दर कारगर हो चुकी थी कि मेरी कुछ चली नहीं ।

विक्रम—लड़ाई के पूर्व कोई राजनीतिक कथनोपकथन भी कहने योग्य न हुए । क्या कहा जाय ?

इनेंदुदेव—इस मामले में भी मैंने बहुत कुछ अर्ज़-मारूज़ की थी । महाक्षत्रपजी ने सिर्फ़ उज्जैन को साँड़िनी-सवार भेजकर लड़ाई के बाबत एक ख़त भेजा, और मुझे भी अख़्तियार दिया कि ख़ास-ख़ास लोगों से इसका ज़िक्र कर सकता था ।

विक्रम—इसी कारण कुनिंद में आपने सचेत कर दिया । बड़ा आश्चर्य हुआ था कि अपने राज्य का यह गुप्त भेद आपने मुझे बतलाया कैसे ?

इनेंदुदेव—महाक्षत्रपजी किसी दुश्मन को भी एकाएक फँसाना न चाहते थे । इसीलिये मैं आपसे उनकी इजाज़त से अहवाल बतला सका । ग़ायत दर्जे का सदमा हुआ कि महाक्षत्रप और क्षत्रप,

दोनो बेचारे रहेलत फ़र्मा गए। रोते-रोते मेरी तो आँखें सूज गईं थीं। क्या करूँ, किसी तरह सब्र करना पड़ा। इधर आप दोनो के अज़ीज़ अब्बाजानों की भी वही हालत हो गई।

विक्रम—इन बातों को तो कुछ समय बीत ही चुका है। होना था, सो हो गया। आज आपकी अवाई से हम तीनो को जो प्रसन्नता हुई है, उसे विशेष दुःख-चर्चाओं से मलिन करना योग्य नहीं। राजकुमारीजी से युद्ध के संबंध में मैं बहुत कुछ क्षमा माँग चुका हूँ, तथा इन्हें समझा-बुझा भी चुका हूँ। लाट के पुनः प्राप्त होने में संदेह नहीं है, ऐसा आपको भी गुप्त भाव से बतलाता हूँ। मैं जानता हूँ, आप हमारी मित्रता के संबंध में अपनी शक-जातीयता पर विशेष ध्यान नहीं देते।

हर्नेदुदेव—देता क्यों नहीं ? किंतु आपके भेद कहीं ज़ाहिर नहीं करता, न उनके आपको बतलाता हूँ। (रूपरेखा से) बहनजी ! मैं ख़याल करता हूँ, अब तक मिज़ाज को क़ाबू करके आप एक बार फिर से हस्ब मामूल ख़ुश-ख़ुर्रम हो चुकी होंगी।

रूपरेखा—यही बात है। बहुत काल-पर्यंत दुःख मनाने से क्या पिताजी लौटे आते हैं ? अपना ही रुधिर चाहे जितना जला लेवें। भला, आपके कुटुंब में तो इस युद्ध में कोई हानि न हुई ?

हर्नेदुदेव—हुई क्यों नहीं ? मेरे भी वालिद माजिद व एक भाई काम आ गए। घर उजाड़-सा हो गया। सिर्फ़ एक चचा बाक़ी हैं। बहुत ज़्यादती से अफ़सोस मनाकर अब तक तबीयत ठीक भी कर चुका हूँ।

विक्रम—तब यह युद्ध ऐसा सत्यानासी हुआ कि हम तीनो के पूज्य पिता समाप्त हो गए। आपका भाई भी गया, और मेरी दो माताएँ।

हर्नेदुदेव—जो हुआ, सो हो ही गया। अब कहाँ तक ख़ून

जलाया जाय ? मैं तो इस बार यहाँ तक्षशिला की-सी मजेदार बातें करने हाज़िर हुआ हूँ। पुराने दोस्तों से मिलकर तबीयत ख़ुश करने आया हूँ। रोते-रोते आजिज़ आ गया था।

विक्रम—यही बात है, मित्रवर ! मेरी भी यही दशा हो गई थी।

अनंतर यह समाज भंग किया गया, और विक्रम के साथ इर्नेदुदेव इतस्ततःसैर करने निकले। यत्र-तत्र घूम-घामकर आपने पतिस्थान तथा उसके निकट के दर्शनीय सब स्थान देखे। उचित समय पर फिर से दोनो मित्रों में आलाप होने लगा—

विक्रम—कहिए कृपासिंधु ! बहुत बड़ा कष्ट उठाकर इस बार मुझे कृतार्थ किया है।

इर्नेदुदेव—जैसी गुफ़्तगू तक्षशिला में आपसे हुआ करती थी, वैसी फिर कहीं नसीब न हुई। कुछ दिन आपके यहाँ उज्जयिनी की सैर की। अब लौट जा रहा हूँ। दिल में आया कि दो-चार दिन पतिस्थान में भी तक्षशिला का मज़ा उठा लूँ। छिपकर यहाँ हाज़िर हुआ हूँ।

विक्रम—बड़ी ही कृपा हुई। मैं भी इन दिनों यहाँ काम-काज में पड़ गया हूँ। वहाँ की-सी चित्त प्रसन्न करनेवाली बातें अलभ्य हो रही हैं।

इर्नेदुदेव—इसीलिये तो ख़िदमत में हाज़िर हुआ हूँ। वहाँ आपने मुझसे बहुतेरे सवालात पूछे ; अब कुछ आप फ़रमाइए।

विक्रम—जो आज्ञा ; कहिए, क्या सुनने की इच्छा है ?

इर्नेदुदेव—पहले यही बतलाइए कि ज़नोशू में कैसा बर्ताव आप मुनासिब समझते हैं ?

विक्रम—यह कुछ कठिन प्रश्न है। पहले तो मन मिलना ही बहुत सुगम नहीं। लोग सौंदर्यादि पर इस प्रश्न का निर्णय प्रायः करते हैं, किंतु ऐसा आनंद थोड़े ही काल रहकर सुंदर वदन साधा-

रख दिखने लगता है। भज जाने से अच्छी-से-अच्छी वस्तु साधारणी हो जाती है। मुख्यता गुणों की है।

हर्नेदुदेव—कैसे गुण चाहिए?

विक्रम—सबसे बढ़कर स्त्रियों में अचांचल्य आवश्यक है। हमारे यहाँ कहते ही हैं कि "भार्या रूपवती शत्रुः" अर्थात् रूपवती स्त्री शत्रु है। रूप के गाहक बहुतेरे हो सकते हैं, जिससे कठिनताएँ उपस्थित होने लगती हैं। देखिए, सीताजी में चांचल्य का पूर्ण अभाव था, तो भी केवल महारूप के कारण उन्हें भाँति-भाँति के कष्ट उठाने पड़े, और अपने प्राण-प्रिय पति का साथ छूट ही गया, यद्यपि दोनो ऐसा यथासाध्य बचाना चाहते थे, और एक भी दूसरे से पृथक् न होना चाहता था।

हर्नेदुदेव - बग़ैर ख़ूबसूरती के शौहर को भी तो काफ़ी ख़ुशी नहीं मिलती।

विक्रम—ऐसा तो हई है। रूप है आवश्यक, किंतु विना अचांचल्य के वह और भी घातक हो उठेगा। इसके अनंतर दोनो में पूर्ण प्रीति होनी चाहिए। स्त्री में इतनी शारीरिक शक्ति और योग्यता भी आवश्यक है, जिससे वह समय-समय पर अपनी रक्षा भी कर सके। जैसा कि स्वयं आपका मत है, उन्हें इंद्रिय-लोलुपता सदैव वश में रखनी होगी, जिस में दोनो के सौंदर्य और पौरुष चिरकाल-पर्यंत स्थापित रहें। कौटुंबिक प्रबंध की योग्यता भी वांछनीय है, जिसके साथ न्यूनाधिक आयुर्वैदिक ज्ञान परमावश्यक है। स्त्री वास्तव में पति की अभिभाविका होती है। यदि उसका कौटुंबिक प्रबंध ठीक हो, विशेषतया भोजनाच्छादन-संबंधी, तो पूरे कुटुंब का स्वास्थ्य अच्छा रहेगा।

हर्नेदुदेव—ये सारी बातें बहुत ज़रूरी हैं, व नीज़ यह भी कि दोनो एक दूसरे को चाहते ख़ूब हों। अपने घर से बाहर ताक-

झाँक की लत दोनो में से किसी को न हो। अगर ज़रा भी शक दर्मियान में आया, तो ज़िंदगी तल्ख़ हो जाती है।

विक्रम—इतने दिनों से आप इस प्रश्न पर विचार करते आते हैं, यह भी तो कहिए कि अब तक कोई चित्त-वृत्ति के अनुसार संगी चुनने में समर्थ भी हुए हैं या नहीं? अवस्था अभी थोड़ी है।

हर्नेंदुदेव—यह सख़्त सवाल है। उम्र अब क्या कम है? चुन बहुत दिनों से चुका हूँ, मगर न तो मेरी हयादारी मुझे उससे खुल-कर कुछ कहने की इजाज़त देती है, न उसमें इतनी अक़्ल है कि मेरे असली इंदिया को बग़ैर मेरे कहे समझकर मामले को आगे बढ़ाए। मैं तो ऐसे साथी को चुनकर पछताने तक की नौबत पर आया जाता हूँ।

विक्रम—अब तक तो मित्र! आपने कभी किसी के विषय में ऐसा प्रेम प्रकट न किया था। भला, वह कौन-सी मूर्खा है, जो आपके भ्रू-भंगी आदि से ताड़ नहीं पाती? स्त्रियों में इन बातों की परख होती बहुत है। वह शक-कन्या है या भारतीय? यदि मुझे विश्वास में लेने की कृपा कर सकें, तो दंड-भर में आपकी कठिनता सुगम कर दूँ।

हर्नेंदुदेव—आप तो ख़ुद मुजस्सिम नेकी हैं। ऐसे लोग अक्सर सवालों के ठीक मुआनी नहीं लगा पाते। है तो वह भारतीय। इसी से तो ख़्वाहिश ज़ाहिर करने में मुझे झिचक हो जाती है। क्या जानूँ, कहीं तबीयत उसकी बिगड़ न जाय।

विक्रम—क्या मुझसे बतलाना योग्य समझते हैं?

हर्नेंदुदेव—मैंने तो आपकी दिलरुबा को दस दिनों में ही ताड़ लिया था, फिर आप क्यों नहीं परख पाते?

विक्रम—क्या मैं उसे जानता हूँ?

हूनेंदुदेव—जानते अच्छी तरह हैं, मगर यार! परख की लियाक़त शर्त है।

विक्रम—तब फिर बतलाते क्यों नहीं?

हूनेंदुदेव—जो अपनी तबीयत से क़रायन समझने में क़ासिर हो, उससे फ़ुज़ूल के लिये कुछ कहकर बात क्यों डाली जाय?

विक्रम—क्या वह प्रेयसी तक्षशिला में थी?

हूनेंदुदेव—उसी के लिये तो मैं तक्षशिला गया था। भास कवि व नीज़ उस्तादों से वहाँ लियाक़त काफ़ी हासिल हुई। जोग-जुगत से भी बहुत फ़ायदा उठाया, और आइंदा उठाऊँगा, मगर ख़ास मक़सद हनोज़ हासिल न हुआ। ताहम उम्मीद है कि आगे-पीछे मतलब-बरारी हो ही जायगी।

विक्रम—इतना आगा-पीछा करने की आवश्यकता ही क्या है? हिम्मत करके एक बार उस पर अपना प्रेम प्रकट कर न दीजिए।

हूनेंदुदेव—मुहब्बत तो उस पर बख़ूबी रौशन है, मगर काम नहीं बन रहा है।

विक्रम—प्रत्यक्ष कथन में क्या दोष दिखता है?

हूनेंदुदेव—कहता न था कि मैं ज़रा शरमा जाता हूँ। आप ही से एक ज़माने तक न बोला, हालाँकि दोस्ती की दिली ख़्वाहिश काफ़ी से ज़ायद थी।

विक्रम—तुम तो, मित्र! स्त्री होते, तो अच्छा था। ऐसी लाजवंती बनते रहते हो कि घूँघट-भर की कसर शेष रह जाती है।

हूनेंदुदेव—अगर कोई दूसरा ऐसा कहता, तो मैं तलवार निकाल लेता, मगर आपसे मजबूर रहता हूँ। क्या करूँ, आपकी सूरत क्या सीरत से लाचार हूँ।

विक्रम—खड्ग-युद्ध का क्या प्रश्न है? क्या आप स्त्रियों को नीच समझते हैं?

हर्नेदुदेव—अगर ख़ुदा आपको अख़्तियार देता कि आइंदा ज़िंदगी में हस्ब ख़्वाहिश मर्द या औरत हो सकिए, तो आप क्या माँगते ?

विक्रम—मैं सुंदरी स्त्री होना माँगता, जिसमें आपके-से परम सुंदर नवयुवक प्रेम-भिक्षा के निमित्त सेवा करते फिरते ।

हर्नेदुदेव—आफ़रीं है आपकी मर्दुमी को। नौकरी बजाता तो मैं आज भी फिरता हूँ। इसमें क्या फ़र्क़ पड़ जाता ?

विक्रम—तलवार निकालने तक की धमकी देते हो। क्या आप लोगों की संस्कृति में इसी को सेवा कहते हैं ?

हर्नेदुदेव—तलवार तो बेजा गुफ़्तगू पर निकल सकती है, नहीं तो ढाई-तीन सालों से पीछे लगा फिरता ही हूँ। आपने क़िब्ला मेरी क्या नौकरी बजाई है ?

विक्रम—सेवा में भी तो योग्यता काम आती है। यथासाध्य मैंने भी प्रसन्न रखने में भेद न रक्खा। अच्छे-से-अच्छा चित्र बनाया। और क्या चाहते हैं ? कहिए, उसमें भी बाहर न हूँगा।

हर्नेदुदेव—तसवीर तो बनाई थी अपना दिल ख़ुश करने को। चाहते थे मेरा लड़की होना। करते तो क्या करते ? हो पड़ा लड़का।

विक्रम—यदि बालिका होते, मित्र ! तो मैं भी इन चरणों में मस्तक रगड़ता।

हर्नेदुदेव—अगर बग़ैर इतनी कोशिश के ही काम चल जाता, तो क्यों रगड़ते ? क्या आप समझते हैं कि लड़की होकर मुझमें जौहर शिनासी न रहती ? लड़का होकर जब आप की-सी औरत चाहता हूँ, तो लड़की होकर क्या ऐसा जवान न चाहता ? मत्था रगड़ने की नौबत क्यों आती ?

विक्रम—इन बातों को भाई, जाने दो। इन्हीं पर तलवार

निकालने की धमकी देते हो। भला, क्या मुझ पर भी प्रहार कर सकते ?

हर्नेंदुदेव—आप ही ने बेचारे सोमदेव पर क्यों किया ?

विक्रम—मैंने कब किया ? मैंने तो ढलैत-भर का काम किया। जितने वार वह करते गए, उन्हें ढाल पर लेता गया, और चर्म ही के धक्के से उनका खड्ग हाथ से गिरा दिया।

हर्नेंदुदेव—सोमदेव भी पागल थे, जो आपके सामने लड़ने को खड़े हुए।

विक्रम—आप भी तो वही करना चाहते थे।

हर्नेंदुदेव—मुझे तो, दोस्तमन ! हज़ार बार लड़की कह लो, बोसा तक ले लो, मगर इस प्यारी सूरत पर कभी नाराज़ हो सकता हूँ क्या ?

विक्रम—कौन कहता है ?

हर्नेंदुदेव—अच्छा, कभी मुझ पर भी आपके नाराज़ होने का मौक़ा आया था ?

विक्रम—कभी नहीं, और सदैव। आपसे अप्रसन्न कभी न हुआ, किंतु आपके कारण ब्रह्मा पर क्रोध अवश्य रहा।

हर्नेंदुदेव—अगर वह मुझे लड़की बनाते, तब आप राज़ी रहते ?

विक्रम—और नहीं तो क्या।

हर्नेंदुदेव—एक आला दर्जे की ख़ूबसूरत राजकुमारी से क्या जी नहीं भरता ?

विक्रम—जी भरने की कौन-सी बात है ? मैं तो सारे जीवन ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने को सदैव से प्रस्तुत रहा हूँ।

हर्नेंदुदेव—फिर मेरी मर्दुमी की बेइज़्ज़ती क्यों करते हो ?

विक्रम—यही मित्रता और साथ सारे जीवन स्थापित रखने को। दो मनुष्यों की मित्रता बहुत बड़ी होकर भी न्यूनाधिक अधूरी रहेगी।

उधर स्त्री-पुरुष की मैत्री सर्वांगीण है। इतनी ही बात है। प्रश्न इंद्रिय-सुख का न होकर मैत्री और संग की पूर्णता तथा चिरकालीन स्थिरता-मात्र का है। आपकी मित्रता को मैं बहुत ही प्रिय रखता हूँ। विवाहादि करके जब अपने कौटुंबिक जीवन में चले जाओगे, तब मुझे यह प्राण-प्रिय संगति कहाँ मिलेगी? इतनी ही बात है, और कुछ भी नहीं। राजकुमारी रूपरेखा को चाहने में कोई धोखा थोड़े ही है। उनमें भी बहुतेरे गुण हैं, किंतु बाह्य सभ्यता की बातें आपके भली भाँति जानने से इस संगति में और ही आनंद मिलता है।

हनेंदुदेव—बड़ी ही मेहरबानी व क़द्रदानी हुई। आपको ख़ुश-ख़ुर्रम रखना मेरी ज़िंदगी का सबसे ऊँचा इरादा भी तो हो गया है। अगर आपको पूरे तौर से राज़ी रखने के लिये मेरा किसी और से निकाह करना हायल साबित होगा, तो मैं ऐसा करूँगा ही क्यों?

विक्रम—किसी और से निकाह का क्या अर्थ? क्या मुझसे विवाह संभव है?

हनेंदुदेव—आप तो ज़बान पकड़ते हैं। और की लफ़्ज़ मेरे मुँह से यों ही निकल गई।

विक्रम—क्या ही अच्छा होता, यदि वह सत्य हो जाती?

हनेंदुदेव—आमीं (दोनो देर तक हँसते हैं।)

अनंतर लाट के विषय में मालव-सभा एकत्र हुई, जिसमें सोमदेव, वीरवर, महामंत्री आदि सम्मिलित हुए। हनेंदुदेवजी पतिस्थान में गुप्त रूप से पधारे थे। लोग इन्हें विक्रम के तक्षशिलावाले एक मित्र-मात्र समझते थे। अब सारे पुरुष-प्रधान लाट के विषय में वार्तालाप करने लगे। उसी समय हनेंदुदेव भी वहीं जा पहुँचे, और विक्रम द्वारा विश्वसनीय कहे जाकर बिना अपने को प्रकट किए ही मंत्रणा में सहयोग देने लगे। उनका मत इस प्रकार हुआ कि यह लाट-विजय सैन्य-प्रयोग द्वारा न करके युक्ति से की जाय। वह अपनी

भगिनी वहाँ भेजकर एक चित्र-प्रदर्शनी का प्रबंध कराएँगे, जहाँ सारे पुरुष-प्रधान एकत्र होंगे। वहीं युक्ति-पूर्वक काम हो जायगा। लाटीय शकसेना में प्रायः आधे शक हैं, और शेषार्द्ध गुर्जर वीर। उन्हें मिलाने के प्रयत्न भी होंगे। ऐसी सम्मति सबके साथ दृढ़ करके वह तुरंत कार्यारंभ करने को गुप्तरीत्या प्रस्थित हो गए। लाट-राजधानी में पहुँचकर वह अपने मामा भूमक के अतिथि हुए। समय पर अपने विद्यापीठवाले दस मालव मित्रों को साथ लेकर वीरवर के साथ स्वयं विक्रम शिवि चित्रकार बने हुए विक्रमार्क के रूप में वहीं पहुँचे, तथा चित्रशाला का व्यापार चलाने लगे। उधर दसों मालव मित्रों ने सेना में घुल-मिलकर कार्यारंभ किया। इन दस लोगों में से पाँच वे ही थे, जो पहली बार विक्रम के साथ वहाँ गए थे। इन सबों के उपचारों से कला-भवन का व्यापार सुचारु रूप से चलने लगा, और उसमें प्राचीन ग्राहकवृंद भी प्रचुर संख्या में आने लगे। मालव वीरों तथा विक्रम और वीरवर के प्रयत्नों से इन लोगों के विचार में विश्वास-योग्य गुर्जर सैनिकों में पहुँचकर काम करने लगे। वे सब लोग शकाधिकार के कारण रुधिर के आँसुओं से रो रहे थे। इन विचारों से सबों में नवीन उत्साह का संचार हुआ। इंदुदेव की भगिनी की युक्तियों से एक ऐसा चमूप उनके ओरवाले प्रासाद का संरक्षक नियत हो गया, जो स्वतंत्र दल का पक्षी था। उसी के प्रयत्नों से उसके एक शत अनुयायी भी इसी दल के सैनिक बने। राजकीय सेना में प्रायः २५०० गुर्जर योद्धाओं के नेता स्वतंत्र दल के सहायक हुए। इनसे सभी अनुयायी पूर्णतया अनुरक्त थे। शकों द्वारा सेना से पृथक् किए हुए हज़ारों सैनिकों का सहयोग भी प्राप्त हो गया, तथा विविध उपायों और बहानों से दस-बारह सहस्र सशस्त्र मालव वीर गुर्जरों की सहायता से गुप्तरूपेण राजधानी में प्रविष्ट हुए। जिन-जिन विश्वास-योग्य गुर्जरों ने यह

वार्ता सुनी, उन सबों ने प्राण-पण से सहायता की, तथा ईश्वर को कोटि-कोटि धन्यवाद दिए। भूमक की स्वीकृति से चित्र-प्रदर्शनी के निमित्त एक उचित तिथि नियत की गई, जिसका समय रात्रि का द्वितीय प्रहर दृढ़ हुआ। लोगों ने भाँति-भाँति के चित्र देख-देखकर बड़ा हर्ष मनाया, और उन्हें पसंद भी बहुत किया। उनमें कई चित्र-कारों की कृतियाँ थीं तथा विक्रम की भी। सूर्योदय, सूर्यास्त, चंद्रोदय, वनों, पर्वतों, बादलों, पुरुषों, सुंदरी स्त्रियों आदि के चित्र थे।

प्रदर्शनी के निमित्त और भी चित्र चुनने को एक संध्या को हर्नेंदुदेव की भगिनी महोदया विक्रमीय कला-भवन में पधारीं। इस समय इन्होंने वही वस्त्रालंकार पूर्णतया धारण कर रक्खे थे, जिनमें विक्रम ने तक्षशिला में हर्नेंदुदेव का स्त्री-रूप में चित्र बनाया था। उन्हें देखते ही आप बहुत ही चकित होकर बोले—

विक्रमार्क—देवीजी! मैं क्या स्वप्न देख रहा हूँ? तक्षशिला-वाला मेरा चित्र मूर्तिमान् होकर सम्मुख उपस्थित है। आप हर्नेंदुदेव हैं, अथवा उनकी भगिनी या प्रत्यक्ष हर्नेंदुदेवी? सच कहिए, अनेकरूपधारिणी, मायामयी देवि! आप कौन हैं?

हर्नेंदुदेव—इतने दिन साथ रहकर, बरसों बातें करके व नीज़ तसवीर बनाकर आपने अब तक यह न जाना कि मैं हूँ कौन? अगर बोसा लेने का शौक़ फिर से चर्राया हो, तो तसवीर का ही ले लीजिए; कुछ तो आसूदगी हो ही जायगी।

विक्रमार्क—क्या आप वास्तव में हर्नेंदुदेव नहीं हैं?

हर्नेंदुदेव—अगर अपनी आँखों का भी एतबार न कर सकते हों, तो हर्नेंदुदेव ज़रूर न कहिए।

विक्रमार्क—हैं तो आप अवश्य वही; वे ही आँखें, वही हँसता हुआ मुँह, वे ही हाथ-पैर, सब कुछ वही है, केवल पुरुष से स्त्री बने हुए हो। क्या वास्तव में हो स्त्री ही? यदि ऐसा हो, तो मेरा भाग्य

जाग उठे। सच-सच कहो, तुम क्या हो? अपनी ही बहन बनकर मेरे सम्मुख क्यों आए? क्या अब तक मुझे धोखा देते थे? यदि देते हो, तो मेरे अहोभाग्य हैं!

हर्नेंदुदेव—ऐसा लायक़ शख़्स मैंने आज ही देखा, जो धोखा दिए जाने से ख़ुश हो व सच मामले से नाराज़। कहिए, हुज़ूर! धोखा खाना पसंद करेंगे या सच बात?

विक्रमार्क—सत्य से इस काल मुझे छल ही भला लग रहा है।

हर्नेंदुदेव—कौन-सा धोखा, आज का या पहले का?

विक्रमार्क—आज तो छल समझ नहीं पड़ता। पहले ही हुआ हो, तो योग्य था। कृपया सत्य-ही-सत्य उत्तर दीजिए।

हर्नेंदुदेव—आप मुझे हर्नेंदुदेव की शकल में पसंद करते हैं या देवी की में? मुझे तो जनाब को ख़ुश करना है। ढाई साल देव रहा, तब कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई?

विक्रमार्क—हुई क्यों नहीं? मुझे संदेह रहा।

हर्नेंदुदेव—शक की दवा तो, ग़रीबपरवर! लुक़मान के पास नहीं है। मेरे पास क्या होगी? एक सादिक़ दोस्त पर शक करना आप ही का काम था।

विक्रमार्क—बात कहो कि हो कौन?

हर्नेंदुदेव—जनाब क्या चाहते हैं? जो चाहें, वही हूँ। हूँ तो देव।

विक्रमार्क—अजी, बतलाओ भी सही। देव नहीं हो।

हर्नेंदुदेव—अगर देव चाहते हो, तो ढाई साल से हूँ ही; अगर देवी चाहिए, तो यों ही सही।

विक्रमार्क—क्या सचमुच?

हर्नेंदुदेव—आप तो किसी बात पर आज एतबार ही नहीं कर पाते।

विक्रमार्क—हँसी छोड़कर बात करो जी!

इनेंदुदेवी—आपकी आँखें क्या बराबर ढाई साल चुगने गईं थीं ? मैं तो हमेशा वही थी, जो आज हूँ। आपके औसाफ़ हमीदा पसंद करती आई हूँ, लेकिन बहन रूपरेखा को तकलीफ़ नहीं देनी चाहती थी। अब भी सिर्फ़ सादिक़ मुहब्बत चाहती हूँ, ख़ुदग़रज़ी नहीं।

विक्रमार्क—धन्य प्राणप्रिये ! धन्य ! तुमने आज मुझे सनाथ कर दिया। मैं तब भी सोचता था कि ऐसी कोमलांगी मेरी-सी भूधराकार स्त्री से विवाह को क्या उत्सुक होगी ? अब जाकर आपके सारे प्राचीन कथनों के अर्थ समझ में आए।

इनेंदुदेवी—अभी बहुत कुछ समझना बाक़ी है। मैंने अर्ज़ की न थी कि ख़ूबसूरती देखने-भर की शै है, बरतने की नहीं। ढाई-तीन साल से जोगिनी हो रही हूँ। नज़ाकत कहाँ है, जो जनाब कोमलांगी का बयान फ़र्माते हैं ? मुझे कोई ख़्वाहिश नहीं। मैं तो सिर्फ़ इस शक्ल की आशिक़ हूँ। शौहरी बर्ताव चाहे जिससे हो। मुझे तो सादिक़ मुहब्बत भर चाहिए। बहरहाल इन सवालात के लिये फ़ुर्सत से गुफ़्तगू हो जायगी, इस वक्त, जुमाइश के इंतिज़ाम पर बात कीजिए।

विक्रमार्क—मैंने तुम्हें अब जाकर पकड़ पाया है; स्वप्न में भी भागने न दूँगा। चली-चली बातों की आवश्यकता नहीं। सारे विषय निश्चित हैं। साहित्य अथवा दर्शन-शास्त्र मैं नहीं चाहता, चाहता हूँ सीधा-सादा प्रेम-पूर्ण विवाह, जो होगा। इससे भागने के प्रयत्न छोड़ो।

इनेंदुदेवी—क्या आप ख़ुदमुख़्तार हैं ? किसी से वादा कैसा किए बैठे हैं ? क्या उस बेचारी को धोखा दीजिएगा ? सच्चाई के मुक़ाबिले में शायद धोखेबाज़ी ही आपको अब पसंद है।

विक्रमार्क—छल करना आप ही को शोभा देता है, मुझे नहीं। मैं तो दोनो को प्रसन्न रख सकूँगा।

हर्नेंदुदेवी—फिर यही शर्त रही। अब तो इंतिज़ामी अमूर पर आइए।

विक्रमार्क—अच्छा, मेरे मित्र हर्नेंदुदेव की भगिनीजी! कहिए, क्या आज्ञा है? आशा है, उन्हीं के समान आप भी मुझ पर एक रस कृपा किया करेंगी।

हर्नेंदुदेवी—जब भाई साहब ने दोस्ती का बर्ताव रक्खा, तब मैं कैसे न रक्खूँगी। भाई का ज़िक्र करते हुए मुझे बेचारे खरओस की याद आती है। आपने तो उसे ख़त्म ही कर दिया।

विक्रमार्क—आप भी तो अपनी भाई थीं। मैं आपको चाहता हूँ, आपके भाइयों को नहीं।

हर्नेंदुदेवी—यह तो हुआ मज़ाक़; लेकिन लड़ाई में क्या उसे समझाया नहीं?

विक्रमार्क—मैंने तो बहुतेरा समझाया; न माने। यदि पूरा बल लगाकर न लड़ता, तो मैं ही समाप्त हो जाता। प्रबल वीर था। किंतु वह आपके भाई कैसे? क्या आप भी महाक्षत्रप राजबुल की बेटी हैं?

हर्नेंदुदेवी—और नहीं तो क्या हूँ?

विक्रमार्क—तब इस प्रीति का जुड़ना और भी अच्छा हुआ, किंतु बेचारे वह भी स्वर्गवासी हुए।

हर्नेंदुदेवी—हमारी आपकी मुहब्बत ही कुछ ऐसी है, जिस पर दोनो के अज़ीज़ हत्ताकि अब्बाजान तक बेचारे क़ुरबान हो गए।

विक्रमार्क—प्रेम का इसमें क्या दोष है? दोष है राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं का। उनको तो हम लोगों के प्रेम का पता भी न था, वरन् स्वयं मैं उससे अनभिज्ञ था; केवल यह नटखट मूर्ति सब कुछ जानकर भी अनजान बनी थी।

हर्नेंदुदेवी—मैं ही क्या जानती थी। मैंने तो सैकड़ों बार शादी का ज़िक्र किया, मगर आप ही ख़ामोश थे।

विक्रमार्क—मैंने भी दो-एक बार कहा था। स्त्री-चरित्र का एक उत्कृष्ट कांड आज समाप्त हो रहा है। विवाह का प्रस्ताव क्या स्वप्न की मूर्ति या चित्र से करता?

हर्नेंदुदेवी—क्या कहूँ? हम दोनो के वालिद गए, बेचारा भाई गया, और आगे भी न-जाने क्या-क्या होने जा रहा है? फिर भी मुहब्बत में शिम्मा-भर कमी न आई, बल्कि बढ़ती ही गई।

विक्रमार्क—प्रेम-क्षेत्र से तो सारी उपर्युक्त अनुचित घटनाएँ असंबद्ध होकर विषयांतर-मात्र हैं। ये दोनो पूर्णतया पृथक् विषय हैं।

हर्नेंदुदेवी—है तो ऐसा ही। अच्छा, अब आज के काम की बात कीजिए।

विक्रमार्क—वह भी सब आप ही को कहनी हैं। भला, अपने मातुल पर आप क्यों अप्रसन्न हैं?

हर्नेंदुदेवी—उस बेईमान ने लाट को वक़्त पर मदद देने का वादा मुझसे करके ख़ुद उसे हथिया लिया। जो कहने-भर की बेउनवानी लाट के जानिब से हुई, वह सोमदेव या उसके पिदर की वजह से न होकर हुब्बुलवतनी को ठीक माननेवाले सिपाहियों ने की। उसमें सोमदेव का क्या क़ुसूर था? मैं इस नालायक़ को ख़त्म कराकर उस जायज़ वलीअहेद को फिर लाट का राजा देखना चाहती हूँ।

विक्रमार्क बात तो आपकी नितांत शुद्ध है। अच्छा, अब फिर से कार्य-क्षेत्र की वार्ता पर आइए।

हर्नेंदुदेवी—वह मामला भी बहुत थोड़ा-सा है। जब डेढ़ पहर रात निकल जाय, तभी मेरी तरफ़ के फाटक से धावा शुरू हो जाय। मैं ऐन उसी वक़्त सबको वहीं इकट्ठा रखकर खाने-पीने में मशग़ूल

रक्खूँगी, जिसमें आपकी तसवीरें भी न बिगड़ें। खाने का कमरा तसवीरोंवाले से इलाहिदा होगा। मेरी जानिब से सारे फाटक व दरवाज़े खुले रहेंगे, और उनके मुहाफ़िज़ भी आप ही के भरोसे-वाले लोग होंगे।

विक्रमार्क—बहुत ही ठीक है। उधर मैं अपनी सुदृढ़ सेना से शक-दल को घेरे रहूँगा। प्रासाद से तीन तोपें दगते ही युद्धारंभ हो जाना है। एक पहर-भर में सारा काम निकल जायगा, ऐसी आशा है।

हर्नेदुदेवी—यही बात है, दोस्तमन! अच्छा, अब मैं जाती हूँ। मेहरबानी यों ही क़ायम रहे।

विक्रमार्क—आज तो आपने मुझे सदेह स्वर्ग का आनंद दे दिया।

हर्नेदुदेवी—तुम भी बड़े आशिक़-मिज़ाज समझ पड़ते हो।

विक्रमार्क—प्रेमी कहाँ से आया? केवल कृपा-कटाक्ष से चाहे जो कुछ मिल जाय।

हर्नेदुदेवी—यह कौन-सी बात है? फिर भी मैंने तो इस अज़ीज़ सूरत के लिये ढाई साल इबादत की, और आज कर रही हूँ। क़ौमियत छोड़ी, मा-बाप छोड़े, भाई का ग़म सहा, और दुनिया-भर में आज भी ख़ाक छानती फिरती हूँ। आपने क़िबला मेरे लिये कौन-सी ख़लजान या ज़हमत उठाई। मेरी सादिक़ मुहब्बत मज़े में पके हुए आम की तरह आपके दहन शरीफ़ में टपक रही है।

विक्रमार्क—तभी तो अपने को देवीजी के योग्य नहीं समझता।

हर्नेदुदेवी—इस क़ाबिल न होते, दोस्तमन! तो मैं ही क्यों ख़ाक छानती फिरती?

विक्रमार्क—यह आपकी कोरी कृपा है।

हर्नेंदुदेवी—ख़ुदा तक की मेहरबानी बिला वजह नहीं हुआ करती।

विक्रमार्क—किंतु आपकी हो रही है।

हर्नेंदुदेवी—इन्हीं बातों पर तो मरती हूँ। अब इजाज़त हो।

विक्रमार्क—जी चाहता है कि इसी भाँति सारी रात बातें किया करूँ।

हर्नेंदुदेवी—अवलोकितेश्वर की मेहरबानी से वह वक़्त भी बहुत जल्द आएगा।

विक्रमार्क—अच्छा, आइए, प्रेम की होली तो अब एक बार मिल लें।

हर्नेंदुदेवी—इसका वक़्त अभी नहीं आया है; जल्द आएगा।

विक्रमार्क—प्रेम-चुंबन में तो दोष था नहीं।

हर्नेंदुदेवी—उस वक़्त मैं लड़का था, लड़की नहीं।

विक्रमार्क—तो अब भी क्षण-भर को हो जाइए।

हर्नेंदुदेवी—अब धोखा दो में से एक भी नहीं खा सकता। अच्छा, नमस्कार।

विक्रमार्क—नमस्कार देवीजी! देखना, कोई भूल न होने पाए।

हर्नेंदुदेवी—ऐसा ग़ैरमुमकिन है।

इस प्रकार कार्य-साधन तथा प्रेमालाप के पीछे हर्नेंदुदेवी राज-प्रासाद को पधारीं। जो चित्र प्रदर्शनी को जाने थे, वे यथासमय नियमानुसार भेज दिए गए। समय पर प्रदर्शनी का आयोजन हुआ। सारे राजन्यवर्ग ने चित्र देख-देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। राज-परिवार की रानियाँ आदि भी प्रस्तुत थीं। जब सब लोग यथासमय भोजनालय में एकत्र होकर सुस्वादु भोजनों का सुख उठाने लगे, उसी समय एकाएक सशस्त्र सैनिक प्राय: एक सहस्र की संख्या में वहीं घुसकर राजपुरुषों को बाँधने लगे। भूमकादि ने यह अनर्थ देखकर

महाक्रोध किया, तथा शस्त्रास्त्र निकाले। उसी समय वहाँ पूरा लंका-कांड उपस्थित हो गया, और बहुतेरे राजन्यवर्ग हताहत हुए। राज-प्रासाद से तीन छूँछी तोपें दगीं, और सारे नगर में शक-सैनिकों पर गुर्जर और मालव वीर भूखे बाघों की भाँति टूट पड़े। आक्रमण-कर्त्ता योद्धागण पूर्णतया सन्नद्ध थे, तथा शक-दल एकाएक भौचक्का-सा होकर किंकर्तव्य-विमूढ़ हो पड़ा। सहस्रों सैनिक हताहत अथवा बंदी हुए, और तीन ही घड़ियों में राजप्रासाद, राजधानी तथा लाट-राज्य पर गुर्जरों का अधिकार हो गया। युवराज सोमदेव रूपरेखा-देवी के साथ लाट के निकट ही थे। वह शीघ्र मान-पूर्वक आहूत होकर सिंहासनासीन हुए। प्रातःकाल जब सारे शक बंदी न्यायार्थ उपस्थित किए गए, तब भूमक ने विक्रम से यों आलाप किया—

भूमक—यही आपकी इज़्ज़त है कि धोखे से मुझे क़ैद करके अपने दोस्त को राजा बनाने में फूले नहीं समाते। ज़ुफ़ है आपकी इस बहादुरी को!

विक्रम—शकराज! आप लोगों ने लाट-राज्य पर जब दबाव डाल-कर उन्हें दृढ़ प्रतिज्ञा से विचलित कराया था, तब हमें कब सूचना दी थी। इसी भाँति उज्जयिनी पर अन्याय-पूर्ण आक्रमण की उचित सूचना किसे मिली थी? स्वयं लाटेश्वर पर पूरी धोखेबाज़ी की नीति का प्रयोग हुआ, यद्यपि उन्होंने आप ही के लिये प्राण तक खोए। जिस नीति पर चलकर आप लोगों ने श्रीमान् सोमदेवजी का राज्य छीना, उसी नीति द्वारा उन्होंने उसे प्राप्त भी कर लिया। पराए मुँह मकुनी बड़ी सुस्वादु लगती होगी।

भूमक—अब तो आपकी खँभड़ी मढ़ते बनी है न, भला तान अच्छी क्यों न निकलेगी? मुझे शक है कि मेरी भांजी हन ही ने आप लोगों का साथ दे दिया, नहीं तो महल का दरवाज़ा इस तेज़ी से कैसे टूट जाता, और कोई कानों-कान कुछ जान ही न पाता!

सोमदेव—इन बातों में क्या रक्खा है ? भूमकजी ! आपने मेरे पूज्य पिता तथा मुझसे जैसा दुर्व्यवहार किया, उसका फल हाथों-हाथ पाया। मेरा राज्य तो ईश्वरेच्छा से उपस्थित है, किंतु सौराष्ट्र नष्ट हो गया। यदि ईश्वर ने चाहा, तो शीघ्र ही तक्षशिला और मथुरा की भी यही दशा होगी।

भूमक—ख़्वाहिशात तो बहुतेरी हैं, लेकिन इस वक़्त इतना ही कहता हूँ कि अगर हिम्मत हो, तो आप या विक्रम ढाल-तलवार पकड़कर मेरे सामने एक-एक करके निकल आइए।

सोमदेव—इसके लिये मैं ही सन्नद्ध हूँ।

विक्रम—देव यहाँ के राजसिंहासन-भोगी हैं। मैं इनका मन रखने को प्रस्तुत हूँ।

सोमदेव—आप मेरे अतिथि और भावी मान्य संबंधी हैं। मुझी को आज्ञा दे दीजिए।

विक्रम—नहीं, आप फिर बचे हैं, मैं ही युद्धार्थ प्रस्तुत हूँ।

अनंतर भूमक बंधन-मुक्त होकर ढाल-तलवार उठाता है, तथा विक्रम युद्धार्थ सन्नद्ध होकर उसके सामने आते हैं। दोनो में दो घड़ी-पर्यंत घोर द्वंद्व-युद्ध होता है। विक्रम को अब तक ऐसे प्रचंड युद्ध-कर्ता का सामना न करना पड़ा था। दो घड़ी के पीछे दोनो युद्ध से निवृत्त हो-होकर विश्राम लेते हैं। दोनो दोनो के प्रहारों की बड़ी प्रशंसा करते हैं। अर्द्ध घटिका के उपरांत फिर युद्ध होता है, जिसमें डेढ़ घड़ी के पीछे विक्रम प्रबल पड़कर भूमक का सिर काटकर फेंक देते हैं। सब स्नेही धन्य-धन्य कहकर इनसे गले मिलते हैं। अनंतर भूमक का शव मान के साथ जलाया जाता है, तथा शक-स्त्रियाँ सिंध देश को भेज दी जाती हैं, अथच वृद्ध और बालक उन्हीं के साथ जाते हैं, तथा युवा पुरुष बंदी होते हैं। सोमदेव पिता के मंत्रिमंडल को फिर से प्रतिष्ठित करके यथापूर्व

नीति-पूर्वक साम्राज्य चलाने लगते हैं। रूपरेखादेवी के माता-पिता तो शेष न थे, अतएव सोमदेव ही ज्येष्ठ भ्राता के रूप में उनके विक्रम से विवाह का संभार करते हैं।

(स) विवाह

उचित समय पर किसी एकांत स्थल में विक्रम रूपरेखा और हनेंदुदेवी से आलाप करने लगे। वहाँ कोई चौथा न था।

विक्रम— दोनो देवियों के प्रेम का मैं परम भक्ति-पूर्वक पूर्ण श्रद्धा से सत्कार करता हूँ कि आपने मेरी सांसारिक स्थिति को कुछ भी बिना जाने केवल व्यक्तिगत रूप में मेरा पूर्ण मान किया। अब आपकी जो इच्छा हो, वह आज्ञा कीजिए।

रूपरेखा—मैं आपकी महत्ता की शत मुख से सराहना करती हूँ कि जो शब्द भवदीय श्रीमुख से प्रायः चार वर्ष पहले निकले थे, वे अद्य-पर्यंत अटल हैं। मेरे पिता ने संधि का मान न करके उज्जयिनी-पति को धोखा दिया, मेरा राज्य भी जा चुका था, और वैवाहिक निबंध के स्थापित रहने के कोई भी आकार-प्रकार शेष न थे। तथापि आपने कभी क्षण-मात्र को उस प्राचीन गुप्त निबंध को चित्त से भी शिथिल न किया। मेरे भ्राता को राज्य भी आप ही की कृपा से फिर से प्राप्त हो गया है। हनेंदुदेवी ने एक बार तक्षशिला में स्वयं अपने भ्राता के प्रतिकूल होकर मेरे मान की रक्षा की, तथा इस बार अपने मातुल को पराजित करके मेरा कुटुंब फिर से राजवर्ग में प्रतिष्ठित कर दिया। मैं न तो देव से अऋण हो सकती हूँ, न बहनजी से। मेरा मुँह तो लज्जा-वश आप दोनो के अमोघ उपकारों से ऐसा दबा हुआ है कि सम्मुख नहीं हो सकता।

विक्रम—यह कोई बात नहीं है, देवीजी ! जब आप मेरी इच्छा क्या आज्ञा से तक्षशिला तीन वर्षों के निमित्त पधारीं, तब वहाँ आपकी रक्षा का भार प्रत्येक दशा में मुझ पर था। मैं स्वयं बहुत

लज्जित हूँ कि क्रोधावेश में मैंने आपके पूज्य पिता का वध ही कर डाला, तथा भ्राता से युद्ध किया। आपकी महत्ता है कि मेरे ऊपर क्रोध नहीं करतीं।

रूपरेखा—पूज्य पिता ने न केवल निष्कारण संधि तोड़ी, वरन् क्रूर शकों से मिलकर देश-द्रोह भी किया। युद्ध में न मरते, तो और भी अच्छा था, किंतु ऐसे समयों पर शत्रु पर प्रहारों से वीरों का हाथ रुक नहीं सकता। मेरे ही कारण आपने इतनी अमोघ कृपा की कि भ्राता को न केवल बचा दिया, वरन् उनका राज्यारोहण भी कराया। मैं आपके आभारों से जीवन-पर्यंत की सेवाओं से भी अऋण नहीं हो सकती। आपकी नवीन प्रीति जो हर्नेदुदेवी से बढ़ी है, उससे भी मुझे रंच-मात्र बुरा नहीं लग रहा है। इनकी-सी सात्त्विकी प्रकृति की देवी मैंने तो अद्य-पर्यंत देखी नहीं। रूप, रंग, गुणगण, योग्यतादि, सभी सद्गुणों में मेरी ज्येष्ठा हैं। केवल वय में एक वर्ष कनिष्ठा हो पड़ीं। इनके भी विवाह से मुझे न केवल आपत्ति नहीं, वरन् पूर्ण प्रसन्नता है। जैसे हमारी तीनो सासुएँ जीवन-पर्यंत पूर्ण प्रेम-पूर्वक रहीं, वही दशा हम दोनो की भी होगी। आप दोनो मेरी ओर से सारा संकोच छोड़ दीजिए।

विक्रम—अनेकानेक धन्यवाद! (हर्नेदुदेवी से) देवीजी! अब आप आज्ञा कीजिए।

हर्नेदुदेवी—मैंने आपके औसाफ़ हमीदा देखकर दोस्ती शुरू की थी। गई तक्षशिला शादी ही के ख़याल में थी, मगर वहाँ भासजी ने योग की ताक़तें बतलाईं, और गुरुओं ने ख़ुदग़र्ज़ी के बजाय सिर्फ़ भलाई का सबक़ सिखलाया। मैंने जितने ऊँचे ख़याला-लात आपके रूबरू ज़ाहिर किए थे, वे घर से चलते वक़्त मेरे पास न थे, बल्कि तक्षशिला में ही मुझे हासिल हुए थे। वहाँ आपके तरीक़े नज़दीक से देख-देखकर वे उम्दा सबक़ मेरी लड़क-

पन की तबीयत पर पूरी ताक़त के साथ नक़्श होते गए। अगर आपकी सोहबत और हक़ीक़ी मुहब्बत उतनी ज़्यादा न होती, तो मेरी दिली तरक़्क़ी वैसी न हो सकती, जैसी कि आपने पीछे से वक़्त पर देखी। अब तो क़रीब दो साल से पूरी कोशिश के साथ योग की क्रियाओं पर दिल लगा रही हूँ। मुझे आपकी ख़ूबसूरती व दीगर औसाफ़ बहुत पसंद थे और हैं, जो साथ रहने से भी बख़ूबी मिल सकते हैं। हालाँकि शुरू में मैं जीजीजी की ख़ुशक़िस्मती में हिस्सा लेने की काफ़ी तौर से ख़्वाहाँ थी, मगर अब सिर्फ़ साथ से भी उतनी ही ख़ुश हूँ। मेरी अब कोई इस्तदुआ नहीं है, सिर्फ़ सोहबत से इलाहिदा न की जाऊँ।

विक्रम—उन्नति तुमने चाहे मुझे ही देखकर की हो, किंतु अब मुझसे आगे बढ़ गई हो। मैं तुमको छोड़ नहीं सकता, किंतु तुम्हें इसकी भी अमोघ इच्छा नहीं है।

हर्नेदुदेवी—ख़्वाहिश तो मुझे भी अज़हद है, मगर ख़ौफ़ यह होता है कि दो बीबियों के होने से कहीं यह नायाब फूल कुम्हलाने न लगे। मैं चाहती हूँ कि आप सवा सै बरस क़ायम रहें। ख़ूबसूरत तो हम तीनो हैं, लेकिन ज़्यादा इस्तेमाल से इसका क़याम कैसे रहेगा, यही ख़ौफ़ मुझे सताता है।

विक्रम—योगासनों का प्रयोग तो मैं भी तुम्हारे साथ ही करता आया हूँ, और आगे भी करूँगा। फिर संदेह क्या हो रहा है?

हर्नेदुदेवी—जीजीजी भी अगर योगासनों पर जी-जान से कोशिश करें, तो मेरा अज़ीज़ विक्रम पूरी उम्र को पहुँच सकता है। मैं तो यह कोशिश ताब ज़िंदगी करूँगी ही।

रूपरेखा—बहन! तुम्हारी सच्ची पति-भक्ति शत बार धन्य है! तुम्हारा पति-प्रेम इतना गंभीर है कि आयु क्षीण होने के भय से तुम पति-पत्नी-संबंध ही नहीं स्थापित करना चाहतीं, यद्यपि साथ

छोड़ सकतीं नहीं। तुम तो शक न होकर शैलजा-सरस्वती-सी देवी हो गई हो। तुम्हारी मानसिक शांति के लिये मैं दृढ़ता के साथ वचन देती हूँ कि आज ही से योग-साधन का प्रारंभ करके ऐंद्रिय व्यवहार को केवल कर्तव्य-पालन का मार्ग बनाऊँगी, सुख-साधन की सामग्री नहीं।

इनेंदुदेवी—तब मुझे शादी से भी एतराज़ नहीं है। था तो ऐसा कभी नहीं, सिर्फ़ इनकी जिस्मानी ख़ूबसूरती का क़ायम रखना व नीज़ लंबी ज़िंदगी दिलाना मुझे बहुत पसंद है। कौन जानता है कि इस ज़िंदगी के पीछे चिराग़-सा गुल हो जाता है, या दूसरा जिस्म मिलता है? बहरहाल इस वक़्त तो दुनियावी आराम के सब सामान मुहैया हैं। फिर ज़रा-से-मज़े के लिये वे क्यों बिगाड़े जायँ? ज़्यादा-से-ज़्यादा उम्र हासिल करके नेकी व राहे रास्त के साथ दुनिया का हज़ क्यों न उठाया जाय? मज़े की जितनी बातें हैं, उनके अज़ाहद बर्ताव से कौन-सा नया हज़ हासिल होता है, जिसके लिये ख़ूबसूरती, ताक़त वग़ैरह ज़ायल की जायँ, व नीज़ उम्र घटाई जाय?

विक्रम—तुम दोनो के संग से आशा करता हूँ कि मेरे शील, गुण और भी उन्नति करेंगे।

इनेंदुदेवी—आमीं। मैं जीजीजी से भी अर्ज़ करूँगी कि मुझ ख़ुर्द के फ़र्ज़ी औसाफ़ का बखान करके मुझे शर्मिंदा न करें। मैं इन्हें सभी औसाफ़ हमीदा में अपने से कुजा बरतर पाती हूँ।

रूपरेखा—बहन! ऐसे ही कथन तुम्हें शोभा देते हैं।

विक्रम—अच्छा, तुम्हारा कन्यादान कौन करेगा?

इनेंदुदेवी—सोमदेवजी अब मेरे भी बिरादर कलाँ-से हैं। एक विवाह-मंडप के नीचे वही हम दोनो को आपकी नज़र करेंगे।

रूपरेखा—बहुत ठीक है। यह विवाह-मंडप कहाँ से जान लिया?

हर्नेंदुदेवी—यहीं सब लोग बातें करते थे, जिनसे मैंने भी सुना।

विक्रम—तुम दोनो में राजमहिषी कौन होगी तथा कौन रानी?

रूपरेखा—दोनो राजमहिषी तथा रानियाँ होंगी। कोई ज्येष्ठा-कनिष्ठा का व्यवहार न होगा।

विक्रम—बहुत योग्य है। अच्छा, रहोगी कहाँ?

रूपरेखा—जहाँ-जहाँ तुम रहोगे।

हर्नेंदुदेवी—यह तो ठीक है, मगर इनको ज़ाहिरा एक स्त्रीव्रती होना चाहिए। मेरी ख़्वाहिश है कि सिंध फ़तेह करके वहाँ भी रहा कीजिए। उज्जयिनी में जीजीजी रहें और सिंध में मैं। रहेंगे दोनो के लिये दोनो जगह महल। जब तक ताक़त इतनी न बढ़े, तब तक हम दोनो प्रतिष्ठान में रहेंगी ही।

रूपरेखा—साथ ही रहिए, तो हम दोनों के चरित्र भी अच्छे उन्नत होंगे।

हर्नेंदुदेवी—जितने दिन हुक्म होगा, उतने दिन हमराही में रहने से दरेग़ थोड़े ही करूँगी। सिंध में भी रहकर दो-चार माह को जब-तब उज्जयिनी या पैठान आया करूँगी, व नीज़ आपको भी उधर जाने को मजबूर किया करूँगी।

विक्रम—जब जैसा अवसर होगा, देखा जायगा। आप दोनो को पूर्ण धन्यवाद देता हूँ कि हम सबका वैवाहिक जीवन परम प्रेम-पूर्वक प्रारंभ हो रहा है।

अनंतर विवाह का प्रबंध करके शुभ मुहूर्त पर सोमदेवजी ने रूपरेखा तथा हर्नेंदुदेवी का कन्यादान एक ही मंडप के नीचे विक्रमादित्य को कर दिया। दायज में आप आधा लाट राज्य देने लगे, तो विक्रम ने उसे लेने से दृढ़ता-पूर्वक नाहीं कर दी। तब आपने असंख्य मात्रा में धन, धान्य तथा प्रचुर सामग्री दी। हर्नेंदुदेवी ने

मथुरा में अपने विवाह का विवरण कहला भेजा, जहाँ से इनकी इच्छा के अनुसार इनका सारा सामान पतिस्थान भेज दिया गया, तथा चचा की ओर से भी बहुतेरा दायज आया। सब सामान कई करोड़ पण का था। विक्रम अपनी दोनो रानियों के साथ परम प्रसन्नता-पूर्वक पतिस्थान में रहने लगे। इनकी राजमाता मदनरेखाजी भी दोनो सुशीला बहुओं को देखकर परम प्रसन्न हुईं। भार्याओं के हठ से भास कवि तथा राजमहाभिषज की सम्मति लेकर कौटुंबिक रहन-सहन, खान-पान, व्यायामादि के नियम ऐसे उत्कृष्ट बनाए गए, जिनसे शारीरिक बल तथा सौंदर्य में अणु-मात्र न्यूनता के आए बिना उचित प्रकार से सुख-सामग्री तथा जीवन-यात्रा का निर्वाह हो। दोनो रानियाँ परम प्रीति-पूर्वक रहती थीं, और एक क्षण के लिये भी आपस का बिछुड़ना उन्हें न भाता था। उन्होंने शस्त्रास्त्रों के प्रयोग का भी ज्ञान प्राप्त करके मृगयादि में भी अभ्यास स्थापित किया। हर्षेंदुदेवी को इसकी रुचि पहले भी थी। जल-केलि, उपवन-भ्रमण, शुद्ध वायु-सेवन आदि में भी इन रानियों की महती प्रवृत्ति थी। समय अनुचितप्रकारेण नष्ट किए विना स्वस्थ जीवन रखने का प्रयत्न होता था, और कर्तव्य-पालन में त्रुटि न होती थी। धार्मिक पुण्य कर्मों में विशेष रुचि थी, किंतु मिथ्या धार्मिक आडंबरों में नहीं। इन तीनो व्यक्तियों की जीवन-यात्रा देखकर लोग समझते थे कि संसार में यदि कहीं स्वर्ग होगा, तो यहीं उसका प्रादुर्भाव था।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

कुनिंद-युद्ध

(अ) राजनीतिक विचार-विनिमय—मथुरा में

उज्जयिनी जीतकर जब महाक्षत्रप षोडास मथुरा पहुँचे, तब उन्होंने दस-पाँच दिनों के भीतर अपने महामंत्री, सांधिविग्रहिक (पर-राष्ट्र-सचिव), अक्षपटलाधिकृत और महासेनापति को स्मरण करके इन मुख्य मंत्रियों की एक अंतरंग सभा बिठलाई। इन सबों में गुप्त रूप से मंत्रणा होने लगी। यह सभा सौराष्ट्र और लाट-पराजय से पहले बैठी थी।

षोडास—बाइज़्ज़त वज़रा ! उज्जयिनी राज्य के दो सूबे अवंति और आकर तो हम लोगों ने फ़तेह किए, मगर निहायत अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि यह सौदा बहुत महँगा बैठा। हमारा घर तबाह हो गया। अज़ीज़ अज़ जान बिरादर व नीज़ बिरादरज़ादे का बिछुड़ना कौन सह सकता है ? अगर महाक्षत्रप हो जाने की सोचूँ, तो उन्हीं के ज़माने में मेरे अख़्तियारात में कौन कमी थी ? घर में तीन में एक ही रह गया। बेचारी लड़की हन रोते-रोते परीशान है।

महामंत्री—यही बात है, ख़ुदावंद नेमत ! भाइयों में ऐसी गहरी मुहब्बत शाज़ देखने में आती है। महल सूना हो गया।

षोडास—अब आइंदा के लिये क्या इरादे हैं ?

महासेनापति—ख़ुदावंद नेमत ! देखने को तो मालवों की ताक़त

घट गई है, मगर फ़िलवाक़े अभी उसको कोई ज़वाल नहीं आया है, बल्कि एक तरीक़े से तरक़्क़ी का ख़याल है। गंधर्वसेन इंतिज़ामात फ़ौजी वग़ैरह में अच्छी जुस्तजू नहीं करते थे, व नीज़ फ़न्ने-जंग से भी काफ़ी वक़्फ़ियत नहीं रखते थे। उधर उनका बेटा विक्रमादित्य जंगो जदल में जुम्ला फ़ुनूते-नज़रों से बख़ूबी माहिर है। पाँच सूबेजात में तीन ही ज़रूर रह गए हैं, मगर जितनी ज़मीन गई है, उतनी आसानी से दीगर अतराफ़ में हासिल हो सकती है, सिर्फ़ उज्जयिनी छूटने की बदनामी व कोफ़्त-भर का सवाल रह जाता है; आमदनी में कमी बाक़ी न रहेगी। इसलिये मेरा ख़याल ऐसा है कि इस फ़तेह से सिवा अफ़कार के कोई ख़ास फ़ायदा हासिल नहीं हुआ है।

सांधिविग्रहिक—अपने को आजकल हिंदुस्तान ज़ुल्मत निशान में पाटलिपुत्रवाली बड़ी ताक़त पर ग़ौर करना है, व नीज़ तीन उससे कुछ छोटी, मगर ताक़तवर रियासतों से होशियार रहना है, यानी आंध्रशातवाहन, मालव और कुनिंद से। फ़ी ज़माना मालवों और कुनिंदों से मुठभेड़ है। विक्रम तक्षशिला में तालीम ख़त्म करके बजाय जल्द-से-जल्द घर पहुँचने के कुनिंद जा पहुँचा। वहाँ ज़रूर इन दोनो ने दोस्ती का बर्ताव बढ़ाया होगा। ऐसी ख़बर भी मिली है। पाटलिपुत्र में शहंशाह वसुदेव का अख़्तियार अभी तीन ही सालों से होने से वह अपने इंतिज़ामात ही ठीक कर रहे हैं। उनसे तो बिलफ़ेल किसी क़िस्म का ख़ौफ़ हो नहीं सकता। शातवाहनों से आगे-पीछे नाचाक़ी लाबुदी है, मगर फ़िलहाल कोई बात नहीं है। इस वक़्त अपने को मालव और कुनिंद-दो ही ताक़तों पर ख़ास ग़ौर करना है।

षोडास—फ़ी ज़माना शाही ताक़तों का जो बयान आपने किया है, वह बिलकुल ठीक है। दो-चार महीनों के अंदर अपने को एक मुहीम उठानी ज़रूर है। सवाल यह है कि पहली यूरिश इस बार

कुनिंद पर हो या फिर से मालवों पर कोशिश की जाय ? भाई भूमक उन लोगों से समझ ही लेंगे। अगर कभी मदद माँगेंगे, तो ज़रूर दी जायगी। अगर हम व भूमक मिलकर अभी उस तरफ़ यूरिश करें, तो दो मुश्किल अमूर हैं। एक तो यह कि विक्रम दोनो तरफ़ से दबकर शायद अपने दोस्त सिंधुक शातवाहन से मदद माँगे। वहाँ का वज़ीर लूतवर्ण सुना, उनके यहाँ गया भी था। ऐसी सूरत में एक छोटी-सी बात पर बड़ा जंग शुरू हो सकता है। इधर विक्रम दब चुका ही है। दो-चार साल शायद उसे ताक़त सँभालने में लगें। भाई भूमक उसके सर पर मौजूद ही हैं। फ़िलहाल उधर से कोई खटका नहीं समझ पड़ता। फिर बेटी हुन की उससे दोस्ती सादिक़ भी तक्षशिला में ज़्यादा थी। उससे फिर छेड़छाड़ करने में अज़ीज़ अज़ जान बेटी को रंज मुमकिन है। वालिद और बिरादर रह नहीं गए हैं ; अब चचा, वालिद वग़ैरह जो कुछ समझो, उस बेचारी का मैं ही हूँ। वाल्दा भी बाक़ी नहीं। अभी बिलफ़ेल उसे रंज नहीं पहुँचाना चाहता। वह अपने मामू भूमक के यहाँ सैर को जाना चाहती है। मेरी भी ख़्वाहिश भेज देने की है, जिसमें वह बेचारी ख़ुश रहे। इन जुम्ला वजूहात से मालवों से इस वक़्त झगड़ा बढ़ाना ठीक नहीं। इधर कुनिंद ताक़त सर पर ही मौजूद है, और मालवों का मामला अभी दूर का सौदा है। छिपाने से क्या फ़ायदा ? कुनिंद-पति अमोघभूति की बेटी भी मेरे दिल में बस रही है। बशर्ते फ़तेहयाबी वह भी हाथ लगेगी।

सांधिविग्रहिक—उसे देने को तो वे लोग राज़ी थे, मगर ख़ुद-मुख़्तारी की शर्त करते थे।

षोडास—यही तो सुक़्म था। इतनी क़वी ताक़त सर पर क़ायम रखने से किसी कमज़ोर हालत में आफ़त मुमकिन थी ही।

महामंत्री—बिलकुल ठीक है, ख़ुदावंद नेमत।

षोडास—भला, कुलिंद से फ़तेहयाबी कितने अर्से की लड़ाई से मुमकिन है ?

महासेनापति—एक साल या कुछ कमोबेश लग सकता है।

षोडास—फ़ौज कितने दिनों में इस काम को तैयार हो सकती है ?

महासेनापति—एक महीने में, खुदावंद !

षोडास—ख़ज़ाने का हाल तो ठीक होगा ही।

अक्ष पटलाधिकृत—ऐसा तो है ही, देव ! इन्हीं दिनों उज्जयिनी से भी अच्छी रक़म हाथ आई है।

षोडास—तब फिर आर्य सांधिविग्रहिक भेजे न जायँ।

महामंत्री—समझ तो ऐसा ही पड़ता है, क्यों न आर्य !

सांधिविग्रहिक - मेरी भी यही राय है।

(ख) कुलिंद में राजनीतिक विचार

इस प्रकार मंत्रणा के पीछे आर्य सांधिविग्रहिक एक प्राभृतक के साथ कुलिंद भेजे गए। वहाँ जाकर आपने कौलिंद सांधिविग्रहिक से वार्ता करके प्राभृतक की एक प्रतिलिपि भी अर्पित की। उसके संबंध में दोनो सांधि-विग्रहिकों में खुलकर बातचीत भी हुई। अनंतर राजा अमोघभूति ने अपने मंत्रिमंडल में से महामंत्री, महासेनापति, अक्षपटलाधिकृत और सांधिविग्रहिक से मंत्र किया।

अमोघभूति—(महामंत्री से) प्राभृतक तो आपने पढ़ ही लिया, आर्य !

महामंत्री—अवश्य। वह जो पहले कहते थे, वही अब भी कहते हैं। राजपुत्री को माँगते हैं, तथा अपने को करद महाराजा बनाना चाहते हैं।

सांधिविग्रहिक—प्रेम-पूर्वक विवाह की बात एक वस्तु है, तथा राजनीतिक दबाव डालकर राजपुत्री का माँगना मान-हानि ही है।

महासेनापति—ऐसा तो समझ ही पड़ता है। मित्र वीरवर ने देव विक्रमादित्य की ओर से ऐसी सम्मति दी थी कि यदि हम लोग दो वर्ष पर्यंत युद्ध चला सकें, तो विजय की दृढ़ आशा है।

अमोघभूति—यह तो समर-कौशल की बात है, आर्य! क्या आप ऐसा करने में समर्थ हो सकेंगे?

महासेनापति—निश्चित उत्तर देना, देव! कुछ कठिन है। प्रयत्न किया जायगा। सेना अपनी अंत-पर्यंत युद्धार्थ प्रस्तुत है ही।

अमोघभूति—(सांधिविग्रहिक से) क्या पाटलिपुत्र से कोई आशा हो सकती है? यदि हो, तो आपको उधर प्रेषित करें।

सांधिविग्रहिक--आशा तो कुछ दिखती नहीं, किंतु भेजने में क्या दोष है? मैं तो समझता हूँ, जब विलंबकारिणी नीति ही पर चलना है, तब शकों से विचारार्थ एक मास का समय क्यों न माँगा जाय? इधर ऐसी युक्ति खेली जाय, देव! और उधर मैं पाटलिपुत्र जा। सेना सन्नद्ध करने का प्रयत्न किया जाय। दुर्ग, अस्त्र, शस्त्र, सेना आदि सब बीच में सुसज्जित भी होती रहें।

अमोघभूति—(अक्षपटलाधिकृत से) मैं समझता हूँ, कोष की तो कोई कठिनता न पड़ेगी?

अक्षपटलाधिकृत—तीन वर्ष-पर्यंत युद्ध चलाने से भी कोष न घटेगा, देव!

अमोघभूति—तब फिर माथुर सांधिविग्रहिक का दरबार कराया न जाय?

महामंत्री—अवश्य, देव! युद्ध से पैग पीछे नहीं देना है; ऐसी हम सभी मंत्रियों की सम्मति है।

अमोघभूति—यही तो मेरा भी विचार है।

अनंतर माथुर सांधिविग्रहिक महाशय नियम-पूर्वक आहूत होकर

इसी दरबार में उपस्थित हुए। इन्होंने अपनी नियुक्ति के पत्र महामंत्री को दिखलाकर वार्तालाप आरंभ किया।

अमोघभूति—सांधिविग्रहिक महोदय! आशा है, आपको यहाँ कोई कष्ट न होगा, तथा मार्ग में भी प्रसन्नता-पूर्वक आए होंगे।

शक-सांधिविग्रहिक—देव की मेहरबानी से बहुत आराम के साथ हूँ। उम्मीद है, यहाँ सब ख़ैरवाफ़ियत होगी। वहाँ मथुरा में महाक्षत्रप षोडासजी बहुत मज़े में हैं, और देव की ख़ैरियत चाहते व मिज़ाजपुर्सी करते हैं।

अमोघभूति—हम सब ईश्वर की कृपा से प्रसन्न हैं।

शक-सांधिविग्रहिक—देव की ख़िदमत में मैं मथुरा का यह ख़रीता पेश होने को लाया हूँ।

(कौनिंद सांधिविग्रहिक प्राभृतक लेते हैं।)

कौनिंद सांधिविग्रहिक—आर्य! आपके यहाँ का प्राभृतक प्रेम-पूर्ण भावों को राजनीतिक उद्दंडता से भी मिला रहा है, जिससे कुछ आश्चर्य होता है। राजपुत्री के विवाह पर यहाँ से एक बार स्वीकृति जा ही चुकी थी, किंतु जब करदपन की पदवी उसी के साथ जोड़ने का कथन हो रहा है, तब विवाह-वार्ता भी प्रेम-गर्भित न होकर एक राजनीतिक घटना-सी हुई जाती है।

शक-सांधिविग्रहिक—है तो आर्य के फ़र्माने में कुछ ताक़त ज़रूर, मगर राजनीति का सवाल पहले यहीं से उठाया गया था। मथुरा से उस बार सिर्फ़ शादी का पैग़ाम था, मगर यहीं से शाही तालुक़ात का भी सवाल जोड़ा गया। इसीलिये इस बार यह बात साफ़-साफ़ कह दी गई है।

कौनिंद सांधिविग्रहिक—कारण इसका क्या है, सो बुद्धि के परे है। कुनिंद-संघ पहले न्यूनाधिक पाटलिपुत्र के साम्राज्य से संबद्ध अवश्य था, जिसका भी व्यवहार पच्चीस-तीस वर्षों से नहीं के बरा-

बर है। हमारा संबंध मित्र शक्ति से बराबरी का था। उसी रियासत के स्थान पर अब आप लोग हैं। ऐसी दशा में हमारे करदपन का प्रश्न किस अधिकार के बल पर उठ रहा है, सो समझ में नहीं आता ?

शक-सांधिविग्रहिक—यह सवाल मुल्की हालात पर मबनी है, सियासती मामलात पर नहीं। कुनिंद की सल्तनत तक्षशिला और मथुरावाली शक रियासतों के दर्मियान वाक़ै हो जाने से अगर हम लोग आपको बिलकुल ख़ुदमुख़्तार माने रहें, तो किसी वक़्त अपनी ताक़त पर भी दहशत का सामना हो सकता है। देव ख़ुद ख़्याल फ़र्मा सकते हैं कि ऐसे ख़यालात अमल में लाने के लिये मुल्की हालात से हमारे महाक्षत्रप मजबूर हो रहे हैं। फिर भी यह नया सिलसिला मुहब्बत के साथ जोड़ा जा रहा है, न कि किसी तरह सख़्ती से। शुरू में पैग़ाम शादी के साथ कोई भी सियासती सवाल अपनी तरफ़ से न जोड़ा गया। यह ज़ाहिर था कि अमल में वह बात आ जाती। इसीलिये देव को शक गुज़रा, और सवाल साफ़-साफ़ उठ पड़ा। ताहम मथुरा से ऐसा इलमी वादा किया जा सकता है कि ख़िराज की मेक़दार में काफ़ी रियायत हो सकती है। देव के कोई पिसर तो है नहीं; सिर्फ़ दुख़्तर बलंद यक़बाल है। शादी होने से दोनो ताक़तें गोया एक हो सकती हैं।

महामंत्री—यही तो आप साहबान विचार नहीं कर रहे हैं। यह शक्ति कोई शाही न होकर गण-संघ है। राजा लोग हमारे स्वामी न होकर गण द्वारा निर्वाचित नेता-मात्र होते हैं। यदि किसी नेता के पुत्र हो, तो भी गण उसके पीछे पुत्र के स्थान पर किसी पूज्य व्यक्ति को गणमुख्य निर्वाचित कर सकता है। राज्य संघ का होता है, नेता का नहीं।

शक-सांधिविग्रहिक—क्या देव के भी ऐसे ही ख़यालात हैं ?

अमोघभूति—यही तो बात ही है ।

शक-सांधिविग्रहिक—तब दोनो रियासतों के मिलने का सवाल नहीं रह जाता; सिर्फ़ इस गणराज्य के मथुरा के मातहत रहने का मामला बाक़ी है । शादी में तो आप साहबान को एतराज़ नज़र नहीं आता ।

महामंत्री—केवल प्रीति-पूर्वक रूप से विवाह में आपत्ति न थी, किंतु उसी के साथ जब राजनीतिक प्रश्न मिला हुआ है, तब विवाह भी अस्वीकृत है । होंगे तब दोनो विषय साथ ही निर्णीत होंगे ।

शक-सांधिविग्रहिक—तब फिर मैं अर्ज़ करूँगा कि ग़ारीसे का जवाब क्या मिल रहा है ?

महामंत्री—मैं तो समझता हूँ कि बात के गंभीर होने से एका-एकी उत्तर नहीं दिया जा सकता; इसके लिये विचारार्थ समय की आवश्यकता है ।

अमोघभूति—यही बात ठीक समझ पड़ती है ।

शक सांधिविग्रहिक—क्या मैं जान सकता हूँ कि इसके लिये कितना वक्त ज़रूरी समझा जाता है ?

कौनिंद सांधिविग्रहिक—एक मास तो लगेगा ही ।

शक-सांधिविग्रहिक—इतना वक्त ज़्यादा समझ पड़ता है; दस-पाँच दिन काफ़ी होंगे ।

महामंत्री—हमारे यहाँ गण-सभा एकत्र होगी, जिसमें प्रश्न रक्खा जायगा । यदि केवल मंत्रिमंडल की सम्मति लेकर देव को निर्णय करना होता, तो दो ही चार दिन बहुत थे । यहाँ तो सारे राज्य से प्राय: २०० गणप्रतिनिधि आहूत होंगे । अनंतर ऊँच-नीच समझ-कर उनकी सम्मति स्थिर होगी, जो प्रत्येक स्थानीय मंडल में फिर से विचार की जाकर अंत में प्रतिनिधियों द्वारा राजसेवा में भेजी जायगी । अनंतर बहुमत के अनुसार अंतिम निर्णय होगा । यदि

साधारण गौरव का प्रश्न होता, तो प्रतिनिधिगण ही निर्णीत कर देते। जब सारे राज्य के स्वातंत्र्य का प्रश्न है, तब सभी वयस्कों की सम्मति आएगी।

शक-सांधिविग्रहिक—समझ तो कुछ देरी पड़ती है। अच्छी बात है, ख़रीते का जवाब मरहमत हो। मैं महाक्षत्रप के हुज़ूर में पेश करूँगा।

(स) पाटलिपुत्र में विचार

इस प्रकार मत-परिवर्तन के पीछे माथुर सांधिविग्रहिक महोदय अपने ख़रीते के उत्तर में कौनिंद प्राभृतक पाकर मार्ग का प्रबंध हो जाने पर वहाँ से प्रस्थित हुए। जब यह उत्तर महामंत्री ने जाना, तथा सांधिविग्रहिकजी से मंत्र किया गया, तब महाक्षत्रप की भी आज्ञा से यह निश्चय हुआ कि एक मास का समय नियम-पूर्वक स्वीकार कर लिया जाय। इतना समय युद्धार्थ तैयारी में लगना था ही, सो किसी को आपत्ति न समझ पड़ी। इधर कुनिंद में भी रण-भेरी बजने लगी, और स्वतंत्रता की रक्षा के लिये सारे कुनिंद वीर शस्त्रास्त्र से सुसज्जित हो-होकर गुप्त भाव से राजधानी में प्रस्तुत होने लगे। मंत्रिमंडल की सम्मति से सांधिविग्रहिक महोदय पाटलिपुत्र को भी प्रस्थित हुए। यद्यपि आशा विशेष न थी, तथापि सहायता-प्राप्ति का उद्योग स्वभावशः पूर्ण तत्परता से किया गया। कौनिंद सांधिविग्रहिक महोदय जब पाटलिपुत्र पहुँचे, और वहाँ के सांधि-विग्रहिक द्वारा इनके प्राभृतक की प्रतिलिपि महामंत्री तथा सम्राट् की सेवा में उपस्थित की गई, तब महासेनापति को भी बुलवाकर एक अंतरंग सभा में इस विषय पर विचार हुआ।

सम्राट् वसुदेव—कहिए, आर्य सांधिविग्रहिकजी ! कौनिंदों का प्राचीन व्यवहार तो महाराज्य के रूप में शुंग-साम्राज्य से था अवश्य, किंतु पचीस-तीस वर्षों से ये स्वतंत्रप्राय हैं। अब शक-दाप से

अपना भविष्य संशयाकीर्ण समझकर फिर से अधीनता को प्रसन्नता-पूर्वक जाग्रत् करना चाहते हैं। बात तो अच्छी है, क्योंकि अपने प्रभाव का विस्तार प्रसन्नता-पूर्वक हो रहा है। जो अधिकार हम कठिन रण-रंग उपस्थित करके प्राप्त करते, वह वे स्वयं दे रहे हैं।

महामंत्री—फिर भी रण-रंग तो उपस्थित है ही; कौनिंदों से नहीं, तो उन्हीं के रक्षणार्थ रण-दुर्मद शकों का सामना करना होगा।

सम्राट् वसुदेव—यदि सदैव युद्ध बचाइए, तो साम्राज्य का कोई भी महाराजा स्थिर न रह सकेगा। उधर अपनी नवीन शक्ति अभी पूर्ण दृढ़ता के साथ स्थापित भी नहीं है। सभी बातें सोचनी हैं।

महासेनापति—यही तो बात है। शुंगों की एक शाखा वैवाहिक संबंध से कलिंग में दृढ़ है। शुंग-साम्राज्य से तो उसका सद्भाव बराबर चलता रहा, किंतु स्वभावतः अपनी शक्ति से वह प्रतिकूल है।

सम्राट् वसुदेव—यही तो बात है; आगे-पीछे उससे संग्राम होना है ही, जिसके लिये बल-वर्द्धन आवश्यक है। उधर यदि शक-शक्ति को निर्विघ्न राज्य बढ़ाने दिया जाय, तो भी एक दिन संकट उपस्थित हो सकता है। अभी परीसाल ये क्रूर विदेशी आकर और अवंति ले चुके हैं, और अब कुनिंद पर दाँत लगाए हैं। यदि इसी प्रकार इनका बल बढ़ता रहा, तो इन्हीं से संग्राम बना-बनाया है, क्योंकि उत्तरी भारत में दो साम्राज्य तो रह सकते नहीं, अंततोगत्वा एक ही रहेगा, जिससे घोर संग्राम अवश्यंभावी है।

महामंत्री—फिर यदि भारतीय शक्तियों की रक्षा इन क्रूर विदेशियों से न की जाय, तो देश-प्रेम में न्यूनता आती है।

महासेनापति—यदि प्रबल कुनिंद-शक्ति अपनी सच्ची सहायक हो जाय, तो पंजाब में शक-शक्ति शिथिल अवश्य पड़ेगी। यदि समय के साथ अपना प्रसर न किया गया, तो एक दिन शकों या शातवाहनों के दाप से अनिष्ट की भी शंका हो सकती है।

सम्राट् वसुदेव—यदि आज कुनिंदों की सहायता की जाय, तो क्या ऐसा निश्चित माना जा सकता है कि यह शक्ति सदा को सच्ची मित्रता निभाएगी ?

पाटलिपुत्र-सांधिविग्रहिक—इसमें संदेह नहीं दिखता, देव ! यदि सज्जनता के विचार छोड़ भी दिए जायँ, तो दो शक-शक्तियों के बीच में दबी होने से यह आर्य-शक्ति आत्मरक्षा के विचार से ही बाह्य आर्य-शक्तियों से सच्ची मैत्री निभाने में स्थिति के कारण विवश रहेगी ।

सम्राट् वसुदेव—सभी बातों पर विचार करने से ऐसा तो निश्चित दिखता है कि देश-प्रेम, स्वार्थ, आर्य-जाति का हित आदि सभी भावों से कुनिंद-रक्षा अपने लिये योग्य है, किंतु केवल संभवनीयता तथा बल का प्रश्न रह जाता है । माथुर शक-राज्य प्रबल है ही । उससे मुठभेड़ सुगम नहीं । यदि पश्चिम में उससे लोहा लिया जाय, और कहीं पूर्व में शुंग-शक्ति समय ताड़कर उसी काल युद्धोन्मुख हो उठे, तो कैसी ठहरे ?

महासेनापति—इतनी ही तो शंका चित्त को नहीं छोड़ती ।

सम्राट् वसुदेव—तब फिर किया क्या जाय ?

महामंत्री—मैं तो समझता हूँ, बड़े दुःख के साथ हमें कुनिंदों को निराश करना पड़ेगा । समय तो अच्छा था, किंतु सामर्थ्य का प्रश्न है ।

पाटलिपुत्र-सांधिविग्रहिक—दुःख तो सचमुच बड़ा होगा । उनको उत्तर दिया क्या जाय ?

महामंत्री—प्रत्यक्ष कह दिया जाय कि बात तो आपकी योग्य है, किंतु अपनी नवशक्ति के अभी पूर्णतया संगठित न हो सकने से बड़े युद्धों का उठाना इस काल योग्य नहीं दिखता ।

सम्राट् वसुदेव—हमें तो ऐसे कथन करने में संकोच होगा ।

कौनिंद सांधिविग्रहिक का इमसे प्रेम-पूर्ण संभाषण हो जायगा, तथा कह दिया जायगा कि राजनीतिक वार्तालाप सांधिविग्रहिक अथच महा ंत्री से हो। यही किया गया, और कौनिंद सांधिविग्रहिक का मान तो विशेष हुआ, तथा आलाप भी परम प्रेम-गर्भित हुए, तथापि कार्य-सिद्धि में इधर-उधर के गोल कथन किए गए, जिनका सारांश नाहीं-गर्भित था। अनंतर वे कुनिंद वापस गए। वहाँ जाने पर जब प्राय: एक मास बीतने को आया, और शकों की ओर से उत्तर-प्राप्ति पर शीघ्रता की गई, तब कुनिंद से युद्धार्थ प्रस्तुति प्रकट कर दी गई, यद्यपि ऐसा बतलाने का भी विशेष प्रयत्न हुआ कि रण अनावश्यक था, क्योंकि माथुर माँग किसी नियमित अधिकार पर आधारित न थी। माथुरों ने इस युद्ध के निमित्त तक्षशिलावालों को भी सम्मिलित करना चाहा। इधर कुनिंदों की ओर से भी वहाँ मित्रता के नाते सहायतार्थ प्रार्थना की गई। ऐसी दशा में उस शक-शक्ति ने पूर्णतया तटस्थ रहने का निश्चय किया।

(द) कौनिंद युद्ध

अब माथुरों ने पूर्ण बल के साथ सेना सन्नद्ध की। इधर कौनिंदों ने अपना सारा कोष राजधानी से पाश्चात्य सीमा की ओर चला दिया, और पूरे प्रयत्न के साथ लोहा बजाने की अंतिम तैयारी की। इन्होंने मैदान में निकलकर लड़ने के स्थान पर प्रत्येक नदी, पहाड़, झील आदि को दृढ़ किया, तथा यथासाध्य शकों की गति का अवरोध करने की युक्ति बाँधी। युद्ध की इस नवीन प्रणाली से शक-दल कुछ आश्चर्यान्वित तो हुआ, किंतु पूर्ण प्राबल्य के साथ आगे बढ़ने में सन्नद्धता दिखलाकर विजय-प्राप्ति की युक्तियाँ बाँधने लगा। कुनिंद योद्धा जंगलों, खाड़ियों, भित्तों आदि की ओट पकड़-पकड़कर शक-सेना के आगे बढ़ने में उसे प्रचुर

हानि पहुँचाते थे। जब हानियाँ सहकर भी वह दल आगे बढ़ता था, तब ये लोग मुख्य दल को तो दूसरे आड़वाले स्थानों में यत्र-तत्र लगा देते थे, किंतु कुछ सैनिकों को गड्ढों आदि के भीतर मरने-मारने को छोड़े जाते थे। ये योद्धागण प्रबल बाणों के प्रयोग से घने रूप में बढ़नेवाले शत्रु-दल में से एक-एक, दस-दस, पाँच-पाँच को मारकर मरता था। नाव आदि द्वारा नदियां पार करने में भी बाणों तथा अपनी नावों द्वारा घोर आक्रमण करते थे, जिससे शत्रु-दल की प्रचुर हानि होती थी। इस भाँति यद्यपि कौनिंद दल एक ही लक्ष था, अथच शक-सेना ढाई लाख की संख्या में प्रस्तुत थी, तो भी प्रायः छ मास तक आगे बढ़ते-बढ़ते इनमें से प्रायः एक लक्ष वीरों का विनाश हो गया, यद्यपि कौनिंदों के केवल ३५ सहस्र योद्धा काम आए। फिर भी धीरे-धीरे बढ़ते हुए शकों ने आधे कौनिंद देश पर अधिकार जमा लिया। कुनिंदों को आशा थी कि इतनी हानि सहकर शक शत्रु संभवतः आक्रमण से निवृत्त हो जायँ, किंतु ऐसा न हुआ। ज्यों-ज्यों उनकी हानि होती जाती थी, त्यों-त्यों जयेच्छा भी प्रबलतर होती थी। इन छ मासों के अनुभव से उन्होंने अपने बचाने के नवीन ढंग भी निकाले, जिनसे भविष्य में हानि कम हो। इस भाँति लड़ते-भिड़ते पाँच मास और बीत गए, जिनमें शक-दल के प्रायः सत्तर सहस्र योद्धा और हताहत हुए, तथा कुनिंदों के और पैंतीस सहस्र वीर हताहतों में आए। इन पाँच महीनों में कुनिंदों का प्रायः अष्टमांश देश रह गया। इसी समय विक्रम द्वारा प्रेषित वीरवर जाकर राजा अमोघभूति से मिले। उन्होंने सौराष्ट्र तथा लाट-विजय के समाचार सुनाए, और यह भी कहा कि यदि काम बनने की आशा हो, तो मालवों द्वारा उज्जयिनी पर आक्रमण का प्रबंध किया जाय। ये बातें सुनकर अमोघभूति ने धन्यवाद देकर उधर की विजयों से वास्तविक प्रसन्नता भी मनाई,

किंतु सारी दशाओं पर विचार होकर यही निश्चय हुआ कि कुनिंद-दल के इन दिनों बहुत क्षीण पड़ जाने के कारण उधर से मालव आक्रमण से कोई विशेष लाभ न होगा। विवश होकर इन्होंने खुल-कर घोर युद्ध करने का निर्णय किया, जिसमें राजा के मना करने पर भी वीरवर ने अपना सम्मिलित होना निश्चित किया। अनंतर मैदान में बढ़कर घोर युद्ध करने के पूर्व राजा ने अपना शेष कोष जंगल के कई गुप्त स्थानों में छिपा दिया। फिर कढ़कर प्रचंड संग्राम किया गया, जिसमें दुगुनी संख्या में शक-हानि करके यह हतशेष कुनिंद-सेना हताहतों में आ गई। अमोघभूति, राजकुमारी चित्रा, वीरवर आदि कई मंत्रियों-सहित शकों के बंदी हुए। इस प्रकार ग्या-रह मास में यह कुनिंद-समर समाप्त हो गया, तथा सारा कौनिंद देश शकों के अधिकार में चला गया।

(इ) राजकुमारी चित्रादेवी

शकों ने सारे प्रधान-पुरुषों को बंधन में रख राजकुमारी चित्रा को सम्मान-पूर्वक ले जाकर माथुर पटभवन में षोडास के समक्ष उपस्थित किया। उसने इस राजकन्या से विशेष मान के साथ एकांत में आलाप आरंभ किया।

षोडास—राजकुमारीजी! मैं आपको बहुत इज़्ज़त के साथ इस अज़ीमुश्शान शक-सल्तनत की मलिका बनाना चाहता हूँ। आपके वालिद माजिद भी रज़ामंद थे, मगर अपनी हुर्रियत क़ायम रखने के ख़याल में ऐसे मस्त रहे कि महज़ कहने-भर का ख़िराज देने को राज़ी न हुए, जिससे न सिर्फ़ उनका राज-छूटा, बल्कि मेरा भी काफ़ी नुक़सान हुआ। उम्मीद है, ताहम आप मेरे वादों का एतबार करके ख़ुशी से मलिका बनने को तैयार होंगी। मैं भी क़ायदे से क्षत्रिय हूँ, और ठीक तरीक़े से आपके साथ शादी करना चाहता हूँ। इसमें कोई बदबख़्ती न होगी। अब फ़र्माइए, आपका क्या ख़याल है?

चित्रा—विवाह तो प्रेम का विषय है। आपने विवाहार्थ मुझे पूज्य पिताजी से माँगा, और उन्होंने भारी जातीय भेद के होते हुए भी उदारता-पूर्वक आपका प्रस्ताव प्रेम के साथ स्वीकार कर लिया। मुझे कुछ लोग अत्यंत सुंदरी समझने की भूल करते हैं, किंतु मैं इस बात का गर्व नहीं करती। फिर भी प्रीति-हीन विवाह से स्त्री-जाति का अपमान समझती हूँ। मेरे विचारों में आप प्रेमी न होकर राजनीतिक पुरुष-मात्र हैं।

षोडास—यह नतीजा आपने कैसे निकाला? मुझे भी अपने को ख़ूबसूरत समझनेवाले बेवक़ूफ़ों में मानिए।

चित्रा—यदि प्रेमी होते, तो नाम-मात्र की अधीनता पर हठ न करके तुरंत विवाह स्वीकार कर लेते। विवाहोपरांत साल-दो साल के पीछे यदि राजनीतिक अधीनता का प्रश्न किसी व्याज से उठाते, तो क्या मैं अपने विवाहित पति को छोड़कर भाग जाती?

षोडास—जानेमन! इतनी ग़लती मुझसे ज़रूर हो गई। मैंने अपने ख़ास ख़ुसुर से क़ौल हारकर फिर से हीलेसाज़ी को पसंद न किया। फिर भी मानता हूँ कि बग़ैर क़ौल तोड़े मुहब्बत या दीगर तरीक़ों व मौक़ों से काम बन सकना मुम्किन था। बहरहाल, क्या एक बेवक़ूफ़ी आप मुआफ़ नहीं फ़र्मा सकतीं?

चित्रा—यह मूर्खता नहीं, प्रेमाभाव की सिद्धि है। यदि प्रबल प्रीति होती, तो अधीनता पर हठ न करते। इतना जानना था कि अपनी ही प्राणोपमा एकमात्र संतान के प्रतिकूल वह जा कैसे सकते थे? अधीनता का नाम न होता, किंतु संबंध से माथुर शक्ति का लाभ उनसे विशेष हो जाता। यदि आपमें प्रेम समुचित मात्रा में होता, तो इतना अवश्य विचार लेते। यदि इससे सौगुनी मूर्खताएँ करते, तो भी मैं उन्हें अक्षम्य न समझती, किंतु कोई मानवती स्त्री किसी प्रीति-हीन पुरुष से अनुरक्त नहीं हो सकती। मैं किसी साधा-

रण पदवाले प्रेमी को चाहे वरूँ, किंतु प्रेम-हीन सम्राट् की ओर आँख उठाकर भी न देखूँगी।

षोडास—एक ग़लती मुआफ़ करने से आप ही की उलुलअज़्मी साबित होगी, जानेमन!

चित्रा—प्राणेश्वरी आपकी है कौन, जो बार-बार इस शब्द का मिथ्या प्रयोग करते हैं? अपना प्रबंध देखिए; मैं शत्रु-कन्या हूँ, उचित दंड दीजिए। सौंदर्य नहीं बेचती। आपको शत्रु समझ रही हूँ। दंड देने का आपको अधिकार है, प्रेम का नहीं।

षोडास—जानेमन! कोई तो शर्त बतलाइए, जिससे मेरी सख़्त ग़लती की तलाफ़ी हो सके। हुक्म हो, तो हज़ार बार इन तलवों से पेशानी रगड़ूँ। मान जा जान मेरी! ग़ुस्सा छोड़ दे। तेरे एक बाल पर सौ कुनिंद-रियासतें निछावर हैं। जो माँग, वही क़दमों में हाज़िर करूँ। अगर हुक्म हो, तो मथुरा और कुनिंद, दोनो सल्तनतें छोड़कर तेरे हमराह इबादत करूँ। शादी के बाबत मेरा पैग़ाम मंज़ूर फ़र्माकर अब पीछे हटने का आपको मज़हबी हक़ भी हासिल नहीं है। माँग, क्या चाहती है? तेरे वालिद को क्या फिर से कुनिंद की ख़ुदमुख़्तार सल्तनत दे दूँ? अगर हुक्म हो, तो अभी फ़र्मान लिखता हूँ। उसी के साथ अगर उज्जयिनी के आकर-अवंति पसंद हों, तो वे भी उन्हीं के रूबरू रख दूँ। आधी मथुरा लेगी? अभी कह दे, जानी! इन्हीं क़दमों में परवाना पेश कर दूँ। एक बार ग़लती कर गया। मुहब्बत में कमी मत मान। मैंने दूसरों से तेरी ख़ूबसूरती की तारीफ़-भर सुनी थी; आँख से न देखा था। तेरे औसाफ़ रूप से भी बढ़कर हैं। बोल, क्या क़ीमत लेगी?

चित्रा—इतना प्रेम पहले कहाँ गया था?

षोडास—अर्ज़ तो करता जाता हूँ कि पागल था, बेवक़ूफ़ था, नासमझ था। उसकी क्या सज़ा देती है? सौ बार मंज़ूर है।

चित्रा—मेरे प्रेम का कोई मूल्य नहीं। कुनिंद-राज्य आपने प्रचुर परिश्रम से जीता है। मुझे वह नहीं चाहिए। मैं कोई राज-नीतिज्ञ नहीं। मैं तो केवल प्रेमी पति चाहती हूँ।

षोडास—प्रेम का क्या सबूत माँगती है, ज़ालिम! यह तो बोल। एक बार ग़लती से कोई उम्र-भर को बुरा नहीं हो जाता। जो सुबूत मिज़ाज में आए, तलब कर ले। जानो माल सब कुछ इन क़दमों पर पेश हैं। है तू इस वक़्त पूरे तौर से मेरे अख़्त्यार में, मगर ताक़त से मुहब्बत नहीं मिलती! मैं इस चाँद का बोसा मुह-ब्बत से चाहता हूँ, जबरन् नहीं।

चित्रा—पहले इतना क्यों न सोचा?

षोडास—बेवक़ूफ़ी कर गया। सच्ची तौबा को ख़ुदा भी मान लेता है।

चित्रा—मैं अपने पिता के शत्रु से प्रेम कैसे कर सकती हूँ?

षोडास—उनकी दोस्ती जिस तरह मुम्किन हो, मैं करने को तैयार हूँ। ज़ुल्म छोड़ दे, नेकबख़्त! मेहरबानी कर दे। देख, यह क़ुसूरवार जुम्ला तलाफ़ियों के लिये क़दमों में हर तरीक़े से हाज़िर है।

चित्रा—क्या कहूँ! मैं तो बड़े धर्म-संकट में पड़ी जाती हूँ।

षोडास—तकलीफ़ किस बात की है?

चित्रा—मेरे पूज्य पिता के शत्रु यदि आप न होते, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं थी।

षोडास—वह दुश्मनी किस तरीक़े से छूटे, यह भी तो ख़ुदा के लिये बतला दे। बख़ुदा, हर तरीक़े से हाज़िर हूँ।

चित्रा—राज्य तो मेरे प्रेम का मूल्य है नहीं; यदि कहूँ कि उन्हें छोड़ दीजिए, तो कैसा?

षोडास—अभी इसी वक़्त छोड़ने को तैयार हूँ।

चित्रा—यदि छूटने पर वह आपसे फिर दुश्मनी करें, तो ?

षोडास—तू ही फ़ैसला करती रहना, मुझे कोई उज्र नहीं।

चित्रा—यदि फिर से शत्रुता करें, तो आप भी कर सकेंगे।

षोडास—रियासत दिला दे, तो दुश्मनी की जड़ मिट जाय।

चित्रा—राज्य वह किसी का दिया न लेंगे। आप छोड़-भर दीजिए। राज्य आपने जीता है। वह अब आपका है। यदि वह जीतेंगे, तो फिर से पाएँगे। बग़ैर जीते न तो वह लेंगे, न मैं दिलाना ठीक समझती हूँ।

षोडास—जानेमन ! दिला दे। मैं अब यही चाहता हूँ।

चित्रा—अच्छा, मैं उन्हीं से पूछकर विनती करूँगी। आपका प्रेम मुझे अब स्वीकार है।

षोडास—आफ़्रीं व सद आफ़्रीं, जानेमन ! मलिका मिले, तो ऐसी।

अनंतर अमोघभूति की सेवा में उपस्थित होकर चित्रा ने यों आलाप किया—

चित्रा—काकाजी ! मैं शक-पति द्वारा प्रेषित होकर इन पूज्य चरणों में प्रस्तुत हुई हूँ। वह आपसे मित्रता का व्यवहार फिर चाहते हैं।

अमोघभूति—यह आश्चर्य-पूर्ण अभिलाषा पूरी विजय के पीछे उनमें कैसे जाग्रत् हुई ?

चित्रा—विवाहार्थ बड़े हठ और विनय के साथ प्रार्थना करते रहे। मेरे मुख से निकल गया कि पितृशत्रु से प्रेम का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ?

अमोघभूति—इसी पर फिर से प्रीति-पूर्ण व्यवहार चाहते होंगे। नियम उनके क्या हैं ?

चित्रा—आपको बंधन-मुक्त करने को तो प्रस्तुत ही हैं; यदि कौनिंद

राज्य फेर लेने की इच्छा हो, तो जो कुछ चाहिए, उतनी वृद्धि के साथ भी उसे फेरने को तैयार हैं। केवल मित्रता चाहते हैं।

अमोघभूति—यह सद्बुद्धि पहले कहाँ थी?

चित्रा—कहते हैं, एक भूल ईश्वर के यहाँ से भी क्षमा हो जाती है।

अमोघभूति—यह तो कन्या-विक्रय हुआ। बड़ा धर्म-संकट उपस्थित है।

चित्रा—छोड़ तो आपको अवश्य देंगे। मैं पितृचरणों की आज्ञा के बाहर नहीं जा सकती, प्राण चाहे रहें या जायँ।

अमोघभूति—अनावश्यक हठ से क्या लाभ? विवाह तो मैं स्वीकार कर ही चुका था। दान में राज्य न लूँगा। ऐसी घटना से सच्ची स्वतंत्रता का व्यवहार कृतघ्नता-पूर्ण हो जायगा। राज्य की पुनः प्राप्ति बल-पूर्वक ठीक है, प्रतिग्रह से नहीं। अच्छा, मैं कन्यादान करके एकाकी चला जाऊँगा। अपने किसी साथी को भी बंधन-मुक्त न कराऊँगा। जो युक्ति कर सकूँगा, वह बल-पूर्वक होगी।

चित्रा—एक बार तो वह आपके सारे अनुयायियों को बंधन-मुक्त कर ही देंगे। पीछे यदि फिर भी युद्ध होगा, तो चाहे जो हो।

अमोघभूति—कठिन समस्या उपस्थित है। अच्छा, कन्यादान के पीछे भविष्य की कार्यवाहियों का निर्णय मालव-पति के सम्मत पर चलेगा।

चित्रा—जैसी आज्ञा।

अनंतर चित्रादेवी अपने पिता की सेवा में उपस्थित रहीं, और उचित प्रकार से कौलिंद-निर्णय की सूचना शक-पति को दे दी गई। शुभ दिन पर साधारण धूम-धाम के साथ चित्रादेवी का विवाह

शकपति षोडास के साथ हो गया, तथा सारे कौनिंद बंदी मुक्त होकर पतिस्थान को चले गए। षोडास कुनिंद देश छोड़ने को प्रस्तुत रहा, किंतु राजा अमोघभूति ने उसे न लेकर जब अनुयायियों-सहित प्रस्थान ही कर दिया, तब शकों ने नियमानुसार वहाँ अपना शासन-प्रबंध स्थापित किया। कुनिंद-राज्य के पाने से शक-पति जितना प्रसन्न हुआ, उससे दसगुना आह्लाद उसे प्रेम-पूर्वक चित्रादेवी की प्राप्ति से हुआ। दोनो पति-पत्नी शुद्ध प्रीति के साथ मथुरा में रहने लगे, और इनके उज्ज्वल संग से शक-पति की क्रूरताओं में भी समय के साथ बहुत न्यूनता आ गई।

बारहवाँ परिच्छेद

आंशिक शक-पतन और संधि

(अ) उत्तरी गुजरात में युद्ध-मंत्रणा

वीरवर और कुनिंद-पति अपने सारे साथियों के सहित यथा-समय पतिस्थान में पहुँचकर विक्रम से मिले। सौराष्ट्र और लाट-विजय की प्रसन्नता कौनिंद पराजय से बहुत कुछ दब गई। विक्रम ने कुनिंद-पति के विशाल युद्ध, पौरुष और साहस की भूरि-भूरि प्रशंसा करके उदारता के साथ उन्हें सौराष्ट्र-प्रांत का राज्य प्रेम-पूर्वक अर्पित किया, किंतु उन्होंने हृदयांतरिक धन्यवाद देकर उसे न लिया। अनंतर अमोघभूति और लाटेश्वर सोमदेव को साथ लेकर विक्रम-माता मदनरेखा के संग उत्तरी गुजरात में मातामह ताम्र-लिप्तर्षि की राजधानी को पधारे। उन्होंने सबका यथायोग्य मान किया। अनंतर सारे पुरुष-प्रधान अंतरंग सभा-भवन में विराजकर भविष्य के विषय में मंत्र करने लगे। मुख्य विचार शकों से भारत-रक्षा का था।

विक्रम—पूज्यपाद नानाजी! आजकल तीस-चालीस वर्षों से विदेशी शकों का ऐसा प्रभाव बढ़ रहा है कि चित्त चिंता-हीन हो नहीं पाता। इसके विषय में आपकी माननीय सम्मति क्या है? इन क्रूर विदेशियों का अत्याचार इतना बढ़ा-चढ़ा है कि अधिकारों का मान कुछ रहा नहीं जाता।

ताम्रलिप्तर्षि—कहना तो तुम्हारा बेटा पूर्णतया शुद्ध है। तुम्हारे

ही दो प्रांत लिए बैठे हैं, तथा सहायता और मित्रता भुलाकर लाट भी दबाए लेते थे। वह तो तुम्हारी दूरदर्शिता एवं युक्ति काम कर गई, जिससे विना लड़े-भिड़े लाट फिर अपना हो गया। बेचारे अमोघभूतिजी पर अनावश्यक विपत्ति आ पड़ी।

अमोघभूति—मुझी पर क्या बात है, देव ! जिस पर जब जो न बीते, थोड़ा है।

बीरवर—अब नानाजी ! इस विषय पर करणीय क्या है ?

ताम्रलिप्तर्षि—बेटी इन्दुदेवी ने पहले ही मंत्र दिया था कि इन दुष्टों के मूल उद्गमस्थान सिंध-देश से प्रयत्न प्रारंभ ठीक होगा। यदि हम लोग कुछ भी चैतन्यता घटाएँ, तो उसी प्रांत से शक-फैलाव गुर्जर-देश पर भी आ सकता है।

विक्रम—तब फिर नानाजी ! यदि आपकी आज्ञा हो, और भवदीय राज्य, लाट तथा मालव-संघ में विजय-विभूति के बढ़वारे का प्रश्न निश्चित हो जाय, तो सिंध से ही विजय-यात्रा प्रारंभ हो, क्योंकि शकों का भारतीय मूल-स्थान होकर भी कई छोटी-छोटी शक्तियों में विभाजित होने से है यह सारे शक-प्रांतों से निर्बल।

ताम्रलिप्तर्षि—इस राज्य को विजित देशों के विभाजन में भाग लेने की क्या आवश्यकता है ? मेरे और बैठा ही कौन है ? जो कुछ हो, तुम्हीं हो। तुमसे निकट का उत्तराधिकारी मेरा कौन है ? वह तो तुम अन्य कार्याधिक्य से यहाँ आते-जाते कम हो, जिससे विजित राज्यों के विभाजन का प्रश्न तुम्हारे चित्त में आ गया। उचित तो यह था कि तुम्हारी दोनो राजमहिषियों में से एक पतिस्थान में रहती और दूसरी यहाँ। प्रतिवर्ष प्रायः छ मास तुम्हें यहाँ बिताने चाहिए। क्या यह तुम्हारा घर नहीं है ? मेरी बेटी को भी अब प्रायः यहीं रहना योग्य है।

विक्रम—(नानाजी के पैरों पर सिर रखकर और उनके द्वारा

उठाए जाने पर) पूज्यपाद ! आपके कथनों में एक मात्रा भी दंश देने योग्य नहीं है। मैं तो अभी तक विद्याध्ययन ही करता रहा। एक ही वर्ष हुआ, जब निश्चिंत हुआ था कि मालव-राज्य पर विपत्ति पड़ गई। सिंध-विजय का विचार उठते ही चरणों में प्रस्तुत हुआ ही हूँ। (सोमदेव से) अच्छा, भाईजी ! अब आप सम्मति से कृतार्थ कीजिए।

सोमदेव—विजित देशों के विभाजन की कोई आवश्यकता नहीं। मेरा तो राज्य ही जा चुका था, जो आपकी कृपा-मात्र से प्राप्त हुआ है। यदि प्रेमादि का कोई विचार न करूँ, तो इस उपकार के बदले में ही जीवन-पर्यंत भवदीय अनुगमन मुझे योग्य है। लाट को कोई भाग लेने की कुछ भी इच्छा नहीं, आप मित्रवर अमोघ-भूतिजी को प्रसन्न कीजिए।

विक्रम—यह तो भाई, कोई बात नहीं है। (अमोघभूति से) अच्छा, आपका क्या मत है ?

अमोघभूति—मैं सिंध में कुछ नहीं चाहता, केवल अपना कुनिंद-देश फेरने की इच्छा रखता हूँ। संदेह मुझे ऐसा है कि इस आक्रमण के साथ तक्षशिलावाले शकों से भी युद्ध होगा, क्योंकि सिंधवालों से उनका विशेष सौहार्द है, तथा वह प्रांत जाता देख वे मानो अपनी जड़ कटना समझेंगे ही।

ताम्रलिप्तर्षि – समझने-भर का क्या कथन है ? यही तो बात ही है।

विक्रम—तब फिर कब से आक्रमण प्रारंभ किया जाय ? इसी संबंध में हम लोग कुनिंद तक पहुँच सकेंगे। उसका द्वितीय मार्ग अपने जयपुरवाले देश से आगे बढ़ना है, जिसमें निष्पाप कुछ आर्य-शक्तियों के दबाने का प्रश्न सम्मुख होगा, जो हर प्रकार से अनुचित है।

सोमदेव—ठीक ही है। तब फिर एक मास में सेनाएँ सन्नद्ध कर-करके हमारी तीनो शक्तियाँ आक्रमण करने लगें। देव अमोघभूति की सेना तो इस समय पास है नहीं, किंतु जितने पुरुष-प्रधान हैं, वे इतर सेनाओं का नेतृत्व करेंगे ही?

अमोघभूति—इसमें क्या संदेह है, वरन् तक्षशिलावाले यदि युद्धोन्मुख हुए, तो उस ओर के सारे सशक्त कुनिंद वीर कई सहस्र की सेना भी उपस्थित कर सकेंगे।

विक्रम—मैं तो समझता हूँ, यदि उस ओर के शक सुगमता-पूर्वक पराजित हो गए, तो आगे बढ़कर हम लोग संभवतः कुनिंद-मोचन में भी समर्थ हो सकें।

अमोघभूति—समझ तो ऐसा ही पड़ता है। वहाँ थोड़ी ही सी माथुर शक-सेना होगी। सहसा आक्रमण से बहुत कुछ काम बन सकेगा।

ताम्रलिप्तर्षि—शक लोग आक्रमण करने में कोई राजनीतिक सूचना तो देते नहीं। सिंध में न-जाने कितनी छोटी-छोटी शक-शक्तियाँ हैं। उन सबको सूचना कहाँ तक दे सकेंगे? आक्रमण ही सूचना मान ली जायगी। वहाँ रहने का उन जाति-हीन विदेशियों का प्राकृतिक अधिकार है कौन-सा? उन सबकी लूट-मार की तो बात ही है।

विक्रम—यही बात है पूज्यपाद नानाजी।

(ब) सिंध, तक्षशिला और कुनिंद-विजय

अनंतर सर्व-सम्मति से सेना सन्नद्ध हुई, और यथाकाल सिंध पर आक्रमण प्रारंभ हुआ। पतिस्थान तथा लाट और सौराष्ट्र पर शत्रुओं के अचानक वार रोकने को नियमानुसार उचित संख्या में सेनाएँ छोड़ दी गई थीं। तीनो शक्तियों को मिलाकर प्रायः दो

लाख सेना सिंध में आक्रमण करने लगी, और वहाँ के छोटे-छोटे राज्य परम शीघ्रता-पूर्वक अधिकार में आने लगे। तद्देशीय सारी शक-शाहियों में हाहाकार मच गया। आक्रमण ऐसी शीघ्रता से हुए, और विविध शाहियों पर वार इस युक्ति से किए गए कि एक-एक मास में बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस शाहियाँ निर्मूल होने लगीं। उनमें से चार-चार, छ-छ मिल-मिलकर भी लड़ीं, किंतु प्रचंड आक्रमण के आगे उनकी दाल न गली। जो शाहानुशाही सिंध में थी, वह भी सबल न थी। तो भी उसने अपना सांधिविग्रहिक भेजकर तक्षशिला-वालों से सहायता पाने की प्रार्थना की। इधर से अमोघभूति के भी लोग पहुँचे, और प्राचीन कौनिंद मित्रता के नाते उसकी तटस्थता स्थापित रखने का प्रयत्न करते रहे। तो भी तक्षशिलावालों पर सहठ ऐसा भाव अंकित किया गया कि सिंधी बल ध्वस्त होने से भारतीय शक-शक्तियों की जड़ कट जाने को थी। सिंधवालों ने माथुर शक्ति से भी प्रार्थना की, किंतु अधिक दूरी के कारण वहाँ से कोई संतोष-जनक सहायता न मिल सकी, केवल मित्र-भाव-गर्भित, सहृदयता-पूर्ण कथन-मात्र हुए, जिनसे किसी को कोई संतोष न हुआ। इधर तक्षशिला से शाहानुशाही का अच्छा व्यवहार था, और सिंधी पराजय से उस राज्य ने अपना प्रभाव-पतन निकट समझा। इन कारणों से अमोघभूति के मित्रों का यत्न सफल न हुआ, तथा तक्षशिला से पचास सहस्र सेना सिंधी सहायता को आई।

फिर भी इतनी सेना से भी शाहानुशाही कोई विशेष प्रभाव प्रदर्शित न कर सकी, और परम शीघ्रता-पूर्वक पहले ही की भाँति प्रति-मास दस-दस, बीस-बीस शाहियाँ निर्मूल होती रहीं। फल यह हुआ कि प्रायः छ मास में पूरे सिंध-प्रांत पर मालवों का अधिकार हो गया, तथा उनकी सम्मिलित विजयिनी सेना निर्बल तक्षशिला-राज्य के भी दबाने को अग्रसर हुई। वहाँ सांधिविग्रहिक ने आकर

विक्रम तथा सोमदेव से विद्यापीठ-संबंधी इनकी शिक्षा के नाते बहुत कुछ कथनोपकथन किए, किंतु तक्षशिला द्वारा अनावश्यक सिंधी सहायता के कारण इन दोनो के चित्त कृपा-युक्त न हो सके। जिस काल पश्चिम से विक्रमीय तथा गुर्जरसेना ने तक्षशिला पर प्रचंड चढ़ाई की, उसी समय अमोघभूति के प्रयत्नों से प्रायः पचास सहस्र कौनिंद योद्धा पूर्व की ओर से आक्रमणकारी हुए। तक्षशिलावाली शक-शक्ति इन दोनो प्रहारों के सँभालने में समर्थ न हो सकी, तथा प्रायः तीन मास के युद्ध से मिलित सेनाओं का उस राज्य पर भी अधिकार हो गया। सिंध और तक्षशिला के शकों को यह अधिकार दिया गया कि वे या तो पूरे भारतीय हो, हिंदू अथवा बौद्ध बनकर यहाँ की संस्कृति के अंग बनें, अथवा अपने देश शक-स्थान को चले जायँ। बहुत थोड़े लोग बाहर गए, तथा शेष शक-वृंद पूर्ण भारतीय बनकर प्रजा के रूप में अपने-अपने स्थानों में बना रहा। राजा विक्रमादित्य को सिंध तथा तक्षशिला के भारी कोष प्राप्त हुए, तथा उनकी सहायता से बाहर आए हुए कौनिंदों को मिलाकर एक बृहत्तर सेना प्रस्तुत की गई।

तक्षशिला के पतन से मथुरा में भी भारी खलभली पड़ी, तथा कुनिंद-राज्य में रक्षक-दल प्रायः पचास सहस्र से एक लक्ष कर दिया गया। फिर भी विक्रमीय आक्रमणकारी सम्मिलित दल तीन लक्ष हो चुका था, और इसने परम शीघ्रता-पूर्वक कुनिंद पर भी धावा बोल दिया। जब तक बाहर से कोई विशेष सहायता आए, तब तक कौनिंद क्षत्रिय प्रजा ने भी शकों के प्रतिकूल यत्र-तत्र राज-विद्रोह के सबल झंडे उठाए। एक लक्ष शक-सेना तीन लक्ष आक्रमणकारियों तथा प्रजा के भी प्रबल विद्रोह से विशेष पुरुषार्थ न दिखला सकी। अति शीघ्र प्रायः साठ सहस्र माथुर सेना कट गई, और शेष दल को कादरता-पूर्वक आत्मसमर्पण करना पड़ा। इस

प्रकार राजा अमोघभूति का खोया हुआ देश आठ ही दस मास के भीतर फिर से मिल गया, और कुनिंद में हर्षोत्सव की बधाइयाँ बजने लगीं। जितनी संपत्ति कुनिंद-पति ने पराजय के समय यत्र-तत्र वनों में गाड़ रक्खी थी, वह खोदवाकर फिर से राजधानी में लाई गई। अनंतर प्रचुर संख्या में धन-धान्य, रथ-गजादि दायज के रूप में प्रेम-पूर्वक मथुरा भेजे गए, जिन्हें पाकर षोडास हर्षित भी हुए, क्योंकि सम्राज्ञी चित्रादेवी को प्रसन्न रखने के विचार से वह कुनिंद पर अपना स्थायी अधिकार स्थापित रखने के बहुत उत्सुक न थे। मालव-पति ने अपने नवविजित सिंध तथा तक्षशिला-प्रांतों में प्रजा-पालन की वही कृपा-पूर्ण नीति चलाई, जिसके कारण इनका सारा देश राजभक्त तथा सुखी रहता था।

(स) प्रजा-पालन

अब राजा अमोघभूति ने पूरा कौनिंद बल जोड़कर फिर से अपना गणसंघ स्थापित किया, तथा कई मास के कठोर शक-शासन से जनता जो दुखी तथा न्यूनाधिक संपत्ति-हीन अथवा ऋणी हो गई थी, उसे समृद्धिशालिनी बनाने के विचार से विक्रम, ताम्रलिसर्षि, सोमदेव तथा वीरवर से मंत्रणा करके राजा अमोघभूति ने तीन वर्षों के लिये प्रत्येक राजकर स्थगित कर दिया। यह भी राजाज्ञा निकली कि इस काल के अनंतर भी राजा की ओर से कर ग्रहण तभी होगा, जब जनता स्वयं सहठ प्रार्थना करेगी।

इस प्रकार तीन वर्ष कर-मुक्त रहने से जनता पूर्णतया ऋण-मुक्त तथा संपन्न हो जायगी, ऐसा निश्चय हुआ। अनंतर राजा अमोघ-भूति, सारे मंत्रिमंडल तथा जनता के मुख्यातिमुख्य प्रतिनिधियों से प्रेम-पूर्वक मिलकर तीनो राजा अपने-अपने देशों के लिये प्रस्थित हुए। वीरवर विक्रम के साथ रहे। कुनिंद की उपर्युक्त राजसभा

में कौनिंद मंत्रिमंडल की प्रार्थना पर यह निश्चित हुआ था कि विक्रम को "कृतराष्ट्र" तथा "शकवधू वैधव्य दीक्षागुरु" की भी उपाधियाँ दी जायँ। उपर्युक्त सिंध, तक्षशिला तथा कुनिंद के युद्धों में प्रायः चार लक्ष युद्धाकांक्षी शकों का संहार हुआ था, यद्यपि आक्रमणकारियों की हताहत संख्या पचास सहस्र के ऊपर न जा सकी थी। सबका यह निर्णय सुनकर विक्रम ने प्रार्थना की थी कि इन उपाधियों का प्रचार पतिस्थान में मालवों के स्वीकार के पीछे होना योग्य था। यह विचार भी सबों को रुचिकर लगा था। अनंतर सब राजागण ससेन अपने-अपने देशों में कुशल-पूर्वक जा पहुँचे।

जिस समय पतिस्थान से विजयिनी सेना प्रस्थान करने को थी, उसी दिन राजमहिषी रूपरेखा ने विक्रम के पुत्र-रत्न को जन्म दिया था। उसका शुभ नाम धर्मादित्य रक्खा गया था। जिस दिन विजय-प्राप्ति के पीछे आपका शुभागमन पतिस्थान में हुआ, उसी दिन राजमहिषी हर्नेंदुदेवी द्वारा भी एक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ, जिसका नाम विक्रम-चरित्र रक्खा गया। दोनो पुत्रोत्पत्तियों पर बड़ा हर्ष मनाया गया। पतिस्थान में मालव-प्रतिनिधियों की एक बृहत्सभा एकत्र की गई, जिसमें उपर्युक्त दोनो उपाधियाँ प्रसन्नता-पूर्वक सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुई। मालवों की यह भी सम्मति हुई कि अधिकार-क्षेत्र के बहुत बढ़ जाने से अब इस संघ की उपाधि राज्य के स्थान पर साम्राज्य की मानी जाय। यह भी सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ। अनंतर अवंति-आकर के संबंध में विचार किया गया कि संभवतः शक-शक्ति दक्षिणी जयपुर के बदले में ये दोनो प्रांत देने को सन्नद्ध हो जाय, क्योंकि वह प्रांत उस राज्य के निकट था। इस पर उस ओर-वाले मालव-प्रतिनिधियों ने घोर विरोध किया। उनकी सम्मति हुई कि युद्ध में एक-एक मालव वीर कट मरने को प्रस्तुत था, किंतु राज्य-परिवर्तन को नहीं। सबकी सम्मति यही हुई कि अपने तीनो

प्रांत सुदृढ़ रक्खे जायँ, तथा अवंति-आकर के वापस लेने का प्रबंध आगे-पीछे उचित अवसर पर किया जाय। सभी प्रतिनिधियों ने विक्रमीय समर-कौशल की भूरि-भूरि प्रशंसा करके भारी विजयों पर पूर्ण प्रसन्नता के साथ हर्षोल्लास प्रकट किया। अनंतर आपने यह सम्मति दृढ़ की कि सारी जनता को ऋण-मुक्त तथा संपन्न करने के विचार से आप तीन वर्ष-पर्यंत उसे कर-मुक्त करना चाहते थे। यह बतलाया गया कि विजयों से इतना कोष प्राप्त हो चुका था कि नियमित व्यय के साथ चलाने से उसी धन द्वारा सारा लोकतंत्र राजव्यय-सहित प्रसन्नता-पूर्वक चल सकता था। यह भी कहा गया कि तीन वर्षों के पीछे भी राजकर तभी लिया जाना था, जब जनता संपन्न होकर इस विषय पर स्वयं प्रार्थना करे। प्रतिनिधियों ने जनता पर इतनी भारी कृपा के लिये धन्यवाद तो भूरि-भूरि दिए, किंतु इतना खेद भी प्रकट किया कि वैयक्तिक रूप में राजा को अनुचित आर्थिक संकीर्णता का कष्ट अवश्यंभावी था। विक्रम ने उन सबको भली भाँति समझाया कि भविष्य में भी उन्हें स्वयं कोई कष्ट असंभव था, क्योंकि विजय में कोष भारी प्राप्त हुआ था, जो गुर्जर तथा मालव वीरों में उदारता-पूर्वक वितरित होने पर भी बृहदाकार और मालवों को चिर काल-पर्यंत आर्थिक कष्ट से बचा सकने के योग्य था। अनंतर राजा को भूरि-भूरि धन्यवाद देकर यह राजसभा भंग हुई। कुलिंद और मालव-संघों में ऐसी कृपा-पूर्ण आज्ञाओं के प्रचारित होने से लाट तथा उत्तरी गुजरात ने भी यही घोषणा अपने-अपने राज्यों में निकाल दी। इन चारों राज्यों की सारी जनता मारे हर्ष के फूली न समाती थी, और पड़ोसी राज्योंवाले लोग इनके सौभाग्य तथा अपने दुर्भाग्य पर नित्य ही विचार किया करते थे। वे सब यही चाहते थे कि किसी भाँति हमारा देश भी मालव-राज्य में सम्मिलित हो। सौराष्ट्र, सिंध और तक्षशिला के जो शक लोग थे, वे भी

विक्रमीय उदारता से अपने भाग्य की सराहना करने तथा सच्चे चित्त से राजभक्त होने लगे।

(द) शकों से भी संधि

अनंतर विक्रम ने अपने मित्र वीरवर को उचित शिक्षाएँ देकर प्रेम-पूर्वक कुर्निद-पति अमोघभूति की सेवा में भेजा, जहाँ यथा-योग्य परामर्श करके आप शक-राजधानी मथुरा में उपस्थित हुए। इनकी एकाएकी निष्कारण उपस्थिति से कई शक प्रधान-पुरुषों को आश्चर्य-सा हुआ, किंतु आप माथुर सांधिविग्रहिक से वार्तालाप करके महाक्षत्रप षोडास से मिले। उस अंतरंग दरबार में महाक्षत्रप ने सिवा महामंत्री तथा सांधिविग्रहिक के और किसी मंत्री को भी न सम्मिलित किया। अनंतर यों वार्तालाप होने लगा—

वीरवर—हमारे दोनो स्वामियों, मालव विक्रमादित्य अथच कौर्निद अमोघभूति, ने देव की सेवा में बहुत-बहुत प्रणाम एवं आशीर्वाद निवेदित किए हैं, तथा यह पुछवाया है कि देव का चित्त प्रसन्न तो है, तथा सातो राज्यांग मंगल-पूर्वक सुदृढ़ हैं न ?

षोडास—आर्य ! मैं इन मेहरबानियों के लिये हज़ार-हज़ार शुक्रिया अदा करता हूँ, और ज़ाहिर करता हूँ कि उनसे मेरी ख़ुशनूदी मिज़ाज का हाल अर्ज़ करके मेरी जानिब से बहुत-बहुत मिज़ाज-पुर्सी कीजिएगा। क्या यह भी फ़रमाने की तकलीफ़ उठाइएगा कि वह दोनो अज़ीमुश्शान गणसंघ इस क़दर इज़्ज़तबख़्शी फ़र्माकर मेरे लिये क्या अहकाम सादिर फ़र्माते हैं ? हत्तलइम्कान हुक्म बजा लाने में दरेग़ न होगा। जहाँ तक मेरा ख़याल जाता है, आजकल कोई शाही अम्र तो पेश है नहीं।

वीरवर—देव ! मैं उन दोनो गणसंघों की ओर से इन चरणों में प्रेषित नहीं किया गया हूँ, न महाक्षत्रपजी की सेवा में उपस्थित

हुआ हूँ। मुझे तो देव विक्रमादित्य और देव अमोघभूति ने वैयक्तिक रूप में देव षोडास के चरणों में प्रेषित किया है।

षोडास—तब तो क़ासिद न होकर आप हमारे दोस्त हैं। आइए, एक बार मोहब्बत से गले मिलकर पीछे गुफ़्तगू शुरू करें।

वीरवर—यद्यपि यह कृपा मेरी पदवी से बहुत बढ़कर है, तथापि देव की आज्ञा अपेल है। (दोनो उठकर प्रेम-पूर्वक गले मिलते हैं।)

षोडास—अच्छा, दोस्तमन ! अब फ़र्माइए, मेरे लिये क्या संदेश लाए हैं ?

वीरवर—हमारे दोनो स्वामी यह सुनकर अत्यंत प्रसन्न हुए हैं कि देव को मलिका चित्रादेवी से युवराज की प्राप्ति इन्हीं दिनों हुई है। इसके लिये हृदय से बधाई दी गई है ! हमारे यहाँ भारतीय नियम तो ऐसा है कि कन्या का प्रथम संतान मातामह के यहाँ उत्पन्न हो, जो बात कई प्रकट कारणों से इस बार संपन्न न हो सकी। अब देव अमोघभूतिजी की बिनती है कि देव स्वयं हमारी राजकुमारी तथा दौहित्र को लेकर एक बार कुनिंद पधारें। उधर देव विक्रम की बिनती है कि स्वयं वह तथा राजमहिषी हर्नेंदुदेवी चचीजी देवी तथा उनके नवजात शिशु के देखने को बहुत उत्सुक हैं, अथच देव के भी दर्शन चाहती हैं। यदि राजकीय कार्यों से किसी प्रकार समय निकल सके, तो देव कुनिंद तथा पतिस्थान पधारने का कष्ट अवश्य उठाएँ, ऐसी उन दोनो की नतमूर्धा होकर प्रार्थना है। यह निमंत्रण वैयक्तिक अथच राजकार्यों से पूर्णतया असंबद्ध है। इन्हीं प्रार्थनाओं को लेकर मैं चरणों में प्रेषित हुआ हूँ।

षोडास—दोस्तमन ! मैंने अब तक हिंद में दोस्ती का कोई ऐसा न्योता नहीं पाया था, न यहाँ ऐसी रिश्तेदारियाँ हुई थीं। आज इस नए रिश्ते के खुलने से निहायत महज़ूज़ हो रहा हूँ। दुख़्तर अज़ीज़ अज़ जान हर्नेंदुदेवी के मिलने को मैं ख़ुद निहायत

ख़्वाहाँ व जोयाँ हूँ। इत्तलाइन्फ़ाक बहुत जल्द आपके हमराह चलूँगा। ताहम वज़ीरों से तनहाई में मिलकर शाही कामों का इंतिज़ाम करना होगा, और यह भी दरियाफ़्त करने की हाजत होगी कि क्या महीने-दो महीनों के लिये मुझे उन कामों से फ़ुरसत मिल सकेगी? मलिका साहबा इन बातों से किस क़दर महज़ूज़ होंगी, वह ज़ाहिर ही है।

इस प्रकार बात होने के पीछे प्रणामादि करके वीरवर अपने डेरे पर चले गए, तथा महाक्षत्रप ने इस अंतरंग सभा में दंडपाशाधिकरण तथा महादंडपाशिक को भी सम्मिलित करके यों बात की—

षोडास—मेरे अज़ीज़ वज़ारा! कुनिंद और पतिस्थान से अपनी सियासती नाचाकी ज़रूरत से शायद समझी जा सकती है, लेकिन रिश्तेदारी भी दोनो से निहायत क़ुर्ब की है। राजा अमोघभूति को मलिका साहबा की ख़ातरिन् मैं सारा कुनिंद वापस कर रहा था, मगर उस फ़रिश्ता-ख़स्लत ने ज़रिए मेहरबानी मुल्क लेने से इनकार करके ज़ोर-बाज़ू से वापस ले लिया। मैंने भी उसे रखने की ज़्यादा कोशिश न की। इधर तो मुल्क छीना, मगर उसी वक़्त मलिका की वजह से अज़ीमुश्शान जहेज़ भी भेजा। इधर मैंने मालवों से सख़्त दुश्मनी होते हुए बेटी हन के लिये उसकी सारी जायदाद भेज दी, व नीज़ काफ़ी मिक़्दार में हैसियत शाही के मुताबिक़ जहेज़ भी दिया। जुम्ला हालात पर ग़ौर करके मैंने बिल मंज़ूरी मेरे गो यह शादी हुई थी, ताहम उस पर नारज़ामंदी न की। उन लोगों ने सिंध और तक्षशिला तो फ़तेह कर लिए व नीज़ अपना कुनिंद भी वापस ले लिया, मगर सल्तनत हाज़ा की एक अंगुल ज़मीन पर दस्तंदाज़ी न की, न अवंति-आकर पर ही कोई कोशिश की, हालाँकि ये दोनो सूबेजात हैं उन्हीं के, और उज्जयिनी निकल जाने से मालवों की काफ़ी बदनामी भी है। ऐसी हालत

से ज़ाहिर है कि वह शाहान हमारी शक क़ौम के ज़रिए छीने हुए अपने दीगर ममालिक तो वापस ले रहे हैं, मगर साथ-ही-साथ रिश्तेदारी का भी पूरा लिहाज़ रख रहे हैं। अब मुझे बज़ाते ख़ुद कुनिंद व पतिस्थान की मय मलिका व शीरख़ोर वलीअहेद के मुहब्बताना याद करते हैं। इसके बाबत क्या राय है? क्या कोई ख़तरे का भी शक मुमकिन है या महज़ दोस्ती है?

महामंत्री—वीरवर को मैं एक ज़माने से जानता हूँ। निहायत नेक, शरीफ़ व क़ौल-फ़ेल का सच्चा नौजवान है। उसकी ज़बान पत्थर की लकीर है। कुनिंद व मालव शाहान भी आला रुतबे व चाल-चलन के शख़्स हैं। वीरवर की जितनी बातें हुज़ूर पुरनूर से हुईं, उन सबसे सदाक़त टपकती थी। मैं तो इसमें कोई धोखा नहीं देखता, बल्कि इस बात से इन तीनों सल्तनतों में देरपा दोस्ती का भी आग़ाज़ समझता हूँ। मामला रियासती न होकर है ज़ाती ज़रूर, मगर ज़ात ही से रियासतें भी चलती हैं। कुनिंदों व मालवों से कौन-सी पुरानी मज़बूत दोस्ती थी? महज़ वीरवर की विक्रम से जो ज़ाती यारी हुई, उसी से अमोघभूति से भी उनकी यगानगियत बढ़ गई, जो वक़्त ज़रूरत के किस क़दर काम आई? इस मौक़े पर बंदे का मिज़ाज शक पर नहीं जाता।

सांधिविग्रहिक—बात तो ज़ाती है, मगर हुज़ूर की रवानगी तनहाई से तो होगी नहीं, बहरहाल ज़ाती वज़ीर व नीज़ इस अहक़रा को हमरकाब होना होगा ही। मुमकिन है, इसी सिलसिले में कोई देरपा सुलह हो जाय। सौराष्ट्र, सिंध और तक्षशिला की शक सल्तनतें ख़त्म हो ही चुकी हैं। अब अपनी ही बाक़ी है। दुश्मनों की ताक़त काफ़ी बढ़ चुकी है। अगर सख़्ती के साथ मामले अपनी जानिब से चलाए जाएँ व नीज़ मुक़ाबिला हो जाय, तो दुश्वारी का सामना ज़रूर आए। मैं नाउम्मीद नहीं हूँ, मगर बिला वजह

दुश्मनी बढ़ाने से फ़ायदा ही क्या ? ज़माने की रंगत देखते हुए अब अपने को भी हिंदोस्तानी ताक़तों से मिलकर चलने की ज़रूरत है। जब वे दोनो अपने जानी दुश्मन होकर भी मोहब्बताना बर्ताव चाहते हैं, और रिश्तों को देखते हुए इसमें कोई तअज्जुब भी नहीं, तब अपनी ही तरफ़ से क्यों पीछे हटना हो ? जब कुनिंद की शहज़ादी ही अपनी मलिका हैं, तब उधर से धोखा ग़ैरमुमकिन है। क्या दामाद या नवासे का बुरा सोचेंगे ? रहा विक्रम का मामला, वह भी हैं तो अपने दामाद ही। अपनी ही बेटी क्या अपने साथ बुराई करेगी ? शक को मेरी राय नाक़िस में गुंजाइश नहीं है।

दंडपाशाधिकरण—कुनिंद से तो मुझे कोई ख़तरा नहीं, मगर पतिंत्थान के दो सूबेज़ात लिए बैठे हैं। बिलकुल भोलेपन से दूसरे नतायज भी ग़ैरमुमकिन नहीं। बेटी तो चचा के ख़िलाफ़ न जायगी, मगर उसकी वहाँ कोई क़वीक़ूअत ही क्या है ?

महादंडपाशिक—मुझे तो ऐसा दिखता है कि विक्रम एक निहायत दर्जे आला तबक़े व मिज़ाज का रईस है। वह अपने दोस्त अमोघभूति के दामाद से धोखा कभी नहीं कर सकता, न अपनी अज़ीज़ अज़ जान रानी को नाशाद करेगा। मेरी भी राय महामंत्री से मिलती है। मलिका भी इस बात से बहुत ख़ुश होंगी।

षोडास—तब फिर कसरत राय जाने ही की तरफ़ है, और मैं भी यही सोचता हूँ। आर्य सांधिविग्रहिक मेरे साथ जायँगे ही। बाक़ी आप तीनो वज़रा चौथे अक्षपटलाधिकृत को मिलाकर मेरी अदम मौजूदगी में सल्तनत चलाइएगा। यहाँ हिंदोस्तान का यह भी तरीक़ा है कि अपने नवासों की पैदाइश पर नाना की जानिब से नज़्र में सामान दिया जाता है। उसका भी इंतिज़ाम कर लिया जाय।

इस प्रकार निश्चय करके महाक्षत्रप षोडास वीरवरजी को साथ

लेकर समुचित संख्या में अनुयायियों तथा एक सहस्र सेना के साथ कुलिंद पधारे। वहाँ इनका, राजमहिषी का तथा नवजात शिशु का उचित से अधिक मान हुआ, और भेंटें भी समयानुसार दी गईं। अपने श्वशुर से प्रेम-पूर्वक मिलकर आप अत्यंत प्रसन्न हुए। उधर चित्रादेवी को जो अकथनीय आनंद हुआ, वह वर्णनातीत है। अनंतर चार-छ दिनों के पीछे आप पतिःथान के लिये प्रस्थित हुए। इस बार राजा अमोघभूति भी साथ गए। जब ये सब लोग वहाँ पहुँचे, तब आनंद-सागर-सा हिलोरें लेने लगा। राजमहिषी इनेंदु-देवी अपने चाचा, काकी तथा नवजात भाई को देखकर अत्यंत प्रसन्न हुईं। महाक्षत्रप तथा चित्रादेवी ने दौहित्रोत्पत्ति के कारण अपने पदानुसार उन्हें भेंटें भी दीं। महाक्षत्रप के अनुयायियों का भी यथायोग्य मान कुलिंद तथा पतिःथान, दोनो स्थानों में हुआ। कुछ काल परम प्रसन्नता-पूर्वक यहाँ बिताकर तथा मृगयादि का पूरा स्वाद लेकर जब महाक्षत्रप की इच्छा स्वदेश पलटने की हुई, तब आपने अपने सांधिविग्रहिक तथा मालव-महामंत्री, सांधिविग्रहिक, वीरवर, राजा अमोघभूति और विक्रम की एक अंतरंग सभा जोड़कर भविष्य के विषय में भी यों बात की—

षोडास—विक्रमजी! आप और राजा साहब से इस मर्तबा नज़दीक से मिलकर मैं निहायत महज़ूज़ हुआ हूँ। अब तक हम शकों के आप शाहान से दूर के ताल्लुक़ात रहे। मेरी और बेटी इनेंदु की ज़ातों से रिश्तेदारी के भी मामले खुले, जिससे मैं इन दोनो शाहियों को अब अपने से इलाहिदा नहीं समझता। ऐसी ख़ुशी हासिल हो रही है, गोया तीनो शाहियाँ एक हों।

अमोघभूति—इसमें क्या संदेह रह गया है? आयुष्मान्! अब भी हम लोग यदि कोई दुजागी करें, तो ऐसा ही होगा मानो हाथ आँख को अपने से पृथक् समझे।

विक्रम—काकाजी ! मैं तो आपको पितृतुल्य पूज्य चिरकाल से समझता आया हूँ। जब स्वयं मेरा पुत्र आपका मानो दौहित्र ही है, तब भेद क्या रह सकता है ? अब किसी प्रकार के संदेह की आवश्यकता नहीं।

षोडास—इन्हीं वजूहात से मुझे अफ़सोस होता है कि आपके जो दो सूबेज़ात मैं दाबे बैठा हूँ, वह हर्कत हालाते मौजूदा के लिहाज़ से नाज़ेबा है।

विक्रम—काकाजी ! वे प्रांत आपने युद्ध करके लिए थे। आपकी कमाई हुई वस्तु के लिये मैं लालच नहीं कर सकता। जब हम आप एक हो चुके, तब प्रांत आपके पास रहें, तो मेरे हैं, और मेरे पास रहें, तो देव के हैं। अब इस मामले में मुझे कोई दुःख शेष नहीं। इस निकट के संपर्क में स्वार्थ-परता का भाव ठीक नहीं। एक बात अवश्य रह गई है कि जो मालव-जनता उन प्रांतों में है, उसे यहाँ आने-जाने तथा यहाँवाली को उधर आने-जाने में पूर्ण स्वच्छंदता होने से राजाओं का प्रेम जनता में भी फैल जायगा। वहाँ की प्रजा युद्धार्थ हमारी सहायता तक कर सके तथा यहाँवाली आपकी। ऐसा ही प्रबंध योग्य है।

पोडास—इसमें क्या हर्ज है ?

विक्रम- एक बात कुछ बड़ी है कि मैंने अपनी पूरी जनता को तीन वर्षों के निमित्त कर-मुक्त कर रक्खा है। उन प्रांतोंवाली अब सोचती है कि वे यदि मालव-राज्य में होते, तो बहुत अच्छे रहते। इस विषय में प्रार्थना है कि आकर-अवंति के विषय में भी यही आज्ञा हो जाय, और इससे जो हानि हो, वह मुझसे पूरी करा ली जाय।

पोडास—जब पूरे सौराष्ट्र, सिंध, तक्षशिला, मालव-राज्य, लाट, शुमाली गुजरात और कुनिंद में आप साहबान ने ऐसी उम्दा अज़्मी का हुक्म दे रक्खा है, तो क्या मैं दो सूबेज़ात में भी न दे

सकूँगा? आपसे उसका हर्जा लेना बहुत मकरूह खुदग़रज़ी होगी। (शक सांधिविग्रहिक से) क्यों आर्य! ये दोनो सूबेज़ात अपनी मावकी रियासत से बहुत दूर हैं, और हमेशा कहा जा सकता है कि तीनो मालव-प्रांतों के इनके पास होने से वहाँ की वजह से इनमें भी मजबूरन् ऐसा हुक्म देना पड़ा। आपकी क्या राय है?

शक सांधिविग्रहिक—यही बात समझ पड़ती है, खोदावंद! जब यहाँ के तीनो सूबेज़ात में भारी सख़ावत चल रही है, तब अपने सूबों में ऐसा न करने से रियाया में अपनी बदनामी व खुदग़रज़ी की भी सूरत पेश आती है। मैं समझता हूँ, हुज़ूर का ख़याल हर हालत में क़ाबिल तारीफ़ है।

षोडास—तब फिर, बेटाजी! मैं भी इन दोनो सूबेज़ात में यही हुक्म जारी किए देता हूँ। और तो कुछ बाक़ी नहीं है?

विक्रम—मुझे और कोई बिनती नहीं करनी है।

षोडास—(हर्नेदुदेवी को बुलवाकर) बेटी! अब मैं मथुरा के लिये रवानगी के इरादे में हूँ। अगर तकलीफ़ न हो, तो दो-चार माह के लिये उधर की भी सैर एक बार फिर से कर न आओ। क़रीब डेढ़ साल से इधर ही हो।

हर्नेदुदेवी—चचाजान! यह तो मैं खुद अर्ज़ करनेवाली थी। (विक्रम से) क्या दो-चार माह को उधर जाने की इजाज़त अता हो सकती है?

विक्रम—इसमें क्या हानि है? जाना तो मुझे भी योग्य था, किंतु इन दिनों कार्य-भार विशेष है। पलटते समय आपको वहाँ जाकर लिवा लाऊँगा।

षोडास—यह बहुत ही ठीक है।

अनंतर हर्नेदुदेवी को साथ लेकर महाक्षत्रप षोडास प्रेम-पूर्वक मिल-भेंटकर सवर्ग मथुरा को प्रस्थित हो गए।

तेरहवाँ परिच्छेद

सिंधुक से संधि तथा प्रजा-संरक्षण

(अ) शातवाहन सिंधुक से संधि

माथुर शक-शक्ति से पूर्ण मैत्री स्थापित हो जाने से विक्रम को किसी प्रकार की कोई चिंता शेष न रही। अतएव आपने मित्र आंध्रपति सिंधुक से समाचार कहला भेजा कि उनके प्रेम-पूर्वक दर्शन शीघ्र चाहते थे। यह सुनकर उन्होंने अपने महामंत्री आर्य लूतवर्णा को पतिस्थान भेजकर इस प्रेम-पूर्ण मिलन से पूरी प्रसन्नता प्रकट की। एक अंतरंग सभा में विक्रम, वीरवर और लूतवर्णा में वार्तालाप होने लगा—

विक्रम—आर्य लूतवर्णाजी! आपके यहाँ पधारने से मैं बहुत सम्मानित हुआ हूँ। इस बात का मुझे भारी खेद है कि परसाल कार्य-भाराधिक्य से मैं श्रीकाकुलम न जा सका। अब स्वस्थ हूँ। यदि मेरे मित्र को कोई कष्ट न हो, तो चलने को सहर्ष प्रस्तुत हूँ।

लूतवर्णा—आपने तो जादू की-सी छड़ी फेरकर प्रायः एक ही वर्ष में सारी शक-शक्ति लुप्तप्राय कर दी। राज्य भी इतना बढ़ा लिया है, जितना मालवों का कभी न था। श्रीमान् की तथा अपनी ओर से इन विजयों पर मैं आपको शतशः बधाई देता हूँ, और ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह देव को शत वर्ष-पर्यंत इसी भाँति राज्य-वर्धक बनाए रहें।

विक्रम—बड़ी ही कृपा हुई आर्य!

लूतवर्ण—श्रीमान् ने देव की अवाई का समाचार पाकर मेरे द्वारा यह बिनती कराई है कि मौखिक बधाई अर्पित करने तथा प्राचीन मैत्री को पुन: जाग्रत् करने का सुख लूटने को वह स्वयं पतित्थान पधारना चाहते हैं। आप पीछे से सुअवसर पर कृपा कर सकते हैं।

वीरवर—आज्ञा तो, आर्य! आपकी बहुत ही योग्य है, किंतु प्रथम प्रार्थना हमीं लोगों की है। इस बार वहीं चलकर दर्शन कर लेंगे। फिर यथावकाश देव के यहाँ पधारने से पतित्थान का अकथनीय सम्मान होगा ही। क्यों न देव?

विक्रम—यही बात है, मित्रवर!

लूतवर्ण—यह भी उचित ही है। अच्छा हुआ कि अपने मालव-बल को देदीप्यमान करने के पीछे आपको अतिशीघ्र पधारने का समय मिल रहा है। मालव-शक्ति ऐसी शीघ्रता से इतनी प्रबल उन्नति कर सकेगी, ऐसी आशा स्वप्न में भी नहीं की जा सकती थी।

विक्रम—केवल मालवों ने इतनी उन्नति की भी नहीं है। वह तो सौराष्ट्रीय बल-हीनता, लाट-मोचन तथा नानाजी और लाट की कृपा से भारी सेना एकत्र हो गई, जिससे एवं कौनिंद तत्परता से काम बन गया। जब परसाल आर्य का आना हुआ था, तब दशा बहुत संदिग्ध थी। ईश्वर ने सभी भाँति कुशल कर दी।

लूतवर्ण—यह देव की नम्रता-मात्र है कि ऐसे कथन हो रहे हैं। सौराष्ट्र और लाट आपने बड़े कौशल और शौर्य से हस्तगत किए। खड्ग-युद्ध में भूमक को पराजित करना किसी अन्य का काम न था। जीत-जातकर केवल शौर्य-गर्भित युद्धाह्वान से ऐसा संशयाकीर्ण द्वंद्व-युद्ध उठा लेना आप ही का काम था। जितने काम आपने किए, सब अनुपमेय शौर्य-पूर्ण थे। इतनी सहायता पाकर लाट समय पर साथ खड़ा कैसे न होता, विशेषतया नवीन संबंध भी हो चुकने

पर ? उधर उत्तरी गुजरात है किसका ? देव ने सेन-संचालन ऐसे रण-कौशल से किया कि शत्रुओं से कुछ करते-धरते न बना। अब यदि श्रीकाकुलम पधारने की इच्छा हो, तो तैयारी की जाय। मैं भी साथ ही चलूँगा।

वीरवर—यह बड़ी ही कृपा हुई, आर्य !

अनंतर चलने का प्रबंध ठीक करके एक सहस्र सेना, सांधिविग्रहिक, महामंत्री तथा वीरवर को साथ लेकर राजा वीर विक्रमादित्य मंत्री लूतवर्ण को साथ लिए हुए पतिस्थान से चलकर यथासमय श्रीकाकुलम पहुँचे, जहाँ साढ़े तीन कोस आगे जाकर राजा सिंधुक ने मंत्रिमंडल तथा दो सहस्र सेना के साथ उनकी अगवानी की। दोनो मित्र परम प्रेम-पूर्वक मिले, तथा राजधानी में पहुँचकर एक ही सिंहासन पर विराजे। दस-बारह दिन-पर्यंत मालव-पति वहाँ परम प्रसन्नता-पूर्वक रहे, जिनमें मृगया, सवारी, सैर आदि के समुचित प्रबंध हुए। सम्राट् सिंधुक ने भी गत मालव-विजयों पर परम प्रसन्नता तथा सहृदयता के साथ विक्रम को बधाई दी। अनंतर दोनो राज्यों के महामंत्रियों, सांधिविग्रहिकों तथा वीरवर को साथ लेकर दोनो नरेशों में गुप्त मंत्रणा सभा-भवन में होने लगी।

सिंधुक—कहिए मित्र ! हमारे महामंत्री आर्य लूतवर्ण की आज्ञा का अपमान करके आपने इस राज्य की सेवा स्वीकार न की, इस बात का इन्हें अद्य-पर्यंत उपालंभ है। ऐसे धन-हीन एक साधारण व्यक्ति को इन बेचारों ने क्या नहीं देना चाहा, किंतु आपका चित्त ठिकाने न आया।

विक्रम—कहूँ तो क्या कहूँ ? देव ! नौ बढ़ियों का चित्त थोड़ी ही प्रभुता पाकर हाथ से बेहाथ हो जाया करता है।

लूतवर्ण—फिर प्रभुता भी क्या मिली थी ! यही न कि थोड़ी-सी युद्ध-विद्या-मात्र प्राप्त हो गई थी। उसी से पैर पृथ्वी पर न पड़ने लगे।

वीरवर—मैं भी बहुत समझाता रहा कि इतना गर्व ठीक नहीं, किंतु ऐसे लोग कब योग्य सम्मतियों को सत्कारते हैं? क्यों न मित्र ?

विक्रम—उचित ही आज्ञा हो रही है।

सिंधुक—फिर शिवि क्षत्रियों को मालवों से क्या प्रयोजन था ?

विक्रम—इसका डौल तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचंद्र गोप से यादव बनकर डाल चुके थे। मैंने कौन-सी नवीनता की ?

सिंधुक—हाँ, इस बात में तो आप उच्च कोटि में पहुँचते हैं; अस्मदादिक को ऐसे पूज्यों की पाद-वंदना करनी चाहिए। अन्य कोई उपाय ध्यान में नहीं आता।

विक्रम—अवतारी पुरुष बनने ही को तो इतनी दूर कष्ट किया है, नहीं तो इतनी दौड़-धूप की क्या आवश्यकता थी? कौन मिठाई रक्खी थी, जो दौड़ा आता ?

सिंधुक—यही बात है, मित्र! कहते ही हैं कि "जूठा खाइए मीठे को।" अच्छा, आज भी चेत जाइए; कहिए, लूतवर्णजी की सेवा अब भी स्वीकार है या नहीं ?

विक्रम—स्वीकार न करानी होती, तो इतनी दूर जाकर पकड़ क्यों लाते? क्यों न मित्रवर !

लूतवर्ण—अब कहिए, किस नियम पर मित्रता निभाइएगा? इतनी सेवा तो करनी और लेनी ही है।

वीरवर—उत्तर-पश्चिमी भारत तो इस काल अपने अधिकार में है। माथुर शक्ति से भी संबंधों के कारण मित्रता-पूर्ण संधि हो चुकी है। यह शक्ति मालव-संसर्ग में है ही। मुझे समझ पड़ता है कि कारवों का चलाया पाटिलपुत्र का साम्राज्य न चलेगा। विचार में ऐसा आता है कि शातवाहन और मालव-शक्तियाँ ही अंत में बलवती रह जायँगी। इनमें पूर्ण मैत्री का व्यवहार है भी।

माथुर राज्य-पर्यंत मालव-शक्ति का प्रभाव-क्षेत्र समझा जा सकता है। उससे पूर्व कलिंग-पर्यंत शातवाहनीय प्रभाव-क्षेत्र मान लिया जाय। कलिंग से दक्षिण-पश्चिम तथा आकर-अवंति से पूर्व-दक्षिण जो भारतीय भू-भाग है, वह अभी अपनी दोनो शक्तियों के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर समझ पड़ता है। यदि कभी उधर प्रसर की बात उठेगी, तो भविष्य में प्रेम-पूर्ण विचार हो सकता है; अभी तो आवश्यक समझ नहीं पड़ता।

शातवाहनीय सांधिविग्रहिक—बात वीरवरजी की बहुत तुर्क की बैठ रही है; फिर जैसी जिसकी सम्मति हो।

मालवीय सांधिविग्रहिक—मुझे भी यह प्रभाव-विभाजन परम प्राकृतिक दिखाई देता है।

लूतवर्ण महामंत्री—है तो ठीक-ही-ठीक।

अमर गुप्त मालवीय महामंत्री—मुझे भी उचित दिखाई दे रहा है। मुख्य बात तो प्रेम-भाव है।

सिंधुक—लूतवर्णजी तो आपको अपने यहाँ का सामरिक विभाग सौंप ही रहे थे। मैं भी बिनती करता रहा। शिवि-रूप में प्रसन्न कर न सका, अब मालव-रूप में दोनो राज्यों का सामरिक भार आपको उठाना है। इन दोनो में जो कुछ हो, सदैव प्रेम-पूर्ण सम्मति के साथ। यहाँ दो परम सुंदर सिंहासन प्रस्तुत हैं। एक नित्य व्यव-हार में आता है, द्वितीय मैंने कल आपको दिखलाया ही था। वह पतिस्थान भेजे देता हूँ। एक ऋषि का वरदान है कि जो इस पर बैठकर न्याय-वितरण करेगा, उसके हाथ से कभी अन्याय न होगा। मंत्रियों द्वारा दर्शाए हुए संधि-संबंधी नियम मुझे परम प्रसन्नता के साथ स्वीकार हैं। आशा करता हूँ, मित्रता के नाते आप उपर्युक्त सिंहासन भी स्वीकार करके मुझे बाधित करेंगे।

विक्रम—मित्रवर! हम लोगों का संधि-पत्र तो दोनो हृदयों

में अंकित है। जो कुछ हममें से एक भी कहे, वह सदैव दोनों को स्वीकार होगा। सिंहासन के विषय में जो आज्ञा हुई, वह भी मैत्री के कारण अग्राह्य कैसे हो सकती है, यद्यपि ऐसा व्यवहार मित्रों में मैं आज प्रथम बार कर रहा हूँ। एक सच्चे मित्र की आज्ञा सदैव अपेल है।

सिंधुक—बड़ी कृपा। भला, आप शिवि और दरिद्र क्यों बने थे?

विक्रम—शकों से मालवों की अनबन प्राचीन है। इसीलिये किसी गड़बड़ की आशंका मिटाने को ऐसा किया था। यदि यह ढोंग मैंने न रचा होता, तो लूतवर्णजी की कृपा से इतना बड़ा कार्य-भार मिलता कैसे? मुझे उस निर्वाचन का अब भी अभिमान है। एक सच्चे मित्र की ऐसी उच्च सम्मति किसने प्राप्त की है?

सिंधुक—तो भी मित्र! तुमने उत्तर इस योग्यता से विना किंचिन्मात्र मुस्कराए दिया कि उस काल मुझे लेश-मात्र संदेह न हुआ। आपके तर्कों की सत्यता पूर्णतया मान्य दिखाई दी।

विक्रम—क्या कोई मिथ्या बात कही थी, जो अमान्य दिखाई देती? जो बातें की थीं, और उत्तर दिए थे, वही विचार अब तक हैं। यही न कहा था कि पितृचरण की कृपा से भोजनाच्छादन का कष्ट न होगा। केवल चित्र-कला का व्यापार समय के साथ न्यूनाधिक अनावश्यक हो गया है।

सिंधुक—वह भी अनावश्यक क्यों होने लगा? तीन वर्षों के लिये प्रजा कर-मुक्त हो ही चुकी है, उसी से काम चलेगा। (सब लोग हँसते हैं।)

विक्रम—हानि ही क्या है? दरिद्र जीवन का अभ्यास ब्रह्मचर्याश्रम से कर ही रक्खा है। किसी प्रकार काम चलता जायगा।

सिंधुक—कुछ दिन सिंहासनों के मणि-मुक्ता बेचकर काम चलाना।

विक्रम—क्या इसी लिये नवीन सिंहासन दिया जा रहा है?

सिंधुक—यही तो बात है; उधर आर्य लूतवर्णजी कृपा करके सामरिक विभाग में कोई पद आपके लिये रिक्त रक्खे होंगे। और करेंगे क्या? काम तो किसी प्रकार चलाना होगा।

विक्रम—इतने दिन पुष्कर और तक्षशिला में चौकीदारी की सेवा कर चुका हूँ। उसका भी तो वेतन शेष है।

सिंधुक—क्या इन्हीं विचारों से तक्षशिला जीतने पर विद्यापीठ के लिये राजकीय सहायता दूनी कर दी थी?

वीरवर—कुछ करना ही पड़ेगा। दरिद्रता का अभ्यास भी तो पूर्ण-रूपेण किए बैठे हैं।

सिंधुक—वास्तविक बात तो यह है, भाई! आपके समान स्वार्थ-त्यागी, परोपकारी, उदार और शुद्ध मित्र मिलना कठिन है। जितने गुणगण किसी के विचार में आवें, वे सब आपमें पूर्णतया प्रस्तुत हैं। धन्य है आपकी महत्ता को। परसाल मालव-कष्ट के समय मैं सहायता करने को प्रस्तुत था, किंतु आपने अपने ही भुज-बल से सारा काम पूर्णता से अधिक बना लिया। ऐसा मित्र पाकर मैं भी धन्य हुआ।

विक्रम—यह आप क्या आज्ञा करते हैं? आपकी महत्ता सभी प्रकार से पूज्य है।

अनंतर दोनो मित्र परम प्रेम-पूर्वक संधि-पत्रों पर हस्ताक्षर करके तथा मिल-भेटकर एक दूसरे से पृथक् हुए। मालव-पति सवर्ग बिदा होकर मथुरा गए, और वहाँ शकपति महाक्षत्रप षोडास के दस-बारह दिन अतिथि रहकर परम प्रीति-पूर्वक बिदा हुए, तथा राजमहिषी इनेंदुदेवी को भी साथ लिए हुए यथासमय पतिस्थान पहुँचे।

(ब) प्रजा-संरक्षण—व्यक्तिगत न्याय

(ब १) प्रबंध

कृतराष्ट्र वीर विक्रमादित्य-जैसे विद्यापीठों में प्रत्येक रात्रि को रक्षणार्थ निकला करते थे, उसी भाँति पतिस्थान में भी इन्होंने यही क्रम चालू रक्खा। वीरवर जब राजधानी में रहते थे, तब स्वामी के रात्रिवाले परिभ्रमणों में भी बराबर साथ रहा करते थे। राजा के जो उन्नीस मालव सहपाठी मित्र थे, उनमें से तीन व्यक्ति सदैव इन्हीं के साथ रक्खे जाते थे, और शेष सोलहो सज्जन राज्य के विविध स्थानों पर आपके निजी सहायकों के रूप में नियुक्त रहते थे, जिसमें कहीं अत्याचार न होने पाए। जो तीन व्यक्ति राजधानी में रहते थे, उनमें से प्रत्येक सज्जन बारी-बारी एक-एक करके इनके रात्रीय भ्रमणों में साथ रहते थे, तथा इतर योग्य राजकार्य भी करते थे। जब विक्रम उन बाह्य स्थानों में होते थे, जहाँ ऐसे तीन-चार मित्र नियुक्त रहते थे, तब उनमें से भी एक-एक व्यक्ति रात्रीय भ्रमणों में वीरवर के अतिरिक्त साथ रहता था। जब वीरवर बाहर होते थे, तब इन मित्रों में से दो-दो व्यक्ति इसी प्रकार साथ रहा करते थे। इस भाँति दंडपाश तथा सैनिक विभागों द्वारा प्रजा-रक्षण का साधारण काम चला ही करता था, और स्वयं विक्रम भी इसमें नित्य प्रति उपयुक्तानुसार योग दिया करते थे। इनका सबसे मुख्य गुण दानशीलता थी, जिसके लिये राजकीय आर्थिक अनुमान-पत्रों में यथासाध्य अधिक-से-अधिक मात्रा में धन नियत रहता था। दान के अतिरिक्त न्याय पर भी आपकी विशेष रुचि रहा करती थी। न्याय के नियम कृपा-मिश्रित थे, किंतु नियमातिरिक्त अनुकंपा न्याय-वितरण में पूर्णतया वर्जित थी। न्यायालय तथा राजप्रासाद तक में न्याय-घंट उचित

स्थानों पर प्रस्तुत रहा करते थे, जिनके बजाने से राजकीय निजी विभाग से भी न्याय-वितरण का प्रबंध होता था। दंड दोषों के अनुसार दिया जाता था, अनुचितप्रकारेण कठिन या मृदु नहीं। सारे राज्य में तिथि-पर्वों के अतिरिक्त धूमधाम से जल-विहार, प्रदर्शनी, गान, वाद्य आदि के नियमित प्रबंध सब कहीं योग्य स्थानों पर थे, जिनसे जनता का मनोरंजन होता था। व्यापार देश-विदेशों से बढ़ाने में राज्य सदैव यत्नशील रहता था। जनता में विद्या-प्रचार बढ़ाने के विशेष प्रयत्न चालू थे। सारे साम्राज्य में यत्र-तत्र योग्य स्थानों में चिकित्सालय स्थापित किए गए थे, जिनमें धन-हीन जनता का निःशुल्क उपचार भी होता था। कूपों, तड़ागों, फल-वृक्षों, राजपथों आदि की बहुतायत की गई थी। सेतु-वार्ता के भी बहुत आधिक्य से प्रबंध हुए। राज-मार्गों तथा इतर योग्य स्थानों पर परमोत्कृष्ट कूपों, विश्रामालयों आदि का प्रबंध था। बटपारों आदि का अभाव-सा कर दिया गया था। चौर कर्म पहले से ही न्यून था, तथा इनके समय में प्रजा के सधन और सुखी होने से और भी घट गया। राजकर्मचारियों में उत्कोच घटाने के समुचित प्रबंध थे। ग्रामों आदि में उदनकूप परिषदों, महत्तरों, गोपों आदि के श्रेष्ठ कार्य होते थे। जल-मार्गों, नहरों आदि के द्वारा भी यातायात बहुतायत से चलता था। धार्मिक शिक्षणों के विनीत उपदेशकों द्वारा प्रबंध थे। वे लोग अधिक संख्या में धार्मिक परीक्षाओं में उत्तीर्ण रहते थे। किसी पर कोई भी धार्मिक मत मानने का दबाव न था। राजकार्यों तक की समीक्षा करने में जनता स्वतंत्र थी। हाटों, पण्यों (दूकानों), पण्यवीथियों आदि के उचित प्रबंध थे। तूलांबरों के साथ पाटांबरों का भी चलन था। पुष्पों का जनता में प्रचुर प्रयोग था। मिथ्या भाषण साधारण जनता में नहीं के बराबर था। तौलने आदि के

बाँट राज्य द्वारा स्थिर थे। राजकर मृदु था, जिससे जनता प्रायः ऋण-विहीन एवं संपन्न थी। साधारण अभियोगों तथा धनादि-संबंधी झगड़े उदनकूप परिषदों द्वारा ही निबटा दिए जाते थे। प्रत्येक ग्राम तक मानो एक छोटा-सा प्रजातंत्र राज्य था। ग्रामों आदि में जत्थेबंदी न होने पाती थी। भूमि-कर मृदुता के साथ महत्तरों आदि द्वारा उगाहा जाता था। राजा का आत्मीय व्यय बहुत परिमित था। बेगार इत्यादि से प्रजा मुक्त थी। लड़ाई-दंगों का कहीं नाम न सुन पड़ता था। साधारण शिक्षा के साथ कारीगरी, व्यापारादि भी सिखलाए जाते थे। कृषि-कार्य की शिक्षा में प्रधानता थी। पत्रादि इतस्ततः ले जाने को प्रजा के लिये स्वल्प व्यय द्वारा राजविभाग में व्यवस्था थी। स्थान-स्थान को जाने-आने को सर्व-साधारण के लिये लघु व्यय से प्रबंध थे। सारांश यह कि विक्रम की राज्य-प्रणाली राम-राज्य के समान प्रजा-प्रिय थी।

(व २) अभियोग

एक दिन राजकीय न्यायालय में गुप्तभावेन स्वयं विक्रम द्वारा न्याय पाने की आकांक्षा से तीन ऐसे मामले आए, जिनमें कोई अधियोगकर्ता न था, वरन् स्वयं अभियुक्त लोग विक्रमीय न्याय के अभिलाषी थे। राजा ने यह समाचार पाकर महादंडपाशिक के साथ न्याय-सभा में एकांत में विराजकर उन लोगों के कथन एक-एक करके पृथक्-पृथक् श्रवण किए।

प्रथम कथा

इसमें चार लोगों का संसर्ग था। विवरण इस प्रकार था—एक अनूढ़ा नवयौवना कृष्णपक्ष की एक रात्रि में सोलहो शृंगार सजे हुए कृष्णाभिसारिका के रूप में राजपथ पर एकाकिनी जा रही थी। मार्ग में शून्य स्थान पर उसे एक चोर मिला, जिसने

अलंकारों तथा बहुमूल्य वस्त्रों के लोभ से उसे लूटना चाहा। तरुणी ने बिना धैर्य खोए उससे यों प्रार्थना की—

तरुणी—पिताजी ! मैं इस काल अपने एकमात्र प्रेमी से मिलने नियत स्थान को जा रही हूँ। आप कृपया मेरा श्रृंगार न बिगाड़िए ; वहाँ से छ घड़ी में इसी स्थान पर पलटूँगी; तब आप जो चाहिएगा, प्रसन्नता-पूर्वक ले लीजिएगा। मुझे अणु-मात्र आपत्ति न होगी।

चोर—बाले ! यदि मुझे धोखा देकर बच निकलो, तो मैं क्या करूँगा ?

तरुणी—आप एक ब्राह्मण कन्या के वचनों पर विश्वास कर लीजिए।

चोर—अपने पिता, माता या पति को धोखा देकर ही तो उप-पति के पास जा रही हो।

तरुणी—मैं अविवाहिता हूँ तथा सिवा पिता के कोई कौटुंबिक नहीं है।

चोर—उन्हें तो धोखे में डाल आई हो।

तरुणी—छल की कौन-सी बात है ? मैं अपने शरीर की स्वामिनी हूँ, किसी की दासी नहीं। उन्हें कष्ट न हो, केवल इसी विचार से बतलाया नहीं।

कन्या की ऐसी उद्दंड तथा निर्भय बातें सुनकर चोर ने विश्वास करके उसे जाने दिया। पलटते समय उसका प्रेमी भी साथ था। दोनो ने चोर को धन्यवाद देकर इच्छानुसार उसे वस्त्रालंकार देने में सन्नद्धता प्रकट की। उपपति ने यह भी कहा—"तरुणी की जितनी हानि होगी, उससे दूनी मैं पूरी कर दूँगा।"

चोर—तुम्हारे दोनो के शुद्ध प्रेम तथा निष्कपट प्रतिज्ञा-पालन से मैं बहुत संतुष्ट हूँ। यह तो ब्राह्मण-कन्या है, तुम कौन हो ?

उपपति—मैं भी ब्राह्मण हूँ, और नियम-पूर्वक भी इस रमणी-

रत्न का पति हो सकता हूँ, किंतु इसका मूर्ख पिता कुछ अनावश्यक कारणों से मेरे प्रेम का निरादर करता है। मैं भी अविवाहित हूँ।

चोर—क्या इस कन्या से विवाह करने को सन्नद्ध हो?

उपपति—बड़ी प्रसन्नता के साथ, इसी समय।

चोर—(तरुणी से) बेटी! क्या तू इनसे विवाह करेगी?

तरुणी—अवश्य, पिताजी! वरन् सच पूछिए, तो हम दोनो का गांधर्व विवाह हो ही चुका है, केवल पिता के कारण बात गुप्त है।

चोर—तब मैं चोर न होकर इस कन्या-रत्न का पिता हो चुका, क्योंकि इसका शृंगार न बिगाड़कर मैंने एक प्रकार से इसे तुमको अर्पित कर दिया, सो भी प्रेम-पूर्वक। अब इसी समय से अपने गांधर्व विवाह को प्रकट करके तुम दोनो पति-पत्नी के रूप में रहने लगो। मेरा सदन साधारणतया अच्छा है, तथा मेरे पास तीन लक्ष पण की गुप्त संपदा है, जो मैं तुम दोनो को अर्पित करता हूँ। इसके वृद्ध पिता को समझाने का भार मुझ पर रहा।

अनंतर वे तीनो तरुणी के घर गए, तथा समझा-बुझाकर उसके पिता को भी उन्होंने सन्नद्ध किया। उसने अपनी आधी संपत्ति कन्या को देना चाही, तथा शेषार्ध राज्य को अर्पित करने का विचार किया। आज्ञा-भंग के दोष पर ध्यान देकर उसने ऐसा निश्चय किया। संपत्ति-दान के पीछे चोर के साथ वह भी काशीवास के अर्थ सन्नद्ध हुआ। उपपति के अधीन प्रायः एक लाख पण की संपत्ति थी। दंपति को चोर की पाप द्वारा अर्जित संपत्ति लेने में संकोच था, यद्यपि उसके मान के कारण वे प्रकट में ऐसा कहते न थे।

विक्रम ने सारी कथा सुनकर यह निर्णय किया कि चोर का आचरण उस काल परम श्लाघ्य होकर भी उसे अपनी संपत्ति को यथारुचि किसी को देने का अधिकार न था। पिता की संपदा चोर-

वाली से कुछ ही न्यून थी। अतएव उसकी आधी संपत्ति तो कन्या को मिली ही, शेषार्ध भी राज्य द्वारा स्वीकृत होकर अपनी ओर से कन्या को दे दी गई। चोर की पूरी संपत्ति राजकोष में ले ली गई, किंतु उसकी अभूतपूर्व उदारता के कारण राजकोष से अपनी ओर से उतनी ही संपत्ति वर-कन्या को मिली। सारी स्थिति पर विचार करके वर-कन्या का आचरण अयोग्य न समझा गया, और कन्या के पिता की मूर्खता पर खेद प्रकट किया गया। चोर के प्राचीन पाप क्षमा होकर निष्पाप रूप से उसे तपस्या की आज्ञा मिली, क्योंकि उसने पाप द्वारा अर्जित सारा धन पुण्य कार्य में लगाने का विचार किया था। चारो लोग न्याय पर पूर्ण प्रसन्नता प्रकट करते हुए धन्य-वाद दे-देकर चले गए। वृद्ध पिता ने अपनी मूर्खता मानकर राजा को धन्यवाद तथा वर-कन्या को आशीर्वाद दिया।

द्वितीय कथा

एक चोर को शूली दी जा चुकी थी; किंतु प्रबल कष्ट झेलकर भी उसका प्राण न निकलता था। एक सुंदरी वैश्य-कन्या को अपने पास से जाती देखकर उसने वार्तालाप किया, और उसे अविवाहित जानकर यों प्रार्थना की—

चोर—कन्यके! मेरे पास गुप्त रूप से प्रचुर संपत्ति है, जिसकी मात्रा पंचलक्ष पण से कम नहीं है। बिना उसका सुप्रबंध किए मेरा प्राण नहीं निकल रहा है। यदि तू मेरे साथ विवाह करने को सन्नद्ध हो, तो मैं वह सब तुझे सौंपने को प्रस्तुत हूँ।

कन्या—विवाह तो मैं कर सकती हूँ, किंतु एक धनवती बाल-विधवा पर आप आचरण-संबंधी विश्वास कैसे करेंगे?

चोर—बहुतेरी स्त्रियाँ एक ही बालक पाकर पति खो बैठती हैं। उन पर कैसे विश्वास होता है? तुम किसी विद्वान् तथा कुलीन

ब्राह्मण को, जो सदाचारी भी हो, एक या दो सहस्र पण देकर एक पुत्र उत्पन्न कर लेना, और पीछे संतानोत्पादन की इच्छा न करना। उस पुत्र को भी अपने पास न रखकर अमुक सधन सेठ के द्वारे एक सहस्र पण के साथ गुप्त भाव से छोड़ देना। उसने मेरे ऊपर बहुतेरी कृपा कर रक्खी है। संभवतः वह उसे पालेगा। यदि न पाले, तो तुम स्वयं पालना। यदि पहले बेटी हो, तो फिर से पुत्रार्थ प्रयत्न करना। संपत्ति का उपभोग जैसे रुचे, करना। हूँ मैं भी वैश्य ही।

यह सुन बालिका ने पंडित बुलवाकर तुरंत विवाह कर लिया। अनंतर एक-आध दिन में चोर का प्राण छूट गया, और कन्या को सारी संपत्ति मिल गई, तथा चोर के सदन में वह सुख-पूर्वक रहने लगी। संपत्ति द्वारा उसने उचित प्रकार से व्यापार किया, जिससे मूल-धन नष्ट होने के स्थान पर दिनों दिन न्यूनाधिक बढ़ता ही रहा। लाभ से उसने इतना ही धन अपने काम में लगाया, जितने से कोई प्रबंधक वेतनभोगी होकर मिल सकता, वरन् उससे भी कुछ कम अपने ऊपर व्यय किया। शेष लाभ का धन उस विधवा ने दो सम भागों में सुयोग्य ब्राह्मणों तथा वैश्यों में दान-रूप में वितरित कर दिया। यही क्रम उसने प्रतिवर्ष चालू रक्खा।

अपने स्वामी के इच्छानुसार उसने एक विशुद्धाचरण-युक्त विद्वान् ब्राह्मण को निमंत्रित करके दो सहस्र पण पर उसका वीर्य मोल लिया, अर्थात् उसके द्वारा गर्भ धारण किया। समय पर परम सुंदर पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसे एक सहस्र पण के साथ उसने उसी वैश्य के द्वार पर प्रातः काल गुप्त रूप से रखवा दिया, तथा एक छोटा-सा पत्र लिखकर रख दिया कि बालक उच्च कुल का वैश्य-पुत्र था। उस अपुत्र वैश्य ने बाहर निकलकर जब बालक देखा, और लेख पढ़ा, तो बड़ा ही हर्ष मनाया। एक सहस्र

पण में एक सहस्र पण और मिलाकर उसने सुयोग्य ब्राह्मणों और वैश्यों में वितरित कर दिया, तथा बालक को अपने ही पुत्र की भाँति परम प्रेम से पाला। जब वह समर्थ आयु को पहुँचा, तब सेठ बिना कोई अंतिमेच्छा-संबंधी पत्र लिखे ही स्वर्गवासी हो गया। विधवा भी अपने पुत्र से प्रेम न छोड़ सकी। वह यावज्जीवन चरित्रवती रही। अब ये दोनो राजा के सम्मुख उपस्थित होकर न्याय के अभिलाषी हुए कि पुत्र किसका था? उसे सेठ की संपत्ति पर क्या अधिकार था, तथा विधवा की संपत्ति वह पा सकता था या नहीं? सारी बातों पर पूर्ण विचार करके राजा ने यह निर्णय किया कि चोर की संपत्ति यद्यपि वास्तव में उसकी न होकर राजकोष में जाने योग्य थी, तथापि विधवा ने उसका चिरकाल-पर्यंत उचित व्यवहार करके पूर्णतया धर्म धारण भी किया। अतएव चाहे शुद्ध न्याय की दृष्टि से उसे कोई अधिकार न हो, तथापि सब बातों पर विचार करके वह उसे दी गई। बालक चोर के आज्ञानुसार उत्पन्न कराया गया था, और शास्त्रानुसार उसी का पुत्र था। उसने प्रसन्नता-पूर्वक सेठ को दे दिया, तथा इसने उसे स्वीकार कर लिया। यदि धन ले लेता, तो वह पुत्र का पालक-मात्र होता। जब धन न ले उसने उसके स्वामी को न पा अपना भी वसु मिलाकर सुयोग्य व्यक्तियों में वितरित कर दिया, तब वह बालक का दत्तक पिता हो गया। अतएव चोर-पुत्र सेठ का दत्तक पुत्र होकर उसके धन का उचित ही स्वामी हुआ। रही विधवा, सो जब किसी को भी अपनी संपत्ति दे देने का उसे अधिकार था, तब यदि चाहती, तो पुत्र को भी दे सकती थी। यदि दोनो चाहें, तो पास रह भी सकते हैं। रहेगा पुत्र सेठ का ही। यह निर्णय सुनकर दोनो माता और बालक अत्यंत प्रसन्न हुए, तथा एक ही सदन में रहने लगे। बालक सेठ की

संपत्ति का स्वामी था ही, समय पर विधवा का भी धन उसने पाया।

तृतीय कथा—निष्पाप

कात्यायन-गोत्र की एक नवयौवना ब्राह्मण-विधवा एक उसी गोत्रवाले सपिंड से गुर्विणी हो गई। यह दशा देखकर उस दुष्ट ने साथ छोड़ दिया। बालिका ने दो सम रूपवाले सोने के बजुल्ले बनवाए। वह अपने घर से तीर्थ-यात्रा के व्याज से किसी दूसरे स्थान को चली गई, जहाँ पुत्रोत्पत्ति होने पर उसने एक बजुल्ले के साथ नवजात शिशु एक टोकरे में यत्न-पूर्वक रखकर यह पत्र भी रख दिया कि निष्पाप बालक कात्यायन-गोत्रोत्पन्न ब्राह्मण था। अनंतर उसे एक अपुत्र कात्यायनगोत्री ब्राह्मण के बरोठे में रख दिया। प्रातःकाल उठकर उसने शिशु पाकर प्रसन्नता मनाई, तथा बजुल्ले को यत्न-पूर्वक रखकर बच्चे को पुत्रवत् पाला। समय पर समर्थ होकर बच्चे ने तक्षशिला में विद्या प्राप्त की। स्नातक हो जब वह निकला, तब तक दैव-गति से उसके पालक माता-पिता स्वर्गवासी हो चुके थे, तथा उसे उनसे साधारणी संपत्ति-मात्र मिली थी। एक दिन निष्पाप पुष्कर-क्षेत्र में दो मित्रों के साथ स्नानार्थ गया, जहाँ उसकी विधवा माता पहले ही से प्रस्तुत थी। उस काल उस स्त्री की अवस्था बयालीस वर्ष की थी। अपने पुत्र के मित्रों के मुखों से निष्पाप का संबोधन सुन-कर उसका मातृप्रेम प्रबलता के साथ उमड़ आया, तथा उसने पुत्र को संबोधित करके साधारणी वार्ता भी की, और उसके साथ अपने वाहन पर जाकर उसका निवास-स्थान देखा, अथच अपना विशाल हर्म्य दिखलाया। अनंतर बहुत कुछ प्रार्थना करके उसे सहठ भोजनार्थ अपने यहाँ उसी संध्या को निमंत्रित किया। जब

निष्पाप वहाँ पहुँचा, तब उस स्त्री ने बजुल्ले की बात चलाई। अपना उसी जोड़ का बजुल्ला दिखलाकर उसने पूछा—

विधवा—बेटा निष्पाप ! क्या तुम्हारे पास इसके जोड़ का बजुल्ला है ?

निष्पाप—बड़े आश्चर्य की बात है कि आपके पास ऐसा बजुल्ला है, मानो मेरा ही हो। क्या वही तो कहीं नहीं मिल गया है, जिसे उपहास-पूर्वक प्रेम-भाव से मुझे फेरना चाहती हो ?

विधवा—नहीं बेटा ! मैंने ऐसे ही दो बजुल्ले बनवाकर एक अपने पास रक्खा था और द्वितीय तुम्हारे पास। क्या तुम उसे मुझे दिखला सकते हो ?

निष्पाप—क्यों नहीं ? डेरे पर प्रस्तुत है।

विधवा—तब चलो, उसे ले आवें।

ऐसा कहकर, दोनो एक दिव्य रथ पर बैठकर निष्पाप के निवास-स्थान से उसे ले आए।

विधवा—देखो बेटे ! ये दोनो बजुल्ले नितांत समान हैं। अब इनको खोलकर देखो। इनके अंदर एक-एक ताम्र-पत्र मैंने रख दिया था।

निष्पाप—मेरे बजुल्ले से आपका क्या संपर्क है ? आज मैं इन दोनो आभूषणों के कारण बहुत कुछ चकित हो रहा हूँ।

विधवा—है यही बात ; मैंने अभी बतलाया न कि ये दोनो मेरे ही बनवाए हुए हैं।

अनंतर वे खोले जाकर ताम्र-पत्र पढ़े गए, तो लिखा था—
"निष्पाप मुझ हतभागिनी कुसुमा का पुत्र जहाँ रहे, प्रसन्न रहे।"

निष्पाप—क्या कुसुमा आप ही का नाम है ? क्या आप ही मेरी माता हैं ? मेरे माता-पिता का तो देहांत हो चुका है ? यह क्या माया है ?

विधवा—यह द्वितीय ताम्र-पत्र देखो।

उसमें लिखा था—"कर्कोटक-निवासिनी कुसुमा, कात्यायन-गोत्र।"

निष्पाप—मेरे पिता भी तो इसी गोत्र के थे।

विधवा—बेटा! मैंने ही तुम्हें उत्पन्न करके उन्हें अज्ञात भाव से सौंप दिया था, तथा अपने पहचान को यही बजुलता-मात्र रक्खा था कि यदि कभी भाग्य पलटेगा, तो मेरा लाल इसी के सहारे मुझे मिल जायगा।

निष्पाप—तब तो आप मेरी माता ही हैं। (चरणों पर गिरता है, और माता उसे हृदय से लगाती है।)

विधवा—जानते हो, मैंने तुम्हारा नाम निष्पाप क्यों रक्खा था?

निष्पाप—नहीं। मैं तो समझता था, यही नाम माता-पिता को भाया होगा।

विधवा—भाया अवश्य, किंतु इसका एक अर्थ भी था।

निष्पाप—वह क्या था? पूज्यवरे!

विधवा—मैं पूजनीया नहीं हूँ। बाल-वैधव्य से मेरा आचरण एक सपिंड के साथ बिगड़ गया, और तुम्हारा जन्म हो गया। उसने मुझे तुम्हारे जन्म के पूर्व ही छोड़ दिया। जब तुम उत्पन्न हुए, तब मैंने अपने पापाचार के कारण यही समझा कि तुम तो मेरे समान पापी न होकर निष्पाप थे। इसी से मैंने यह नाम रक्खा।

निष्पाप—मेरे पिता अब कहाँ हैं?

विधवा—उनका स्वर्गवास हुए प्रायः बीस वर्ष हो चुके हैं।

निष्पाप—आपकी आर्थिक स्थिति क्या थी?

विधवा—थी वह साधारणी, किंतु दुराचार का विषय जानकर लोगों ने मुझे घर से निकाल दिया। विवश हो जाने से मुझे परिस्थिति ने सामान्या बना दिया।

निष्पाप—क्या? सामान्या! हाय माता! तूने क्या कर डाला?

(मूर्च्छित होकर गिरता है। विधवा युक्ति-पूर्वक औषधोपचार से उसे सचेत करती है।) माता, तूने यह क्या कर डाला ?

विधवा—बेटा ! मैं अनाथा हो गई। भूखों मरने लगी। रूप-लावण्य के कारण दुष्टों ने मुझे घेरा। बिना किसी की सहायता के अपनी रक्षा न कर सकी। तीन दिनों की भूखी-प्यासी एक हर्म्य में भिक्षार्थिनी हुई। वह स्थान एक सामान्या का निकला। मैंने पहले न जाना। कुछ दिनों में जब जाना, तब कुछ करते-धरते न बना। नृत्य-गान सीखना पड़ा। रूप था ही। आचरण यथासाध्य शुद्ध रक्खा, किंतु पूर्णतया नहीं। धनोपार्जन अच्छा हुआ। यह हर्म्य मेरा ही उपार्जित है, तथा पाँच लक्ष पण की संपत्ति और है।

निष्पाप—किंतु वह सब पापों से उपार्जित है। मैं इस घर में भोजन कैसे कर सकता हूँ ? सब ओर पाप-ही-पाप दिखाई देता है।

विधवा—बेटा ! अब मैं तेरी शरण हूँ। तुझे किसी प्रकार नहीं छोड़ना चाहती। परम पापिनी होकर हूँ तो तेरी माता। प्रार्थना तुझसे यही है कि मुझे मत छोड़। संपत्ति से मुझे आह्लाद न मिला। अब तेरा मुख देखकर हर्ष मनाना चाहती हूँ। तू तो बेटा ! गुरुकुल का स्नातक एक पंडित पुरुष है। सोच ले, माता के साथ कैसा व्यवहार पुत्र के लिये योग्य है ? जिस घर में मैंने तुझे दिया, उसमें तो अब तेरा कोई है ही नहीं। मैं तुझे किसी से छीन नहीं रही हूँ, वरन् आत्मदान करती हूँ। देख, तेरी ही माता हूँ। कैसी भी हूँ, किंतु हूँ तो माता। मातृभाव को सोच। मेरे कर्मों पर न जा, अपनी ओर देख। कर्तव्य-पालन कर। मैं तेरे शरण हूँ। तेरे छोड़ने से मैं अब जीवित नहीं रह सकती। विचार कर ले बेटा ! धर्म धारण कर।

निष्पाप—आपने मेरा नाम निष्पाप रखकर भी क्या पाप में लिप्त करने की इच्छा न छोड़ी ?

विधवा—मैं तुझे पाप में लिप्त नहीं करती, वरन् स्वयं तेरे पुण्य

में भाग लेना चाहती हूँ। क्या तेरे शास्त्रों और विचारों में पाप पुण्य से प्रबलतर है ? क्या पुण्य पाप को न सुधारकर स्वयं गिर जायगा ?

निष्पाप—आपके पाप मुझमें तो लिप्त नहीं हो सकते, किंतु संसर्ग-दोष का क्या उत्तर है ?

विधवा—पापी पाप नहीं है। मैं पाप छोड़कर तेरा संसर्ग करती हूँ। पुण्य का संसर्ग एक प्राचीन पापी, किंतु वर्तमान पुण्यवान् से होगा। पाप तो तेरे पास आने के पहले ही छोड़ दूँगी, केवल उसका इतिहास रह जायगा। यदि भविष्य में कोई पाप करूँ, तभी न तेरा उससे संसर्ग हो सकता है ? ऐसी दशा में मुझे छोड़ देना। अभी से क्यों छोड़ता है ? मैं पाप छोड़कर पुण्य की शरण जाती हूँ। ईश्वर भी सच्चे प्रायश्चित्त को ग्रहण करता है। सोच ले बेटा !

निष्पाप—माता ! तेरी बुद्धि बड़ी तीव्र है। मैं पराजित हो चुका। क्या हर्म्य तथा सारी संपदा छोड़कर मेरी दरिद्रता में आओगी ?

विधवा—इसी समय सब कुछ छोड़ती हूँ। तेरे एक रोम बराबर यह सारा पापैश्वर्य नहीं है। अभी सब कुछ सुयोग्य विप्रों को बाँट दे। एक लँगोटी-भर मुझे अपने धन में से दे दे। वही पहनकर तेरे साथ तपस्या करूँगी।

निष्पाप—जो आज्ञा, मातेश्वरी ! मेरे अनुचित कथनों को क्षमा कर दीजिए। आप देवी हैं। आपको छोड़कर मैं पापी हो जाऊँगा, ग्रहण करके नहीं। उठिए, और अपने निवास-स्थान को पैदल चलिए। रथ आपका नहीं, पाप का है।

विधवा प्रसन्नता-पूर्वक जाती है। वहाँ पुत्र के दिए हुए वस्त्र धारण करके अपनी सारी संपदा पुत्र के द्वारा सुयोग्य विप्रों को दिला देती है। अनंतर खोज मिटाने को वे दोनो पुष्कर और कर्कोटक छोड़कर

गुर्जर-प्रांत में रहने लगते हैं, जहाँ निष्पाप विद्या और चरित्र-बल से न्यूनाधिक संपत्ति प्राप्त करता है। माता उसके साथ तपस्विनी की भाँति जीवन-यात्रा चलाती है। अनंतर कई लोग उस निष्पाप को विवाहार्थ घेरते हैं। पहले तो वह नाहीं करता जाता है, किंतु एक सुयोग्य विद्यावती तथा रूपवती ब्राह्मण-कन्या को देखकर गुप्त भाव से केवल उसी से अपनी कथा कहता है। इसके तथा माता के विशुद्धाचरणों से रीझकर वह तो भी स्वीकार करती है, और विधि-पूर्वक विवाह हो जाता है। समय पर दो पुत्र भी उत्पन्न होते हैं, जिन्हें देखकर कुसुमा बहुत प्रसन्न होती है। अनंतर ये दोनो माता-पुत्र निर्णयार्थ विक्रम की सेवा में उपस्थित होते हैं। राजा सारी कथा पर पूर्ण विचार करके निष्पाप और उसकी माता को वर्तमान स्थिति में न केवल निष्पाप मानता है, वरन् परम पंडित तथा चरित्रवान् समझकर बेटे को अपने राज्य में दानाध्यक्ष (अग्रहारिक) के विशाल पद पर नियुक्त करता है, क्योंकि वह पद इस काल दैवयोग से रिक्त था। दोनो माता-पुत्र परम प्रसन्न होकर राजा को शतशः धन्यवाद देते हैं। महादंडपाशिक भी इस निर्णय को प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार करते हैं।

(ब ३) नर-वध

अनंतर इस साधारण न्याय-वितरण के पीछे तीन क्षत्रिय अभियुक्त स्वयं अपने प्रतिकूल अभियोग लेकर उस न्याय-सभा में उपस्थित हुए।

एक अभियुक्त—देव ! हम तीनो भाई दंडित होने के निमित्त इस न्याय-सभा में उपस्थित हुए हैं। हम लोगों ने अपने ही भागिनेय का वध किया है।

विक्रम—अपनी पूरी कथा कहो, तब बात ध्यान में आए।

इस पर उनमें से एक ने विवरण देना प्रारंभ किया। उसने कहा

कि हम तीनो भाई उद्दंडरूपेण देश-प्रेम निभानेवालों में हैं। क्षत्रिय-कुमार हैं ही। हमारा धर्म लोगों को क्षत से त्राण करने का है। कहते ही हैं—

त्राण करै निहिचै छत सों, यहि कारण क्षत्रिय नाम परो है ;
जाहिर या वसुधातल मैं यह बैन महान प्रभाव भरो है।
ता गुन सों विपरीति चले प्रभुता महँ लाभ कछू न लखाई ;
प्रान मलीन धरे थिर हैं, अपकीरति जासु दसौं दिसि छाई।
(मिश्रबंधु)

देव ! हम लोग कीर्ति-प्रकाशकों में अपने को परिगणित समझते थे। आजकल शकों के अत्याचारों से हमने देश व्याकुल देखा। क्रूर राजाओं से जनता के उद्धार का भार तो हमने अपने लिये अशक्तता की बात समझी, तथा यह महत्कार्य देव-सरीखे योग्य भूभुजों के लिये छोड़ दिया। हमें ऐसा दिखता है कि भारी राजाओं के अतिरिक्त साधारण शक लोग भी वैयक्तिक रूप में बहुत कुछ प्रजा-पीड़न करते हैं। अतएव इन अत्याचारियों को दंड देने का भार हम लोगों ने अपने ऊपर उठाया। मित्र-मंडली तथा साधारण जनता से जाँच-जूँचकर हमें यह सदैव ज्ञात रहता था कि अमुकामुक दुष्ट शक घोर अत्याचारी थे। उनमें से जो लोग नर-वध तक के पापी थे, उनका हम लोग शरीरांत कर देते थे और लूट तो लेते ही थे। जो केवल लूट-मार के दोषी रहते थे, उनका दूना-तिगुना धन लूट लेते थे। स्वयं हम लोग भोजन-मात्र के लिये द्रव्य लेकर शेष लूट का धन सुयोग्य ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों में बाँट देते थे। लोभार्थ या लाभार्थ कभी कुछ नहीं किया। हमारा अनुभव बतलाता था कि ऐसे घोर अत्याचारी बहुतेरे शक लोग भी विविध कारणों से राजदंड से प्रायः बच जाते थे। ऐसों ही को हम तीनो ने दंडित किया। इस प्रकार साठ-सत्तर शकों को जान से मारा होगा तथा धन-दंड सैकड़ों को दिया।

इन कृत्यों से हम लोग अपने को पुण्यात्मा समझते थे न कि पापी, किंतु इन दिनों हमारा एक शक भागिनेय इसी प्रकार हमारे हाथ से वध-दंड पा गया। हम लोगों ने यह संबंध पीछे से जाना। वह अपने पिता के साथ शक-स्थान चला गया था। इसी से हम उसे पहचानते न थे। इस वध से हम अपने को पापी समझकर दंड के प्रार्थी हैं।

विक्रम—सिवा शकों के आप लोगों ने और किसी को कभी लूटा-मारा या नहीं?

अभियुक्त—नहीं, कभी नहीं।

विक्रम—इनमें से क्या कोई कृत्य मालव-राज्य के भीतर हुए।

अभियुक्त—नहीं, कोई नहीं। सारे काम इस राज्य के बाहर हुए, केवल धनादि यहाँ के लोगों में बँटे और हम लोग निवासी इसी राज्य के हैं। यदि इस राज्य के भीतर लूट-मार करते, तो यहाँ का दंड-पाश-विभाग पकड़ अवश्य लेता। केवल शक-राज्यों में न्यायाभाव के कारण हमने ऐसा किया।

विक्रम—जब पहले अपने को पापी नहीं समझते थे, तो इसी बार क्यों समझने लगे? सिद्धांत रूप से कोई भेद तो था नहीं।

अभियुक्त—कथन तो देव का सत्य है, किंतु पूज्य भागिनेय के वध से हमारे चित्त व्याकुल हो गए। मानते हम लोग देव की आज्ञा अवश्य हैं कि सिद्धांत रूप से कोई भेद न था। फिर भी अब यह निश्चय कर चुके हैं कि भविष्य के लिये यह कार्य छोड़ देंगे, क्योंकि यदि वास्तव में यह पुण्य कार्य होता, जैसा कि हम समझते थे, तो इसी संबंध में हमसे ऐसा पाप-कर्म न हो जाता।

विक्रम—यह तो विश्वास-मात्र की बात है, जो तार्किक भाव से केवल आकस्मिक मानी जा सकती है। सिद्धांतरूपेण आपके सभी काम एक ही प्रकार के थे। उन्हीं के संबंध में विचार करना है।

अभियुक्त—तब विचार होने की कृपा हो जाय, देव!

विक्रम—आप लोगों ने जो कार्य किए, वे एक प्रकार से राजकीय दंड-विभाग के सहायक अवश्य कहे जा सकते हैं, किंतु अभियुक्त शकों के प्रतिकूल अनुसंधान तथा निर्णय करने का आपको क्या अधिकार था ? आप किसके प्रतिनिधि होकर ऐसा करते थे ?

अभियुक्त—क्षमा-याचना करके बिनती करता हूँ कि स्वयं देव किसके प्रतिनिधि होकर न्याय-वितरण करते हैं ? यह तो शक्ति का प्रश्न है। देव में विशेष शक्ति है तथा हममें थोड़ी। यथाशक्ति हमने भी अपनी बुद्धि-भर स्वार्थ छोड़ केवल परोपकारार्थ शुद्ध न्याय वितरण किया तथा उसमें से अपने लिये कुछ ले न लिया, वरन् जैसी कठिन सेवा जान पर खेल-खेलकर की, उसके देखते हुए वेतन बहुत ही न्यून लिया। क्षात्र धर्म का पालन करते रहे।

विक्रम—आप लोगों ने अपना वेतन स्वयं नियत किया।

अभियुक्त—देव भी तो ऐसा ही करते हैं। हमने कौन-सी नवीनता की ?

विक्रम—हमारी शक्ति तुम्हारे देखते हुए बहुत महती है। यदि किसी राजबल से मिलती-जुलती तुम्हारी शक्ति होती, तो तुम भी राजा होकर न्याय-वितरण के अधिकारी होते।

अभियुक्त—इसकी मात्रा किस धर्म-शास्त्र में स्थापित है ?

विक्रम—स्थापित नहीं है, किंतु तो भी कुछ महत्ता आवश्यक है। थोड़ी शक्ति के होने में प्रत्येक दशा में आत्मरक्षा का भी प्रश्न लगा रहता है, जिससे अभियुक्तों की बात सुन-सुनकर ठंडे जी के साथ आप लोग न्याय-वितरण नहीं कर पाते थे।

अभियुक्त—विना पूर्ण निश्चय किए हमने किसी को दंड न दिया।

विक्रम—तो भी अभियुक्तों को अपनी निरपराधता सिद्ध करने का अवसर नहीं मिलता होगा।

अभियुक्त—इतना भ्रम हमारी कार्यवाही में प्रमाणित हो

गया। है यह तो भी न्याय-संबंधी नियमों का प्रश्न-मात्र, क्योंकि हम लोग निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि हमने कभी किसी निरपराध को दंड न दिया। राज्यों की अशक्तता या अनिच्छा अथवा अभियोगी लोगों की बल-हीनता से बहुतेरे सच्चे पापी दंड से बच जाते हैं। हमारा विचार ऐसा है कि इस अन्याय से राज्यों के ऊपर जितना पाप आरोपित हो सकता है, उतना हमारे ऊपर नहीं। नियमों का परम दृढ़ पालन हमने न किया, किंतु वास्तविक न्याय अनेक राज्यों से उत्तम कर दिया, ऐसा हम लोगों का विश्वास है। तो भी दंड पाने के निमित्त सन्नद्ध ही हैं। भविष्य के लिये यह कार्य छोड़ भी चुके हैं।

विक्रम—आप लोगों के सभी तर्कों, विश्वासों और कार्यों पर विचार करके हमारा निर्णय ऐसा है कि आपमें राजबल न होने से नियमानुसार अथवा धर्मानुसार न्याय-वितरण के आप अनधिकारी होने से दंड्य हैं, किंतु जब हमारे राज्य में आपका कोई दंड के योग्य कार्य हुआ नहीं, तब हम आपको दंड कैसे दे सकते हैं? जिन राज्यों में आपने दंड्य-कार्य किए हैं, उन्होंने हमारे पास अभी तक पत्र भेजा नहीं। अतएव घर जाइए। भविष्य के लिये आप स्वयं यह कार्य छोड़ने को कहते हैं। मेरी भी सम्मति यही है कि ऐसे कामों में न पड़िए। यदि किसी राज्य से आपके प्रतिकूल सप्रमाण माँग आ जाय, तो मुझे आपको वहाँ भेजना पड़ेगा। अतएव योग्य भाव-गर्भित होकर भी आपके ऐसे कार्य न्याय-विरुद्ध और दंड्य हैं। मैं ईश्वर के यहाँ आपको पाप-हीन या पापी कुछ भी नहीं कहता, क्योंकि यदि ईश्वरीय न्याय में आपके कार्य अनुचित न होंगे, तो संभवतः आपको वहाँ दंड न मिलेगा। इस विषय पर आपके उच्च मानस-गर्भित भावों के कारण मेरा विचार अनिश्चित है।

तीनों भ्राता जय-जयकार करके अपने घर जाते हैं।

चौदहवाँ परिच्छेद

लोकतंत्र और भर्तृहरि-बंधन

(अ) विक्रम का साम्राज्य-परिचालन

राजा वीर विक्रमादित्य ने इस प्रकार ग्यारह वर्ष न्याय-पूर्वक बृहत् मालव-संघ को चलाया। तीन वर्ष कर-मुक्त रहने से मालव-साम्राज्य, लाट, उत्तरी गुजरात और कुनिंद-राज्यों में जनता पूर्णतया ऋण-मुक्त और प्रसन्न हो गई थी। अतएव चौथे वर्ष सुख-पूर्वक उसने कर दिया। एकाध राज्य में भारी आर्थिक संकट भी पड़ गया, यहाँ तक कि राजप्रासाद टपकने लगे, किंतु जनता के बहुत कहने-सुनने पर भी नियत अवधि के भीतर कर किसी प्रकार न लिया गया। अनंतर प्रजा के हठ करने पर मृदुता-पूर्वक फिर से साधारण कर लिया जाने लगा। ग्यारह वर्ष बीत जाने पर वृद्धापा के कारण कुनिंद-पति अमोघभूति का शरीरांत हो गया। विक्रम तथा वीरवर वहाँ उन्हें देखने भी गए थे, और इन्हीं के सामने उनका शरीर छूटा था। अनंतर आप लोग पलट आए, तो भी कौनिंद प्रतिनिधियों ने किसी राजपुत्र के अभाव में नियम-पूर्वक वीरवर को गणमुख्य चुना। अमोघभूति का दौहित्र केवल दस वर्ष का था। इस कारण तथा शक होने से वह न चुना गया। अनंतर कुछ कौनिंद प्रतिनिधि वीरवर को बुलाने पतिस्थान पहुँचे। उनकी इच्छा विक्रम को छोड़कर जाने की न थी, किंतु इन्हीं की आज्ञा से विवश होकर उन्हें जाना पड़ा। कुनिंद पहुँच विधि-पूर्वक गणमुख्य होकर वह सिंहासनासीन हुए।

यह दशा सुनकर महाक्षत्रप षोडास अपने पुत्र के अधिकार की अमान्यता से रुष्ट हुए, और उन्होंने एक प्राभृतक देकर अपने सांधि-विग्रहिक को कुनिंद भेजा। वहाँ वीरवर ने उन्हें भली भाँति समझाया कि वह तो इस पद के यहाँ तक इच्छुक न थे कि भूतपूर्व गणमुख्य के स्वर्गवास होने पर पतिस्थान चले गए थे, किंतु प्रतिनिधियों तथा कौनिंद जनता के निर्णय से विवश होकर उन्हें यह पद स्वीकार करना पड़ा था। तो भी सांधिविग्रहिक महोदय ने महाक्षत्रप के इच्छानुसार युद्ध होने का मंत्र दृढ़ किया। विवश होकर कौनिंदों को भी युद्ध-भेरी बजाकर चंडी का प्रचंड रण-तांडव देखने को सन्नद्ध होना पड़ा। यह तनातनी सुनकर विक्रम ने भी पतिस्थान से अपना सांधिविग्रहिक मथुरा भेजकर बहुत समझवाया कि वीरवर मानो स्वयं विक्रम ही थे, सुतराम् उनसे युद्ध होने में मालव-पति को न चाहते हुए भी सहायतार्थ सेना कुनिंद भेजनी पड़ने को थी। महाक्षत्रप ने यह सब समझकर भी युद्ध से निवृत्त होने का मंत्र न माना, क्योंकि गणमुख्य के चुनाव में दौहित्र के अस्तित्व में कौनिंदगण की स्वतंत्रता वह किसी प्रकार उचित न मान सके। विवश होकर विक्रम को भी एक प्रचंड मालव-सेना अपने महासेनापति की अध्यक्षता में भेजनी पड़ी, जिसकी सहायता से वीरवर ने कौनिंद दल भी मिलाकर सुगमता-पूर्वक माथुर शक-शक्ति को युद्ध में पूर्ण पराजय दे दी। इस हार को अंतिम न समझकर षोडास ने प्रबलतर युद्ध के लिये प्रयत्न स्थापित रक्खा। उनका विचार हुआ कि दृढ़तर सेना सन्नद्ध करके किसी उचित समय पर कौनिंद निर्बलता के अवसर पर आक्रमण किया जाय। मालव-पति द्वारा कौनिंद सहायता से चिढ़कर विक्रम से भी सौहार्द छिन्न कर दिया, तथा पतिस्थान और उज्जयिनीवाले सुंदर व्यवहार का अंत हो गया।

विक्रम ने न्याय और उदारता को अपने राज्य की विशेषताएँ बनाए रक्खा, तथा प्रजा-रक्षण में निजू प्रयत्न भी बराबर पूर्व-कथना-नुसार चलता रहा। इनके समय से प्रायः सौ-डेढ़ सौ वर्ष ही पीछे होनेवाले शातवाहन सम्राट् हाल ने गाथा-सप्तशती में लिखा है कि आप प्रतापी, उदार, विजयी तथा भृत्यों तक को लाखों का उपहार देनेवाले थे। शास्त्रों में पारंगत कहे गए हैं, और लिखा हुआ है कि इनकी ध्वजा सदैव अपराजित रही, तथा इनके द्वारा प्रजा ऋण-मुक्त हुई, अथच मृत्यु १११ वर्ष की अवस्था में हुई। उज्जयिनी से हारकर इनकी माता का प्रतिष्ठान (पतिश्थान) जाना लिखित है। उज्जयिनी विक्रमपुर या विक्रमपट्टन भी कहलाती थी। विक्रमराज, विक्रमादित्य नाम थे, तथा विषमशील घर में कहलाते थे। विक्रम के वर्णन गाथा-सप्तशती, मेरुतुंगाचार्य-रचित पटावली, गुनाढ्य-कृत बृहत् कथा, क्षेमेंद्र-कृत बृहत् कथा-मंजरी तथा प्रसिद्ध ग्रंथ कथा-सरित्सागर में हैं। राजा अमोघभूति की मृत्यु के समय विक्रम के छोटे भ्राता भर्तृहरि उन्नीस वर्ष के हो चुके थे। राजा ने इन्हें भास कवि द्वारा योग-साधन में संलग्न कराया था, क्योंकि इस ओर इन-(भर्तृहरि)की रुचि भी विशेष थी। धनुष-बाण, खड्गादि के भी प्रयोग उचित प्रकार से सिखलाए गए थे, तथा समर-कौशल की भी योग्य शिक्षा दी गई थी। विक्रमादित्य राजसेवकों द्वारा प्रजा-पीड़न बचाने का सदैव प्रचुर प्रयत्न करते थे, किंतु स्वामिभक्त, धर्मात्मा सेवकों को निहाल भी किए रहते थे।

(ब) भर्तृहरि की मृगया

एक दिन राजकुमार भर्तृहरि मृगयार्थ गहन वनों में पधारे। अनुयायी समुचित संख्या में साथ थे, किंतु आखेट की दौड़-धूप में वे छूट गए, केवल एक व्यक्ति पास रह गया। दैव-वश उज्जयिनी का

महासेनापति हगामस भी उसी वन में शिकार खेलने गया था। उसके साथ भी अनुचर समुचित संख्या में थे, किंतु छूट वे भी गए, यहाँ तक कि स्वयं उसके निकट कोई भी व्यक्ति न रह गया। मृगया करते हुए दोनो महापुरुष वन में मिल गए, और एक वराह के शरीर में इन दोनो के बाण थोड़ा ही आगे-पीछे लगे, और वह मर गया। अब प्रश्न यह उठा कि वह इनमें से किसका शिकार था? बातों-ही-बातों में उत्कर्ष बढ़ गया, यहाँ तक कि दोनो में खड्ग-युद्ध होने लगा। प्रायः एक घड़ी तक प्रचंडरूपेण द्वंद्व-युद्ध होता रहा, जिसके अंत में हगामस मरकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। इतने ही में उसके दस-बारह अनुयायी आ गए, जिन्होंने भर्तृहरि को बंदी बना लिया, तथा अपने स्वामी के शव को युक्ति-पूर्वक उज्जयिनी पहुँचाया। शत्रुओं का विशाल वृंद देखकर राजकुमार के अनुयायी ने उनसे युद्ध करने का विचार न करके पतित्थान (प्रतिष्ठान) जा सारा विवरण महामंत्री को सुनाया। उधर उज्जयिनी में भर्तृहरि बंदी-गृह में तो रक्खे गए, किंतु कोई कष्ट न हुआ, वरन् बहुत सुख-पूर्वक समय बीतता था। एक दिन उपरिक हगाम से उनसे यों बात भी हुई। उस अवसर पर उसकी कन्या शीला भी वहाँ बैठी थी।

हगाम—राजकुमार! आपने एक तो शक-वन में मृगया करने का अन्याय किया, और फिर अनावश्यक युद्ध में मेरे प्रिय भ्राता का वध ही कर डाला।

भर्तृहरि—उपरिक महोदय! जहाँ तक मुझे ज्ञात है, वह वन मालव-राज्य की सीमा में है। है सीमा-प्रांत का स्थान अवश्य, किंतु मैं ऐसा समझता हूँ कि आप ही के अनुयायियों ने सीमा-संबंधी नियम का घर्षण करके मुझे अनुचितप्रकारेण बंदी बनाया है।

हगाम—राजकुमार महोदय! यह प्रश्न तो सीमा-संबंधी नाप-

जोख से संबद्ध है, किंतु पूछना आपसे यह है कि मेरे भाई का वध क्यों किया गया ?

भर्तृहरि—मृगया-संबंधी अधिकारों तथा कर्तव्यों के नियमों पर वाद-विवाद होते-होते उन्होंने बहुत अनुचित शब्दों का प्रयोग किया। मैंने तो भी क्रोध शांत रक्खा, क्योंकि जिन यौगिक क्रियाओं का मैं साधन सीख रहा हूँ, उनमें काम, क्रोधादि के वेगों का शमन एक आवश्यक कर्तव्य है। तथापि योगशास्त्र भी यह नहीं सिखलाता कि अनुचितप्रकारेण कटुभाषियों से दबकर किसी-न-किसी भाँति युद्ध बचाया ही जाय। यदि योग्य वार्ता के साथ उस वराह का शव मुझसे माँगते, तो मैं अवश्य दे देता। यदि अनुचित भाषण न करते या कम-से-कम युद्धोन्मुख न होते, तो मैं कभी न लड़ता। मेरा तो कथन है कि मृग मेरे बाण से मृतकप्राय हो चुका था, और तब उसके शरीर में उनका बाण लगा। फिर भी उन्होंने कटु शब्द कहे, और मेरे अनुचित उत्तर न देने पर भी मुझे द्वंद्व-युद्धार्थ प्रचारा। मेरा मृदु उत्तर आत्मपक्ष-समर्थक, किंतु न्याय-युक्त था। क्या आप समझते हैं कि मेरे लिये प्रचारे जाने पर भी कादरता-पूर्वक भाग जाना ही योग्य था?

हगाम—जो बातें कहते हैं, उनसे आपका विशेष दोष सिद्ध नहीं होता, किंतु इनका मैं अनुसंधान करूँगा ही।

भर्तृहरि—अनुसंधान आप क्या करेंगे? उस स्थान पर कोई था ही नहीं, केवल मेरा एक अनुचर था, जो प्रतिष्ठान चला गया होगा।

हगाम—मैं अपने अनुयायियों से सब बातें पूछूँगा, फिर भी आपसे इतना और पूछना है कि उनका वध ही क्यों कर डाला, केवल सक्षत करके क्यों न छोड़ दिया ?

भर्तृहरि—वह आपके महासेनापति थे, और मैं एक बालक-मात्र। यदि पूर्ण कौशल तथा चैतन्यता-पूर्वक युद्ध न करता, तो मेरा ही

विनाश हो जाता। उपरिक होकर क्या आप यही न्याय करते हैं कि एक अनुभव-शून्य बालक द्वारा ऐसा महत्कार्य देखकर उसे बधाई देने के स्थान पर बंदी बना रहे हैं।

शीला—पिताजी! अब आपका पक्ष गिर चुका है; हठवाद-पूर्वक चाहे शुद्ध न्याय न कीजिए। काकाजी के विनाश का मुझे भी भारी दुःख है, किंतु घटना-क्रम का जैसा स्वच्छ विवरण श्रीयुत राजकुमार महोदय ने दिया है, उससे इनका अपराध तिल-मात्र प्रमाणित नहीं होता। कोई साधारण भारतीय भी मिथ्या भाषण जब नहीं करता, तब एक साम्राज्य के राजकुमार पर ऐसा अनुचित संदेह होना असंगत है। मेरी विनती है कि कृपा क्या शुद्ध न्याय करके आप इनका मोचन तुरंत कर दीजिए।

हगाम—तू तो बेटी, मूर्खा बनी जा रही है। राजकुमार के राज्य से हम लोगों का इन दिनों प्रचंड विभ्राड् चल रहा है। क्या तू नहीं जानती कि मालवों ने कौनिंदों की अनुचित सहायता करके माथुर शक-सेना का इन्हीं दिनों भारी विनाश किया है? राजकुमार पर केवल मेरे भ्रातृवध का अभियोग नहीं है, वरन् मालव-राजकुमार होकर राजनीतिक विचारों द्वारा भी आप बंदी बनाए जाने योग्य हैं।

भर्तृहरि—यह प्रश्न ही दूसरा है। जब ऐसी बात थी, तब भ्रातृ-वध के कथित अपराध पर मुझसे क्या कथनोपकथन हो रहा था? मैं आप ही की राजपुत्री को विचारिका बना रहा हूँ। इन्हीं के सम्मतानुसार निर्णय किया जाय। दोनो प्रश्नों का यही उत्तर दे दें। मेरा कथन राजनीतिक प्रश्न पर यह है कि प्रत्येक मालव प्रत्येक शक का शत्रु नहीं है। स्वयं हमारी छोटी राजमहिषी महाशया शक-पुत्री हैं। क्या हम उनका अपमान या अनादर कर सकते हैं? युद्ध-कर्ताओं को आप सुख से बंदी बना सकते हैं, किंतु अयुद्धकर्ताओं

से यह अनुचित व्यवहार कैसा ? केवल एक-एक व्यक्ति के बंदी होने से क्या प्रचंड मालव-शक्ति समाप्त हो जायगी ? यदि मालव-शक-युद्ध होगा, तो मैं उसमें अस्त्र अवश्य उठाऊँगा, किंतु इस समय एक शांति-प्रिय मालव हूँ, जिसे बंदी बनाना वर्तमान युद्ध-नियमों के प्रतिकूल है।

हगाम—अच्छा, अब आप बंदी-गृह को पधारिए। मैं स्वकर्तव्यों की शिक्षा आपसे नहीं लेना चाहता, न अपनी ही पुत्री के न्यायाधीन हो सकता हूँ। उपरिक मैं हूँ, यह नहीं।

शीला—राजनीति का विषय तो मैं जानती नहीं, न अपने ही पूज्य पिता के निर्णयों पर न्याय-वितरण करने का साहस कर सकती हूँ, तथापि बिना इतना सोचे नहीं रह सकती कि ऐसे सुंदर, सुकुमार, वीर, साहसी, योगी और निष्पाप राजपुत्र के साथ योग्य व्यवहार नहीं हो रहा है।

हगाम—प्रिय बेटी ! तू अभी राजनीतिक कर्तव्यों से अनभिज्ञ है। मुझे बड़ा दुःख है कि राजभार के गौरव पर विचार करके तेरी इच्छा का पालन मैं नहीं कर सकता, यद्यपि संभव होने से कर देता। तो भी तुझे इतना अधिकार देता हूँ कि बंदी-गृह में तू जब चाहे, अपनी एकाध सखी के साथ पूज्य राजकुमार से मिल सकती है।

(स) भर्तृहरि का कारावास और शीला

अनंतर राजकुमार भर्तृहरि बंदी-गृह को पहुँचाए गए, जहाँ उनकी सुविधाओं का राजाओं के समान प्रबंध कर दिया गया। उस गृह की रक्षा का भी समुचित प्रबंध हो गया। अनंतर उसी दिन राजकुमारी शीला अपनी अतंरंगा सखी के साथ वहाँ जाकर राजकुमार से संलाप करने लगी।

भर्तृहरि—राजकुमारीजी ! मैं आपकी कृपाओं का अत्यंत आभारी हूँ। आपने पितृव्य-वध पर विशेष ध्यान न देकर शत्रु-नगर में भी मेरा उचित से अधिक मान किया। आपकी उदारता धन्यवादार्ह है।

शीला—बड़ी ही कृपा हुई, राजपुत्र महोदय ! यदि आपको कोई अणु-मात्र कष्ट हो, तो मुझे आज्ञा करने में संकोच न कीजिएगा। मैं तुरंत ही उसका प्रबंध कर दूँगी; क्षण-मात्र की देर न होगी।

भर्तृहरि—ऐसा तो मैं समझता ही हूँ। मुझे यहाँ कोई भी कष्ट नहीं है, वरन् मेरे एकांतसेवी होने से सुख-ही-सुख है, क्योंकि यौगिक क्रियाओं के लिये समय विशेष मिल जाता है। एक बात पूछनी है कि शक लोग प्रायः आर्य-भाषा भली भाँति नहीं बोल पाते, किंतु आपके कुटुंब में इसका समुचित प्रचार देखता हूँ, यहाँ तक कि आपके युद्धार्थी पितृव्य भी ऐसी ही भाषा का प्रयोग करते थे। इसका क्या कारण है ?

शीला—हम लोग चिरकाल से उज्जयिनी में रहते हैं, जहाँ आर्य-भाषा का चलन है ही। हम लोगों ने भी अपने विदेशीपन को बहुत प्रकट न करने के विचार से इस भाषा का प्रयोग अपनाया है।

भर्तृहरि—यहाँ पर तो ऐसी शुद्ध भाषा का प्रयोग है, जैसे आप लोग विदेशी हों ही नहीं।

सखी—यही तो हम लोगों की इच्छा भी है, राजकुमार महोदय ! क्या मैं जान सकती हूँ कि कौन समय आपकी विशेष निश्चिंतता का होता है, जिसमें हमारी सखी के कारण आपके यौगिक अभ्यासों में बाधा न उपस्थित हुआ करे ?

भर्तृहरि—प्रत्येक दिन के प्रथम पहर-भर में मैं व्यायाम

योगाभ्यास आदि से निवृत्त हो जाता हूँ। इसी प्रकार रात्रि में व्यायाम तो घड़ी-डेढ़ घड़ी प्रथम प्रहर में कर लेता हूँ, तथा योगाभ्यास द्वितीय पहर के अंत में। इतर सभी समयों पर निश्चित रहता ही हूँ।

शीला—यदि आप नगर-निरीक्षण करना चाहें, तो वाहनादि का प्रबंध करके पिताजी से परिभ्रमणार्थ आज्ञा ले लूँ। ऐसे समयों में वह रक्षकों आदि का प्रबंध-मात्र कर देंगे।

भर्तृहरि—शत्रु-नगर में बंदी होकर मैं कोई प्रार्थना नहीं करना चाहता। जितना कुछ प्रबंध वह स्वयं योग्य समझें, उतना ही उचित है।

शीला—बात आपकी योग्य है ; कोई प्रार्थनाएँ करनी भवदीय महत्ता के भी प्रतिकूल है। आपकी आवश्यकताओं का दो-चार दिनों में अनुभव करके मैं स्वयं सभी बातों का प्रबंध कर दूँगी, तथा अपनी ही ओर से प्रार्थना करूँगी ; आपकी इच्छा प्रकट न होगी।

भर्तृहरि—अनेकानेक धन्यवाद ! देवीजी ! शत्रु-नगर में मेरे ऊपर इतनी कृपा करने की आपको क्या आवश्यकता है ? आपसे मिलने में मेरा समय बीतेगा प्रसन्नता-पूर्वक, किंतु समझता हूँ कि राजकुमारी होकर आपको मेरे लिये इतना कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं है। आप तो अल्पवयस्का हैं ; ये दिन खाने-खेलने के हैं, न कि बंदी-गृहों में विशेष समय बिताकर कष्ट उठाने के।

शीला—ऐसी अल्पवयस्का क्या हूँ ? सोलहवाँ वर्ष लग चुका है। आप मेरे पिता के अतिथि हैं। मेरा कर्तव्य है कि आप सानंद रहें। पूजनीया माता का स्वर्गवास हुए चार वर्ष बीत चुके हैं। मुझी पर तो पिताजी के गार्हस्थ्य प्रबंध का भार है। आप इस बात का विचार न कीजिए कि मुझे यहाँ आने-जाने में कोई कष्ट अथवा असुविधा का किंचिन्मात्र प्रश्न है।

भर्तृहरि—बड़ी कृपा, देवीजी ! जैसा सौंदर्य स्वर्णोपम है, वैसी ही बुद्धि भी आपको महती मिली है। मुझे यहाँ कोई कष्ट नहीं है।

शीला—यदि आपसे कोई साधारण प्रश्न पूछूँ, तो आशा है कि अनुचित न समझिएगा।

भर्तृहरि—इसमें अनौचित्य क्या है ? मेरा तो समय ही सानंद कट रहा है।

शीला—अच्छा, पूछती हूँ कि भद्र पुरुषों के लिये सांसारिक जीवन का लक्ष्य आप क्या समझते हैं ?

भर्तृहरि—देवीजी ! अपने लोगों से बालकों के लिये यह प्रश्न अभी न्यूनाधिक समय से पूर्व का है।

शीला—मैंने इस कारण से पूछा कि इसी अवस्था से यौगिक क्रियाओं में मन आप विशेष लगाते हैं। यदि जीवन-लक्ष्य पर पूर्ण ध्यान न दिया होता, तो ऐसे जटिल कर्तव्य-मार्ग के पथिक क्यों बनते ? अवस्था, भारी सौंदर्य, शौर्यादि देखकर आपका योग-साधन-वाला कार्य कुछ अनमिल-सा दिखता है।

भर्तृहरि—यह बात थी ; तब तो उत्तर देने पर मुझे बाध्य-सा होना पड़ेगा। समझ ऐसा पड़ता है कि जीवन-लक्ष्य-संबंधी प्रश्न पर बिना समुचित विचार किए ही मैं योग-साधन में प्रवृत्त हो गया हूँ। बात यह है कि मेरी स्वर्गवासिनी माता विवाह से पूर्व संन्यासिनी थीं। संभव है, उनके आचरणों का कुछ प्रभाव मुझ पर पड़ गया हो। फिर मेरे पूज्य अग्रज भ्राता यौगिक क्रियाओं पर विशेष ध्यान देते हैं, तथा दोनो राजमहिषियाँ भी इन्हीं में न्यूनाधिक प्रवृत्त रहती हैं। मेरे कुटुंब में इस बात का ऐसा चलन सुकवि भास के प्रभाव-वश चिरकाल से चला आता है, जिससे मुझे इस मार्ग का पथिक बनने में कोई विशेष विचार नहीं करना पड़ा। फिर

भी प्रत्येक सुधी को अपने भविष्यवाले कर्तव्यों पर समुचित मनन कर ही लेना चाहिए।

शीला—यही तो बात है, राजकुमारजी! यदि अनुचित न समझिए, तो यौगिक विषय पर मैं आपके परिपक्व विचार जानना चाहती हूँ। देखूँ, भविष्य के विषय में आप क्या निश्चित मत रखते हैं?

भर्तृहरि—मेरे विचारों पर इतना ध्यान देना एक शक-शत्रु-कन्या के लिये कुछ अनोखी-सी बात है ही, तथापि कथन करूँगा।

शीला—मुझे शत्रु-कन्या आप क्यों समझते हैं? मेरे पिता की आपसे कोई आत्मीय न होकर राजनीतिक शत्रुता-मात्र है। यह कोई वास्तविक वैर-भाव न होकर केवल जातीय कर्तव्य-पालन का प्रश्न-भर है।

भर्तृहरि—है तो बहुल करके ऐसा ही; फिर भी मैं शत्रु-नगर में बैठा ही हूँ, तथा आपके पितृतुल्य पितृव्य का घातक हूँ ही।

शीला—आप घातक क्यों हैं? उन्होंने स्वयं अनुचित व्यवहार किया। आपने आत्मरक्षा-मात्र की। यदि पूर्ण कौशल से युद्ध न करते, तो स्वयं कहाँ बचे जाते थे? मैं पितृव्य-विनाश पर घोर दुःख का अनुभव करती हुई भी आपके शौर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा किए विना नहीं रह सकती।

भर्तृहरि—अभी अल्प अवस्था में इतनी ज्ञान-गरिमा-प्राप्ति पर मैं आपको बधाई देता हूँ। अच्छा, अब आपके मुख्य प्रश्न पर आता हूँ।

शीला—अवश्य कृपा कीजिए।

भर्तृहरि—यह तो प्रकट ही है कि प्रत्येक मनुष्य अनेकानेक प्रकार से संसार का ऋणी है। उसे किसी ने उत्पन्न किया तथा असमर्था-वस्था में उसका पालन-पोषण किया। समर्थ होकर भी बहुतेरे

लोग संसार का हित कम करते हैं, वरन् उससे सेवा लेते हैं विशेष। ऐसे लोग ऋणी कहे जा सकते हैं। फिर भी परमोच्च आचरण-प्रदर्शन से उदाहरण द्वारा लोक को शिक्षा मिलती है ही। इसी से जो गृहत्यागी सज्जन कोई लोकोपकारी कार्य भी नहीं करते, वे केवल उदाहरणवाली शिक्षा देने के कारण अपने ऐसे जीवन का समर्थन किया करते हैं जिससे उपकार-संबंधी कोई कथनीय लोक-सेवा उदाहरण-प्रदर्शन से इतर उनसे नहीं होती। इस पर निष्पक्ष शुद्ध सम्मति प्रकट करनी बहुत सुगम नहीं है। अब रहा योग का विषय, उसके साधन में गृह-त्याग आवश्यक नहीं। कोई गृहस्थ भी स्वशरीर शुद्ध और सबल रखने को इसका अभ्यास कर सकता है, क्योंकि यह एक प्रकार का श्रेष्ठ व्यायाम है। यौगिक आसनों से बहुत कुछ शारीरिक लाभ प्राप्य है। जैसे मेरे भ्राता तथा भाभियाँ केवल इसी निमित्त चिरकाल से योग-साधन करती आई हैं, यद्यपि हैं वे पूर्ण-तया गृहस्थ, तथा दोनो के तीन-तीन पुत्र भी हैं। मैं भी अब तक इसी अभिप्राय से आसनों का साधन करता आया हूँ। इनसे समुचित मात्रा में दैहिक स्वास्थ्य भी प्राप्य है; श्वासा स्वच्छ रहते हैं, शरीर सबल और नीरोग रहता है, अथच जीवनावधि बहुत कुछ बढ़ती है। तो भी इस प्रारंभिक अभ्यास से बढ़कर पूर्ण योगी होने की पदवी है, जिसके पाने को संसार का साधारण त्याग तथा विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता है। इनसे सिद्धियाँ भी महती प्राप्य हैं, ऐसा कहा जाता है। मैंने अब तक यह निश्चय नहीं किया है कि इस द्वितीय श्रेणी में प्रविष्ट हूँगा या नहीं? अधिकतर संभावना यही है कि अपने अग्रज के उपदेशानुसार गृहस्थ योगी-मात्र बनूँगा।

सखी—राजकुमार महोदय! आपके कथन बहुत स्वच्छ, कुछ न छिपानेवाले तथा बुद्धि-ग्राह्य हैं। आपने अपने विचारों का नितांत शुद्ध एवं सच्चा विवरण हम दोनो पर पूर्ण विश्वास करके किया है,

फिर भी अब तक जीवन-लक्ष्य के प्रश्न पर आपका कथन आंशिक-मात्र है।

भर्तृहरि—अभी तो मैंने आरंभ ही किया है, सखीजी! यह प्रश्न बहुत बड़ा है। फिर भी यथासाध्य कहता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि अपनी जीवन-यात्रा इस प्रकार चलाए कि इतरों को उससे अधिक-से-अधिक वास्तविक लाभ हो।

शीला—वास्तविक लाभ से क्या प्रयोजन है?

भर्तृहरि बहुत-से लोग मद्य-पान, द्यूतादि में प्रसन्नता पाकर उसी को लाभ समझते हैं, किंतु वह मिथ्या है, न कि वास्तविक। असली लाभ वह है, जिससे संसार उन्नतिशील हो। यह एक कठिन दार्शनिक प्रश्न है, जिस पर अध्यायों पर अध्याय लिखे जा सकते हैं। मैंने यहाँ मोटे प्रकार से समझा-भर दिया है।

सखी—कथन आपका नितांत उचित समझ पड़ता है।

शीला—अच्छा, आपके भ्राता ने कई प्रांत जीते हैं। उनमें से कोई लेकर आप वहाँ अपनी राजसत्ता स्थापित करने को कैसा समझते हैं?

भर्तृहरि—ऐसा तो स्वयं वह भी मुझसे कई बार आज्ञा कर चुके हैं। अभी पाँच-छ वर्ष-पर्यंत मेरी अवस्था ब्रह्मचर्य-साधन के साथ विद्या-लाभ करने की है। उसके पीछे अपने भविष्य पर विचार करूँगा। स्वयं भ्राता ने छब्बीसवें वर्ष को समाप्त करके विवाह किया था। अपने भविष्य के जीवन-संबंधी प्रश्न विवाहा-नंतर रानी की भी सम्मति लेकर निर्णय करना मेरे लिये योग्य होगा।

शीला—बात तो यह भी नितांत शुद्ध है। क्या आप पचीस वर्ष की अवस्था प्राप्त करने के पूर्व वैवाहिक विषयों पर विचार भी नहीं करना चाहते?

भर्तृहरि—इस साधारण प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता ही क्या है ? विद्या-प्राप्ति में यथासाध्य पूर्णता तथा पूरा ब्रह्मचर्य-व्रत साधन आवश्यक हैं ही। अनंतर जब कभी कोई योग्य स्त्री मिल जायगी, तब विवाह का प्रश्न आप-से-आप सुलझ जायगा।

सखी—यदि कोई पहले ही से रुचि के अनुसार मिल जाय, तो कैसा ?

भर्तृहरि—इन प्रश्नों के उत्तर सुगम नहीं हैं। कोई मनुष्य किन्हीं परिस्थितियों में क्या करेगा, ऐसा पहले ही से विचारकर निर्णीत करना अनावश्यक-सा है।

शीला—है तो यही बात। समय से पूर्ववाले निर्णय प्रत्येक दशा में स्थायी भी तो नहीं रह सकते।

भर्तृहरि—इसीलिये तो ऐसे निर्णय वृथा समझे जाते हैं।

अनंतर राजकुमार से आज्ञा लेकर सखी-सहित राजकुमारीजी वहाँ से चली गईं। इसी प्रकार प्रायः बंदी-गृह जा-जाकर वह भर्तृहरि से विविध प्रश्नों पर प्रेम-पूर्ण वार्तालाप किया करती थीं, तथा इनकी सुविधाओं पर पूर्ण ध्यान रखती थीं। ये दोनो रथारोही हो-होकर सखी को साथ लिए हुए प्रायः नित्य नगर-निरीक्षण तथा वायु-सेवनार्थ भी जाया करते थे। ऐसे समयों पर लोकतंत्र द्वारा रक्षकों का समुचित प्रबंध रहता था। एक दिन उज्जयिनी के कोतवाल रुचिराश्व ने राजपुत्रीजी से एकांत में मिलकर यों वार्तालाप किया—

कोतवाल—देवीजी ! आजकल मालव-राजकुमार से आपकी बहुत गाढ़ी छन रही है, क्या बात है ?

शीला—इसमें आपको क्या उद्विग्नता हो रही है ? क्या किसी से बात करनी भी मना है ?

कोतवाल—अब मुझसे न उड़िए, राजकुमारीजी ! साधारण

बात एक वस्तु है और प्रेमालाप दूसरी। मैं भी दंडपाश-विभाग का नगर-नेता कुछ समय से आप ही की कृपा से हुआ हूँ। क्या इतना भी नहीं समझ सकता?

शीला—तो क्या तुम समझते हो कि तुम्हें छोड़ मैं किसी राजकुमार से विवाह तक न कर सकूँगी? तुम्हारा जितना कुछ व्यवहार है, वह मैं तोड़े कब देती हूँ, किंतु इतना और समझे रहो कि आजन्म कुमारिका-व्रत न लूँगी, और यदि लूँ भी, और कहीं बच्चा हो पड़े, तो कैसा?

कोतवाल—क्या मेरे साथ विवाह असंभव है? यदि यही बात थी, तो परसाल ही, पचीस वर्ष की अवस्था पूर्ण करके, जब मैंने एक कन्या से विवाह का विचार किया था, तब आपने क्यों रोका?

शीला—समझ रक्खो कि यदि मुझसे या किसी और से विवाह का विचार किया, तो मुझसे बुरा कोई नहीं; नसें गढ़के रख दूँगी। हाँ, तुम्हें धोखा कभी न दूँगी। मेरा पति चाहे स्वयं इंद्र हो, तो भी तुम्हारा प्रेम यावज्जीवन निभा दूँगी, किंतु तुम्हारे-से साधारण मनुष्य के साथ विवाह का प्रश्न नहीं उठ सकता।

कोतवाल—ऐसा आपने कभी दृढ़ता-पूर्वक कहा न था।

शीला—कहा तो मैंने दो-चार बार था, यह तुम्हारी मूर्खता है कि फिर भी मुझे मना लेने की आशा में रहे। अब अंतिम बार जान लो कि मैं भर्तृहरि को फाँसना अवश्य चाहती हूँ। ऐसा बढ़िया राजकुमार मुझे मिला कहाँ जाता है? मैं तो उसके पैर धोने के योग्य भी नहीं हूँ। तुम्हारे-से नीचों का संसर्ग करके भी क्या मैं उस महात्मा के योग्य बनी हुई हूँ।

कोतवाल—यह मैं मानता हूँ कि मेरी पदवी आपको देखते हुए कुछ भी नहीं है। फिर भी अपने विषय में ऐसे अनुचित

और उग्र कथन मैं नहीं सुन सकता, ऐसा आपको भी जाने रहना चाहिए।

शीला—अच्छा, मैं उन शब्दों को फेरे लेती हूँ, और भविष्य में भी उनका व्यवहार तुम्हारे संबंध में न करूँगी, किंतु विवाह या अन्य स्त्री-गमन का अधिकार तुम्हें कभी न होगा, तथा यदि मैं किसी राजकुमारादि से विवाह करना चाहूँ, तो उससे जलने की तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं, ऐसा मैं तुमसे पहले भी कह चुकी हूँ।

कोतवाल—कह आप अवश्य चुकी हैं, किंतु मुझे आपसे वास्तव में ऐसे रूक्ष व्यवहार की आशा न थी।

शीला—इसमें रूक्षता क्या है मित्रवर! यदि विवाह न करूँ, और पुत्रादि का संसर्ग हो जाय, तो कैसा? तब तो पिता के सम्मुख मुझे तुम्हारा नाम लेना ही पड़ेगा, जिससे तुम्हारे लिये प्राण-संकट उपस्थित हो जायगा या नहीं? तुम्हीं समझ लो। मैं तुमसे कपट अथवा रूक्षता का कोई व्यवहार नहीं कर रही हूँ। यदि तुम्हीं से विवाह करना भी चाहूँ, तो पूज्य पिता माने कब जाते हैं?

कोतवाल—इतना तो है ही।

शीला—तब फिर क्यों विकल होते हो? तुम्हारे ही कारण अति शीघ्रता-पूर्वक विवाह करना मेरे लिये आवश्यक है कि नहीं?

कोतवाल—समझ तो यही पड़ता है। अच्छा, क्षमा का प्रार्थी हूँ।

शीला—इसकी कोई बात नहीं है। बात यह है कि इतनी स्वच्छता-पूर्वक मुझसे कभी बात करने का अवसर न आया था, जिससे तुम्हारे विचार अदृढ़ थे। यों तो हो तुम भी बहुत बुद्धिमान्, किंतु इस मामले में चूक गए।

कोतवाल—यही बात हुई, राजकुमारीजी! अच्छा, अब मुझे आज्ञा प्रदान हो।

शीला—जाओ, देखो अपना चित्त कभी खिन्न न करना।

कोतवाल—अब क्या खिन्न करूँगा? भूल ही तो हो गई।

इस प्रकार कथनोपकथन करके कोतवाल वहाँ से प्रस्थित हुए, और अपनी अंतरंगा सखी को साथ लेकर राजकुमारीजी साधारणतया फिर बंदीगृह में पहुँचीं तथा बात होने लगी।

भर्तृहरि—कहिए, राजकुमारीजी! क्या आज्ञा है?

शीला—राजकुमार महोदय! यद्यपि मेरा परिचय आपसे प्राचीन नहीं है, फिर भी बिना नित्यप्रति देखे चित्त मानता ही नहीं। मैं यही सोचती हूँ कि जब कभी आप यहाँ से चले जायँगे, तब मेरी क्या दशा होगी? यह मैं भी नहीं चाहती कि बंदीगृह में आप एक दंड रहें, किंतु भविष्य मेरे लिये कैसा होगा, यह समझ में नहीं आ रहा है?

भर्तृहरि—अभी मेरी अवस्था छोटी है, मैं ऐसे प्रश्नों को भली भाँति समझ नहीं पाता हूँ। प्रसन्न मैं भी आपसे बहुत हूँ, किंतु भविष्य पर विचार कभी अब तक नहीं हुआ है।

सखी—बिना भविष्य सोचे वर्तमान पर भी तो उचित सम्मति नहीं बन सकती।

भर्तृहरि—है तो यथार्थ; अच्छा, राजकुमारीजी का प्रश्न क्या है?

शीला—प्रश्न मेरा नितांत साधारण है; बिना आपको देखे मेरा चित्त मानता नहीं, तथा बंदीगृह में आपका रहना पूर्णतया अनुचित है ही। इन दोनो बातों का सामंजस्य कैसे हो?

भर्तृहरि—आपको देखकर प्रसन्न मैं भी बहुत होता हूँ। सत्य बात तो यह है कि आपके यहाँ पधारने का जो समय है, उसकी प्रतीक्षा मेरे लिये कभी-कभी कष्टकारिणी तक हो जाती है।

सखी—तब फिर इसका प्रतीकार क्या है?

भर्तृहरि—इसका उत्तर मैं क्या दूँ? बंदीगृह में स्वेच्छा से तो हूँ नहीं; यहाँ से मुक्ति उपरिक महोदय की इच्छा अथवा मालव-विजय पर ही संभव है।

शीला—यह प्रश्न नहीं है; बंधन-मुक्ति आपकी मैं आज कर सकती हूँ, किंतु फिर यह प्राणप्रिय रूप देखने को कहाँ मिलेगा? आप अभी चिरकाल पर्यंत विवाह चाहते नहीं, और जब मेरे पितृ-बंधन में हैं, तब यदि किसी निबंध को स्वीकार करें, तो स्वेच्छा-पूर्वक नहीं माना जा सकता।

भर्तृहरि—बंधन-मुक्ति के विषय में तो आपने अपने पिता-जी से पहले ही कहा था, किंतु उन्होंने माना कब?

शीला—इसकी बीस युक्तियाँ लग सकती हैं।

भर्तृहरि—क्या कहती हो, राजकुमारीजी! क्या स्वपिता को धोखा देकर मुझे मुक्त करना चाहती हो? मैं ऐसा नहीं करूँगा।

सखी—तब फिर इस प्रश्न का सुलझाव कैसे हो?

भर्तृहरि—चाहता मैं भी इन्हें हूँ, किंतु न तो मेरी अवस्था अभी विवाह के योग्य है, न इनका समय बीता जाता है। जो होगा, समय के साथ होता रहेगा।

सखी—क्या यह उत्तर हृदय-हीनता का नहीं है?

भर्तृहरि—क्यों राजकुमारीजी! आप क्या समझती हैं?

शीला—मैं न तो आपको हृदय-हीन कह सकती हूँ, न भवदीय दर्शनों की लालसा मुझसे छोड़ी जा सकती है। विश्वास मुझे भी आपके प्रेम पर पूर्ण है, किंतु बंदीगृह में कोई निबंध नहीं हो सकता।

भर्तृहरि—यह कोई बात नहीं है। बंधन के समय में भी इच्छा के प्रतिकूल कोई मुझे बचन-बद्ध नहीं कर सकता। मैंने अब तक जो कुछ कहा है, और आगे जो कहूँगा, वह सब प्रसन्नता-पूर्वक कहा हुआ माना जायगा।

शीला—यदि आज्ञा हो, तो पितृचरणों पर वैवाहिक विचार प्रकट करके क्षण-भर में आपको बंधन-मुक्त करा दूँ।

भर्तृहरि—बंधन-मुक्ति की न तो मैं किसी से प्रार्थना करूँगा, न विवाह की आड़ में स्वच्छंदता प्राप्त करूँगा। यह विषय उनकी समझ अथवा भविष्य की घटनाओं पर निर्भर रहेगा।

पंद्रहवाँ परिच्छेद

अंतिम शक-पराजय, संवतारंभ और भर्तृहरि

(अ) भर्तृहरि का मोचन

जब राजकुमार भर्तृहरि के उज्जयिनी में बंदी होने का समाचार प्रतिष्ठान में पहुँचा, तब ज्येष्ठ भ्राता विक्रम पहले तो बहुत चिंतित हुए, किंतु धीरवर के अभाव में अपने मालव-सहपाठियों में से पाँच ऐसे वीरों को इन्होंने बुलवाया, जो रूप बदलकर चरों के काम में विशेषतया निपुण थे। उनमें से एक तो वृद्ध स्वामीजी बना, और शेष चारों महात्मा आदि बनकर परम शीघ्रता-पूर्वक उज्जयिनी को प्रस्थित हुए। पाँच विश्वास-पात्र सेवक विरागी बनकर इनके साथ गए। नगरी के समीप एक बहुत बड़ा दुर्ग था, जिसमें स्थान-स्थान पर चतुष्कादि बने थे, जिन पर नियत समयों पर प्रचुर संख्या में प्रहरी-गण देख-भाल किया करते थे। दिवस में वह संख्या चाहे कुछ न्यून भी हो जाती हो, किंतु रात्रि में बड़ी सावधानी रहा करती थी। नगरी का वाणिज्य बढ़ा-चढ़ा था। देश-विदेशों से लोग वहाँ आया करते थे। सामान्य वस्तुओं से लेकर रत्नों तक के व्यापारियों से नगर भरा रहता था। विजया दशमी के एक मास पूर्व से मेला लगता था। उस मास-भर श्रीमहाकालेश्वर के मंदिर में पूजा-अर्चा और भी विशेष भक्ति के साथ हुआ करती थी। इसमें सेठ-साहूकारों के अतिरिक्त उपरिक महोदय के कुटुंबी भी सम्मिलित होते थे। साधारण जनता से मंदिर भरा रहता था। विजया दशमी के दिन

भक्ति जनता में और भी उमड़ पड़ती थी। प्रातःकाल के एक प्रहर पूर्व से अर्द्ध रात्रि-पर्यंत दर्शनार्थियों से मंदिर खचाखच भरा रहता था। मेले के संबंध में देश-देश से साधु-महात्मा वहाँ प्रचुर संख्या में पधारा करते थे। कुछ के भोजनादि का प्रबंध सेठ-साहूकारादि करते थे, और शेष का राज्य की ओर से होता था। इन्हीं संतों में एक साधु-मंडली हमारे चरों की भी आकर शिप्रा-नदी के निकट धूनी रमाने लगी। महंत महोदय कभी किसी से कुछ माँगते न थे, वरन् यदृच्छा-लाभ-संतुष्टि का उदाहरण दिखला रहे थे। संध्या को भाँति-भाँति के बाजे बजवा-कर कीर्तनादि कराया करते थे, जिनमें जनता की अच्छी भीड़ लगा करती थी। इसमें राम, कृष्ण, शंकर आदि का यशोगान होता ही था, अथच नियत समयों पर व्याख्यानों द्वारा प्रवीण श्रोताओं को भी हिंदू-धर्म की महत्ता अवगत कराई जाती थी। इनमें एकाध ऐसे पंडित भी थे, जिनका सफल शास्त्रार्थ राज्य के पंडितों से भी हो चुका था। अतएव इस मंडली की महत्ता की धाक जनता अथच राजकर्मचारियों पर भली भाँति बैठ चुकी थी। एक अन्य महात्मा भी इनसे कोस-डेढ़ कोस की दूरी पर जा डटे। उनके साथ कोई विशेष सामग्री न थी। वह भी अंतरंग रूप से इसी मंडली के थे। उनके विषय में कुछ उज्जयिनी-निवासियों में यों वार्तालाप होने लगा—

एक व्यक्ति—भाई, तुमने कुछ जाना? उस वट की छाया में तीन दिवसों से एक महात्मा ठहरे हुए हैं। बड़े सिद्ध प्रतीत होते हैं। मैं बराबर उनके दर्शन करता आया हूँ।

द्वितीय व्यक्ति—अरे भाई! मैं भी देख चुका हूँ, वह तो आँख भी नहीं खोलते। (तृतीय व्यक्ति से) आप तो भाई, हमारे-जैसे विश्वासियों में हैं नहीं, क्या आपने भी कुछ देखा है?

तृतीय व्यक्ति—मैं तो बिना निश्चित प्रकार से कोई बात देखे

कुछ भी माननेवाला नहीं। अभी तक मैंने इन मंडलियों में कोई मुख्यता नहीं पाई।

इतने में वहाँ दो महात्मा भी वार्तालाप में सम्मिलित होते हैं।

एक महात्मा—बच्चा! तुम लोग ये बातें क्या जानो? ढूँढ़-खोज की आवश्यकता सभी बातों में होती है। कोई पाँच वर्ष हुए, मुझे एक महात्मा मिले थे। वह सिवा दुग्ध-फलादि के कुछ खाते ही न थे, वह भी अयाचित दिए जाने पर। यदि कोई अर्पित न करे, तो दो एक उपवास भी कर डालते थे।

द्वितीय महात्मा—स्वामीजी! क्या नित्यानंद महाराज का कथन तो नहीं करते हो? उनकी सेवा मैं भी कर चुका हूँ, बड़े ही सिद्ध योगी हैं।

प्रथम महात्मा—उन्हीं की तो बात कह रहा हूँ। तुम धन्य हो, जो उनकी सेवा कर चुके हो। अपना तो केवल उनसे सात-आठ दिनों सत्संग हुआ था।

द्वितीय व्यक्ति—स्वामीजी! उनका कुछ हाल तो बताइए।

द्वितीय महात्मा—कहाँ तक कहूँ? स्वयं गुरुजी उनको पूज्य समझते थे।

प्रथम महात्मा—जिसको उन्होंने जो कहा, वही हो गया।

तृतीय व्यक्ति—जिन महापुरुष को आपने देखा है, उनका कुछ वर्णन तो कीजिए।

द्वितीय महात्मा—वह गौर वर्ण के थे। श्मश्रु (डाढ़ी) नितांत श्वेत थी, किंतु मुख पर झुर्रियों का नाम न था। शरीर ऊँचा था, और हृष्ट-पुष्ट विशेष थे। नाक लंबी और नेत्र बड़े थे। वृद्ध होकर भी वृद्धत्व का शैथिल्य अणु-मात्र उनमें न था। कभी किसी से प्रार्थना का नाम नहीं, वरन् औरों को स्वर्णादि दे दिया करते थे। न-जाने कहाँ से लाते थे। दुखी, धन-हीनों का विशेष पालन करते थे। अपने

लिये सिवा भोजनाच्छादन के कुछ भी चाहना न रखते थे। धन-हीनों का भी मान राजाओं से कम न करते थे। उनकी दृष्टि सभी पर समान थी। सधनों से जो कुछ मिलता था, वह उसी दिन निर्धनों में उचित प्रकारेण वितरित करा देते थे।

तृतीय व्यक्ति—जो महात्मा वट-वृक्ष के नीचे ठहरे हैं, उनका आकार-प्रकार क्या स्वामी नित्यानंदवाले से मिलता तो नहीं है?

प्रथम व्यक्ति—वर्णन से तो यही भासता है कि संभवतः वही हों। उनके दर्शन बड़े भाग्य से होते हैं। दर्शकों के ठट्ट-के-ठट्ट लग जाते हैं।

द्वितीय महात्मा—इसी कारण से तो वह सबसे दूर ठहरते हैं, और जन-संसदि से भागते रहते हैं। सांसारिक लोग भक्तों का पालन तो करते हैं, किंतु याचनादि कर-करके उन्हें सताते भी बहुत हैं।

प्रथम महात्मा—हमारे गुरुजी ही को देखो। प्रार्थियों तथा भीड़ के मारे उनका योगाभ्यास तक कठिनता से सधता है। घर-बार छोड़ा, दुनिया छोड़ी, तो भी प्राण बचाना कठिन हो जाता है।

प्रथम व्यक्ति—महात्माजी! आप चलकर उन्हें दिखला दीजिए। संभवतः आप ही के सहारे हम लोगों को भी उनके दर्शनों का अपूर्व लाभ प्राप्त हो जाय।

प्रथम महात्मा—यदि कहीं वही निकल आए, तो यह नगरी धन्य हो जायगी। तुम लोगों का भाग्योदय हो जायगा। किंतु वह होंगे नहीं, क्योंकि ऐसे महात्मा यत्र-तत्र थोड़े ही फिरा करते हैं।

इस प्रकार वार्तालाप करके कुछ लोग उनके पास गए, तथा प्रणामादि करके बैठे। उन्होंने आशीर्वाद दिए। लोगों ने बहुतायत से भोज्य सामग्री उन्हें अर्पित की, किंतु उन्होंने अपने-भर को थोड़ा-सा ले लिया, और शेष सामान दीन-दुखियों को वितरित करा दिया। लोगों के साधारण प्रश्नों के उत्तर दे दिए, किंतु भविष्य-भाषण के

संबंध में यह ज्ञान ईश्वराधीन बतलाया। दो-तीन दिनों में वहाँ अधिक भीड़ जुड़ने देखकर आप चिप्रा-तट को छोड़कर एक ऐसे वृक्ष के नीचे जा बैठे, जो उस भवन से प्रायः पाँच सौ डग पर था, जहाँ राजकुमार भर्तृहरि बंदी थे। प्रथम वर्णित मंडलीवाले सब लोग भी इन्हीं के समीप, दो-तीन अन्य वृक्षों के नीचे जाकर जमे। जब राजकीय अश्व वाहन पर राजकुमार तथा राजकुमारी पलट रही थीं, तब दो महात्मा अकस्मात् रथ-पथ के निकट खड़े थे। उन्हें पहचानकर राजकुमार ने रथ रोकवाया, तथा राजकुमारी के सहित स्वामी नित्यानंद के पास जाकर साष्टांग दंडवत् की। राजकुमारी ने भी प्रणाम किया, और ये दोनों वहीं बिछी हुई एक चटाई पर बैठे, तथा स्वामीजी से वार्तालाप होने लगा।

भर्तृहरि—स्वामीजी महोदय ! स्मरण पड़ता है कि कहीं आपके दर्शन कभी मुझे हुए हैं। कहाँ ऐसा लाभ हुआ होगा ?

स्वामी नित्यानंद—मुझे तो बच्चा, स्मरण होता नहीं। कहीं तूने संभवतः देखा होगा। तुम बेटा ! कौन हो या धारा नगरी-निवासी ?

भर्तृहरि—आप तो, स्वामीजी ! सर्वज्ञ हैं। फिर मेरी जाति क्या पूछ रहे हैं ?

स्वामी नित्यानंद—सर्वज्ञ तो, बेटा ! केवल परमात्मा है। हम लोग भी योग-बल से न्यूनाधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, किंतु बिना श्वासा साधे नहीं।

राजकुमारी—तब यदि कष्ट न हो, तो कृपया ऐसा कीजिए, क्योंकि हम लोग आपसे कुछ पूछना चाहते अवश्य हैं। अपराध क्षमा हो महात्मन् !

स्वामी नित्यानंद—ऐसा मैं साधारणतया तो किया नहीं करता, किंतु तुम दोनो की उत्कंठा पूर्ण करने की इच्छा न-जाने क्यों मेरे चित्त में भी आ गई है। (ध्यान धरकर और श्वासा साध-

कर) अच्छा बेटा ! अब बतलाता हूँ कि तू मातृकुल से धारा-नगरी का अवश्य है, किंतु पितृवंश से मालव है। मेरा ध्यान संभवतः आज धोखा दे रहा है।

भर्तृहरि—क्या बात हुई महाभाग ! जो ध्यान कहता हो, उससे मुझे अवगत करने की कृपा अवश्य कीजिए; बहुत बाधित हूँगा।

स्वामी नित्यानंद—अच्छा सुन, आया तो राजकीय भव्य रथ पर चढ़ा हुआ, किंतु मेरी श्वासा बतलाती है कि तू इस समय भी बंदी है। इसी से मुझे तनिक भ्रम का आभास मिलता है।

राजकुमारी—नहीं महाराज ! श्वासा का उत्तर ठीक है। आप शेष कथन भी कर डालिए। संकोच की आवश्यकता नहीं। आपके-से संसार-त्यागी को निष्ठुर सत्य तक कह डालना चाहिए।

स्वामी नित्यानंद—अच्छा, कहता हूँ; मेरी श्वासा बोलती है कि यह बंदी कोई भावी राजकुमार होकर भी कुछ-कुछ मूर्ख है। अवस्था इसकी शत से ऊपर होगी, तथा या तो राजा होगा या महायोगी। बंदी होने से इसे दुःख नहीं है। इसी कारण प्रायः ढाई वर्ष और इसी प्रकार रहकर किसी महान्नृप की आज्ञा से मुक्त होगा। मैं नहीं कह सकता कि इस विचार में कहाँ तक तथ्यांश है ?

भर्तृहरि—बड़ा विचित्र भविष्य-भाषण है। अच्छा, अब राज-कुमारी के विषय में भी कुछ आज्ञा हो जाय।

स्वामी नित्यानंद—इनके विषय में मेरी श्वासा बतलाती है कि यह कहीं के किसी राजकुमार को चाहती हैं, जो इन्हें प्राप्त तो होगा, किंतु वह संबंध चिरस्थायी होगा या नहीं, इसमें कुछ संदेह है। मेरा ध्यान इन्हें बहुत बुद्धिमती बतलाता है। ऐसी स्त्रियाँ कुछ चंचला भी हो सकती हैं। यदि चांचल्य को नियमित रख सकेंगी,

तो इनका भी जीवन लंबा अथच सुख-पूर्ण होगा, अन्यथा इन दोनो बातों से वैपरीत्य का स्वल्प भय है, विशेष नहीं।

राजकुमारी—स्वामीजी! हम दोनो के विषय में आपके भविष्य-भाषण बड़े उत्साहप्रद, किंतु कुछ-कुछ संदिग्ध भी हैं। क्या कृपा-पूर्वक इन दोनो बातों के विषय में कोई उपाय भी बतला सकेंगे?

स्वामी नित्यानंद—ऐसे उपाय स्वामियों के हाथ में न होकर आप ही लोगों के स्ववश होते हैं। गुण-दोषों पर भले प्रकार मनन करके अपने-अपने भविष्य समुज्ज्वल बनाइए। ईश्वर कोई निश्चित भविष्य नहीं रचता। उपायों से उन्नत जीवन प्राप्य है। किंतु ऐसे उपाय इतरों के वश में न होकर स्वयं व्यक्तियों के अधीन रहते हैं। इनके विषय में पूजा-अर्चा की बातें ढोंग-मात्र हैं। मुख्यता आचरण की दृढ़ता और शुद्ध विचारों की है। मुझे जो कहना था, वह मैं कह चुका; अब तुम दोनो जा सकते हो।

यह सुनकर वे दोनो प्रणामानंतर रथारोही होकर बंदीगृह को चले गए। राजकुमार इन साधुओं के निमित्त कुछ भोज्य पदार्थ बनवाकर नित्यप्रति इनके पास इन्हीं के शिष्यों आदि द्वारा भेजने लगे। इस प्रकार स्वामीजी के कई अनुयायियों को बंदीगृह के आंतरिक स्थानों का अच्छा ज्ञान हो गया। प्रति संध्या को स्वामी नित्यानंदजी धार्मिक विषयों पर व्याख्यान दिया करते थे, जिन्हें सुनने को बंदीगृह के रक्षकगण भी आते थे, जिन पर स्वामीजी कृपालु रहते थे। एक रात को आपने अपने साथ के दो महात्माओं द्वारा जादू के बढ़िया काम दिखलवाए, जिन्हें देखने को बहुतेरे बंदी-गृह के रक्षक भी आए, क्योंकि स्वामी का स्थान उसके बहुत निकट था। यह जादू-प्रदर्शन डेढ़ पहर रात गए से प्रारंभ होकर एक प्रहर-पर्यंत अर्द्ध रात्रि से अर्द्ध प्रहर आगे तक चला। अंत में पंद्रह-बीस लोगों को स्वामीजी ने चौथाई-चौथाई टंक सोना उपहार में दिया।

इन सोना पानेवालों में पड़ता बहुत आधिक्य से बंदीगृह के रक्षकों का था। रक्षक लोग बहुत ही प्रसन्न हुए। राजकुमार तथा राजकुमारी से स्वामीजी ने जो वार्ता तथा भविष्य-भाषण किए थे, उनका प्रभाव इन प्रहरियों पर बहुत विशेष पड़ा था, क्योंकि स्थान उनसे बहुत निकट था। प्रहरी लोग परम भक्ति-भाव-पूर्वक आपकी सेवा किया करते तथा दर्शनों के निमित्त बहुत आधिक्य से जाया करते थे। साथ के महात्माओं का कथन था कि स्वामीजी जब चाहते थे, मिट्टी से सुवर्ण बनाते थे। विजया दशमी की रात को भी कथित क्रमानुसार आपने जादू का प्रदर्शन गुप्त भाव से किया, जिसमें बाहर की भीड़ न आ सकी, किंतु उसे देखने तथा स्वर्ण पाने की लालसा में बंदीगृह के रक्षक प्रहरी लोग पूर्ण संख्या में गए, द्रष्टागण मंत्र-मुग्ध की भाँति तन-मन की सुध भूले हुए उसी में पूर्णतया संलग्न रहे। इस बार जादू का काम पहले से भी कुछ विलंब के साथ प्रारंभ होकर एक प्रहर से कुछ अधिक समय-पर्यंत, बड़ी ही मनोरंजकता-पूर्वक, चलता रहा। द्रष्टागण बहुत ही प्रसन्न हो रहे थे।

उधर दो महात्मा तथा उनके पाँच अनुयायी चोरों के-से वेष बनाए, काले वस्त्र धारण किए हुए, धनुष-बाण, खड्ग-चर्म आदि से सुसज्जित, जादू-प्रदर्शन के कारण अरक्षित बंदीगृह के पीछे की दीवार पर गोह द्वारा दृढ़ की गई रस्सी के सहारे चढ़ने लगे। दोनो महात्मा ऊपर चढ़कर गृह के भीतर उतर गए, जहाँ उन्होंने एक शक प्रहरी को चैतन्य पाया। एक तीव्र बाण से उसका हृदय विदीर्ण कर दिया गया, और वह विना एक शब्द कहे हुए मरकर वहीं गिर पड़ा। तब राजकुमार के पास पहुँचकर इन्होंने उनको जगाकर गुप्त राजकीय चिह्न दिखलाया। वह यों भी इन दोनो मालवों को जानते थे। उनके लिये भी सारा सामान इनके साथ

था। अतएव परम शीघ्रता-पूर्वक उनकी दाढ़ी-मुच्छ मूड़कर रूप बदला गया, तथा तदनुसार काले वस्त्र, टोप आदि पहनाकर ये दोनो रस्सी के सहारे उन्हें बाहर ले आए। सब लोग रातोरात दो कोस भागते चले गए, जहाँ पहले ही से तुरगामी घोड़े प्रस्तुत थे, जिन पर चढ़-चढ़कर यह मंडली अवंति-आकर-प्रांतों की सीमा यथासमय पार कर गई। जब अपना राज्य आ गया, तब थोड़ा ही आगे जाने से इन्हें रक्षा के समुचित साधन मिल गए। अतएव इन सबों ने कृत्रिम रूप छोड़कर अपने साधारण वस्त्रालंकार धारण किए और शेष वाहनों पर चढ़कर ये सब यथासमय कुशल-पूर्वक प्रतिष्ठान पहुँचकर विक्रम के चरणों पर विनयावनत हुए। उन्होंने अनुज का मस्तक सूँघकर परम प्रेम-पूर्वक उन्हें अंक लगाया, तथा शेष सातों राजसेवकों को बार-बार धन्यवाद देकर उपहारों से भी प्रतिष्ठित किया।

उधर उज्जयिनी में जब नाटक का खेल समाप्त हुआ, तब तीनों शेष मालव-व्यक्ति अपना सारा सामान वहीं छोड़ ढोल से रातोरात भागे। डेढ़ कोस जाने पर इनके लिये भी तीन तीव्रगामी अश्व प्रस्तुत थे, जिन पर चढ़-चढ़कर ये तीनों भी मालव-राज्य की ओर पलायित हुए। उधर रात ही को बंदीगृह शून्य पाकर प्रहरियों ने हाहाकार मचाया, और महात्माओं को भी वहाँ न देख हयारोही हो-होकर प्रायः दो सै शक-सैनिक राजकुमार तथा महात्माओं की खोज में चारों ओर दौड़े। ये तीनो घोड़े मारे तुरता-पूर्वक जा रहे थे कि आठ पीछा करनेवाले शकों ने इन्हें देखा। अब उन्होंने घोड़े और तीव्र किए, तथा इन्होंने भी ऐसा किया। मालव-राज्य की सीमा केवल दो कोस रह गई थी। यहाँ भागने और पीछा करनेवालों में प्रचंड होड़ पड़ी हुई थी। शकों के अश्व कुछ तीव्रगामी थे, जिससे धीरे-धीरे वे निकटतर आते-जाते थे। जब अपनी सीमा केवल एक

काम रह गई, तब तीनो मालव-वीरों ने देखा कि अब बचाव संभव नहीं। अतएव वृक्षों के झुरमुटवाले एक स्थान पर इन तीनो ने उतरकर घोड़ों को तो वृक्षों से बाँध दिया, और स्वयं एक-एक झाड़ी की शरण ली। उसी स्थान पर शक-सवार जब पहुँचे, तब खाली घोड़े बँधे देखकर बड़ा आश्चर्य करने लगे! अनंतर उन्होंने भी अपने-अपने घोड़े वहीं बाँधकर दो व्यक्तियों को तो हयों की रक्षार्थ छोड़ा, तथा शेष छओं लोग शत्रुओं को यत्र-तत्र खोजने लगे। इधर मालव-वीरों ने तीन सर्वोत्तम घोड़े सोचकर झाड़ी ही से दोनो रक्षक शत्रुओं को कठिन नाराचों का लक्ष्य बनाया, तथा झपट-झपटकर शकों के देखते हुए आठ घोड़े छोड़ दिए, जो यत्र-तत्र भागे, तथा तीन घोड़ों पर स्वयं बैठ-बैठकर तेज़ी से मालव-राज्य का रास्ता लिया। शक-सवार हाथ मल-मलकर रह गए। अनंतर बड़े कष्ट के साथ घोड़ों को किसी प्रकार पकड़कर वे छओ सवार उज्जयिनी पलट गए। इधर मालव-योद्धाओं ने अपने स्वामी विक्रम की सेवा में उपस्थित होकर सारा विवरण सुनाया, जिससे वह बहुत ही प्रसन्न हुए। इन तीनो को भी प्रचुर पुरस्कार प्राप्त हुआ।

(ख) उज्जयिनी-विजय और शक-शक्ति का पतन

उज्जयिनी के शकों ने स्वयं शत्रुता का पूर्ण व्यवहार मालवों से आरंभ कर दिया था, जिससे मालव-पति ने भी राजनीतिक लिखा-पढ़ी अनावश्यक समझकर आक्रमण का प्रबंध बाँधा। इधर डेढ़ लक्ष सेना सन्नद्ध होकर चलने को हुई, और उधर बहुतेरे चतुर चर आकर-अवंति में विश्वास-पात्र वीरों के पास भेजे गए। उज्जयिनी के दुर्ग में भोजन, वस्त्र, जलादि का प्रबंध दस सहस्र वीरों के लिये दो वर्षों तक को सदैव प्रस्तुत रहता था, किंतु साधारण दशा में रहते वहाँ केवल पंचशत शक-वीर थे। आवश्यकता के समय तुरंत बृहदा-

कर सेना भेजी जा सकती थी। जो सैनिक उस दुर्ग में साधारणतया रहते थे, उनके मित्र सैकड़ों मालव थे। समय ताड़कर एक नियत तिथि को सात सौ सशस्त्र मालव-वीर अवंति-आकर के अनेक स्थानों से दुर्ग में विविध व्याजों से चले गए, तथा प्रायः दस सहस्र सशस्त्र मालव उज्जयिनी में यत्र-तत्र टिक गए। क्षत्रिय लोग कहीं आने-जाने में साधारणतया सशस्त्र रहते ही थे, जिससे कोई संदेह न हुआ। अनंतर पहले दुर्ग के फाटक पर अधिकार करके इन लोगों ने उसे दृढ़ता के साथ स्ववश किया, और तब एकाएकी सैनिक लोगों को मारना, काटना, बंदी करना आदि प्रारंभ कर दिया। वे लोग युद्धार्थ प्रस्तुत न थे, अतः शीघ्रतापूर्वक शत्रुओं के अधिकार में आ गए। प्रायः आधी सेना कट गई, और शेषार्द्ध दुर्ग के बंदीगृह में जा विराजी। नगर में राजन्य-वर्ग ने इसका कुछ पता न पाया। उधर गढ़-विजेताओं ने युक्तिपूर्वक शीघ्रता से काम करके दसो सहस्र नगरस्थ मालव-वीरों को फाटक खोलकर गढ़ में कर लिया। जब उपरिक महोदय को इस दुर्घटना की सूचना मिली, तब सेना सन्नद्ध करके उन्होंने गढ़ पर आक्रमण किया, किंतु मालव-गढ़-रक्षक पहले ही से इसके लिये सन्नद्ध थे, अतः डटकर युद्ध होने लगा, और शक आक्रमणकारी सेना तुरता के साथ कुछ कर न सकी।

इधर प्रतिष्ठान से डेढ़ लक्ष प्रचंड मालव-सेना चल चुकी थी, जो शीघ्रता के साथ पहुँचकर उज्जयिनी को घेरने लगी, तथा दोनो ओर से प्रचंड युद्ध होने लगा। अपने अग्रज भ्राता से प्रार्थना करके इस आक्रमणकारी सेना का नेतृत्व स्वयं भर्तृहरि ने लिया था, यद्यपि उनकी सहायता को भद्रीय वर्गों में से पाँच परम प्रवीण मालव-वीर लगा दिए गए थे, जिसमें दल-संचालन-चातुर्य तथा आक्रमण में कोई भूल न होने पाए। उधर दुर्ग छिन जाने से

उपरिक हगाम ने पाँच तुरगामी साँढ़िनी-सवारों को कई मार्गों से मथुरा भेज दिया था, जहाँ से सहायतार्थ एक लक्ष सेना स्वयं षोडास महाक्षत्रप के आधिपत्य में चली। इसका मार्ग अवरुद्ध करने को विक्रम ने डेढ़ लक्ष सेना स्वयं अपने आधिपत्य में नियत की। इसमें से पचीस-पचीस सहस्र लाट तथा उत्तरी गुजरात राज्यों से आई थी, और एक लक्ष पतिस्थान की थी। इसके अतिरिक्त सौराष्ट्र, सिंध और तक्षशिलावाले प्रांतों के रक्षणार्थ समुचित संख्या में मालव-सेना उधर प्रस्तुत रही, अथच मालव-प्रांतों में भी कुछ-कुछ सेना बनी रही। उधर वीरवर को कुनिंद में प्रार्थना भेजी गई कि जब शक-दल मथुरा से अवंति-रक्षणार्थ दक्षिण को चले, तब पश्चिम से कौनिंद सेना उस देश पर आक्रमण करे। विक्रम ने उपर्युक्त डेढ़ लक्ष सेना से जाकर उज्जयिनी के लिये षोडास का मार्ग अवरुद्ध किया। जब माथुर शक-सेना इधर पहुँची, तब मार्ग ही में ड्योढ़ी मालव-सेना से युद्ध होने लगा। एक तो विक्रम का रण-कौशल अपूर्व था, दूसरे उनकी सेना भी विशेष थी, जिससे शक-सेना कुछ कर न सकी। उधर मथुरा पर अधिकार करती हुई कुनिंद-सेना ने भी शीघ्रता-पूर्वक बढ़कर उत्तर से उपर्युक्त एक लक्ष शाक-दल को दबाया। सब ओर से घिरकर षोडासीय शक-दल मूली-गाजर की भाँति कटने लगा। उन्हें भागने का भी कोई मार्ग न मिला, और केवल तीन दिनों के युद्ध में प्रायः पचहत्तर सहस्र माथुर सेना कट गई, तथा शेष पच्चीस सहस्र सेना ने विवश होकर आत्मसमर्पण कर दिया। अपनी स्त्री और पुत्र-सहित स्वयं षोडास भी बंदी हो गया। विक्रम ने चित्रा तथा उनके पुत्र को मान-पूर्वक प्रतिष्ठान भेज दिया, तथा षोडास उज्जयिनी के दुर्ग में बंदी बनाया गया। इधर भर्तृहरि की सेना ने सब ओर से घेरकर उज्जयिनी को भली भाँति दबाया।

उपरिक हगाम को माथुर सहायता न मिल सकी। और उसके पास मालव दल का सामना करने को समुचित संख्या में सेना थी न सामग्री। दुर्ग जा ही चुका था। नगर की रक्षा भीतर से असंभव समझ उसने बाहर निकलकर एक दिन-भर प्रचंड युद्ध किया, जिसमें उसकी प्राय: साठ सहस्र सेना कट गई, और शेष को कादरता-पूर्वक आत्मसमर्पण करना पड़ा। हगाम उसी बंदीगृह में बंद हुआ, जिसमें उसने भर्तृहरि को रक्खा था। उज्जयिनी पर फिर मालवों का अधिकार हुआ।

(स) संवत्सरारंभ

समय पर स्वयं विक्रमादित्य ने वहीं पधारकर पिता-पितामहादि के प्रासाद में दरबार किया, जिसमें पाँचों प्रांतों के सारे-के-सारे राजप्रतिनिधि एकत्र होने में पूर्णतया आह्लादित हुए। दक्षिणी जयपुर से कुछ मालवों ने अपने में से एक वृद्ध वीर के द्वारा एक बढ़िया धनुष तथा निषंग सम्राट् विक्रम को समर्पित कराया। उसका विवरण इस प्रकार कराया गया—

वृद्ध मालव—देव! यह वही धनुष और वही निषंग है, जिसके प्रचंड बाण के आघात से जगद्विजयी यवन सम्राट् अलिकसुंदर (सिकंदर या अलेक्ज़ेंडर) आहत हुआ था। इसी आघात से डेढ़ ही वर्षों के भीतर कोइ क़ाफ़ के निकट उस पराक्रमी वीर का शरीरांत हुआ, और केवल छ वर्षों-भर में भारत से तत्कालीन यवन-प्रभाव पूर्णतया उठ गया।

विक्रम—(प्रसन्नता-पूर्वक धनुष और निषंग ग्रहण करके, बाहर निकलकर उस पर उसी निषंग का एक बाण चढ़ा एक तत्काल रक्खे हुए लक्ष्य का निपात करते हैं। अनंतर फिर आसन पर विराजते हैं, और सारा दरबार साधुवाद से गूँज जाता है।)

वीरवर ! उस समय का कुछ और भी मालव-यश सुनाने की कृपा कीजिए।

वृद्ध मालव—देव ! आज से २६६ वर्ष हुए, जब यवन अलिकसुंदर ने अपना त्रैवार्षिक भारतीय आक्रमण प्रारंभ किया था, जिसका विषय सबको ज्ञात होने से वर्णित होना अनावश्यक है। उस काल अपना मालव-संघ दक्षिणी पंजाब और उत्तरी सिंध में शासक था। क्षुद्रकों से अपना पूरा मेल था, यहाँ तक कि यह मालव-क्षुद्रक-संघ कहलाता था। अनंतर मौर्य प्राधान्य के समय उनके प्रबल प्रताप के कारण अपनी शक्ति न्यूनाधिक बल-हीन रही। आजकल अपना फैलाव दक्षिणी जयपुर, प्रतिष्ठान, कर्कोटक, आकर और अवंति पर था। दैव-वश अंतिम दोनो प्रांत शकों ने छीन लिए थे, और कर्कोटक अपना केंद्र रह गया था। विराजे आप प्रतिष्ठान में रहे। सौराष्ट्र, सिंध तथा तक्षशिला जीतकर अपनी शक्ति को आपने अभूतपूर्व उन्नति अवश्य दी, किंतु आकर-अवंति, विशेषतया राजधानी उज्जयिनी का निकल जाना अपने सारे भाइयों को सदैव काँटे-सा चुभता रहा। यदि संबंध के कारण षोडास पर आप अनहोनी-सी दया न किए होते, तो अब तक न-जाने कब की उज्जयिनी दोनो प्रांतों-सहित अपने अधिकार में आ चुकी होती। फिर भी जो हुआ, अच्छा ही हुआ।

सोमदेव—मैं समझता हूँ, आज से कृतराष्ट्र के अतिरिक्त आपको शकारि की भी उपाधि धारण करनी तथा नवीन संवत् चलाना चाहिए। नंद-संवत् प्रायः सौ वर्ष पूर्व तक चलता गया। अनंतर अब घर जानी मन मानी की हो रही है। मेरा प्रस्ताव है कि आज से आप अपने नाम पर नवीन संवत् चलाइए।

इन दोनो प्रस्तावों को सभा हर्ष-ध्वनि के साथ सर्व-सम्मति से स्वीकार करती है।

विक्रम—पहले आप सज्जनों ने मुझे कृतराष्ट्र की उपाधि से विभूषित किया था। मैं समझता हूँ, यह संवत् विक्रमीय नहीं, वरन् कृत कहलाये। यह नाम आप सज्जनों को परम प्रिय है, तथा मुझे भी। मालव-संवत् तो है ही, किंतु मुझे कृत नाम विशेष प्रिय है।

वृद्ध मालव—मालव सबका मिलाकर नाम है। हम सब-के-सब प्रस्तुत थे ही, तथापि शकों के सामने हमारा कुछ किया-धरा न हुआ। जब से आपने धनुष उठाया, तभी से न केवल अपने प्राचीन पाँचो प्रांत उपलब्ध हो गए हैं, वरन् सौराष्ट्र, सिंध, तक्षशिला और मथुरा के भी राज्य प्राप्त हुए हैं, जिससे अपनी शक्ति अब दो साम्राज्यों के बराबर होकर कम-से-कम एक साम्राज्य के रूप में हो ही गई है। जो देश मिलकर शक-साम्राज्य कहलाते थे, वे सब अब अपने पास हैं ही, तथा सारे प्राचीन मालव-प्रांत भी अक्षुण्ण हो गए हैं। यह शुभ दिन हम भाइयों को आप ही के भुज-बल तथा कौशल से देखने को मिला है। इन कारणों से मेरा भी प्रस्ताव है कि यह कृत संवत् कहलाए।

सारी सभा हर्ष-ध्वनि के साथ यह प्रस्ताव भी स्वीकार करती है। अब दरबार समाप्त होता है, और सारे मालव-प्रतिनिधि 'मालवानां जयः' का उच्च निनाद करते हुए अपने-अपने स्थानों को पधारते हैं। अनंतर महारानी चित्रा और महाक्षत्रप षोडास के विषय में विक्रम, रूपरेखा, हर्नेदुदेवी, सोमदेव, वीरवर तथा उत्तर गुर्जरपति बैठकर मंत्रणा करते हैं। सबकी सम्मति ऐकमत्य के साथ यही होती है कि शक भारत में राज्यकर्ता के रूप में नहीं रक्खे जा सकते; हाँ, उनमें से जो शक-प्रजा भारतीय बनकर यहाँ रहना चाहें, वह रख ली जाय, और शेष लोग भारत से पश्चिम-वाले शक-स्थान भेज दिए जायँ। चित्रादेवी को बोलवाकर उनकी

सम्मति ली गई, तो उन्होंने अपने पति को छोड़कर कोई महाराज्य ले भारत में न रहना चाहा, वरन् उन्हीं के साथ शकस्थान जाना न केवल स्वीकार, वरन् पसंद किया। अपने पति षोडास से मंत्र करके उन्होंने यही प्रकट किया कि जो लोग शकस्थान जाना चाहते थे, उन्हीं के साथ वे दोनो वहीं चले जायँगे। यही किया गया, और प्रायः लाख-दो लाख शक उन्हीं के साथ चले गए, और शेष भारतीय बनकर यहीं शांति-पूर्वक रहने लगे।

(ड) भर्तृहरि और शील।

अब राजधानी प्रतिष्ठान से फिर उज्जयिनी में उठ आई, और उचित प्रकार से पूर्ण न्याय के साथ लोकतंत्र परिचालित होने लगा। राजा गंधर्वसेन का राज्य १३ वर्ष चला था, तथा उज्जयिनी में शक-शासन चौदहवें वर्ष समाप्त हुआ। उज्जयिनी और मथुरा का परम प्रचुर कोष विक्रम के हाथ आया, तथा सामग्री भी अत्यंत बाहुल्य से मिली। वीरवर ने रक्षा तो पूरी की, किंतु प्रकट कारणों से अपने लिये कुछ भी न लिया। उधर के रथ, गज, अश्वादि मालव-दल के काम आने लगे। इधर राजकुमारी शीला ने पूर्ण तल्लीनता के साथ अपने पिता हगाम की सेवा बंदीगृह में की। जितना समादर भर्तृहरि का उपरिक के समय में हुआ था, उतना ही इन्होंने हगाम का कराया। एक दिन अपनी अंतरंगा सखी को भर्तृहरि की सेवा में भेजकर शीला ने मिलने की इच्छा प्रकट की। उचित समय पर राजकुमार वहीं पधारे, और सखी के सामने शीला से इनका वार्तालाप एकांत में होने लगा।

भर्तृहरि—कहिए देवीजी! क्या आज्ञा है?

शीला—इसी नगर के इसी स्थान पर मेरा आपका परिचय आरंभ हुआ जो, यदि ऐसा कहा जा सके तो, प्रेम अथवा कम-से-कम

शुद्ध मित्रता में परिपक्व हुआ। पूज्य पिता के राज्य में इसी नगर में हम आप दिव्य रथारोही हो-होकर नित्यप्रति वायु-सेवनार्थ परिभ्रमण तथा विविध प्रकार से प्रेम-पूर्ण संभाषण किया करते थे। इन घटनाओं को तीन ही मास हुए होंगे। अब मैं स्वयं आपके राज्य में इसी पुनीत स्थान में उपस्थित हूँ। देखूँ, इस पूर्णतया पद-परिवर्तन से हमारे आपके आचरणों में कोई अंतर आता है या नहीं? स्थानादि सब वही हैं। हम दो में से एक राज्याधिकारी तथा दूसरा बंदी तब था और अब भी है। इस प्रकार देखने से कोई भी अंतर नहीं रहता। आशा है, फल भी वैसा ही होगा, जैसा पहले था। इस प्रश्न का उत्तर मैं आपसे चाहती हूँ।

भर्तृहरि—उत्तर तो आपने स्वयं दे दिया है, मेरे कुछ कहने की आवश्यकता कहाँ रही? फिर भी कहता हूँ कि मेरा भी वही उत्तर है, जो आपने दिया।

शीला—शतशः धन्यवाद! अच्छा, अब इसके आगे क्या होगा?

भर्तृहरि—आगे तो केवल विवाह का प्रश्न रह जाता है, जिसके विषय में अभी यद्यपि मैं अपने को वयस्क नहीं समझता, फिर भी आपकी दशा के परिवर्तन से यह अब रुक नहीं सकता। यदि होना होगा, तो शीघ्रता-पूर्वक होगा। मुझे इसमें भी आपत्ति नहीं, किंतु न तो मैं अभी वयस्क हूँ न पूर्णतया स्वतंत्र, इतनी ही कठिनता है।

शीला—क्या आप समझते हैं कि मालव-पति इसकी सम्मति न देंगे?

भर्तृहरि—संभव सभी कुछ है, यद्यपि उनके स्वभाव की मृदुता से निश्चय-सा है कि मेरी इच्छा के प्रतिकूल वह कुछ न कहेंगे।

शीला—तब फिर आप आगा पीछा क्या करते हैं?

भर्तृहरि—क्या उपरिक महोदय को कोई आपत्ति नहीं है?

शीला—उन्होंने तो पहले भी मुझे स्वतंत्रता-सी दे रक्खी थी।

पूछ भी लूँगी। इस विषय में घोर स्थिति-परिवर्तन से कोई वास्तविक आशंका शेष नहीं है।

भर्तृहरि—अच्छा, फिर मैं दादाजी से आज्ञा-प्राप्ति के विषय में बिनती करूँगा।

इस प्रकार संलाप करके राजकुमार महोदय ने मालव-पति से आज्ञा माँगी, तो उन्होंने अपनी ओर से सहर्ष आज्ञा देते हुए हर्नेंदुदेवी से भी बात करने की सम्मति दी। समय पर भर्तृहरि उन देवीजी से आलाप करने लगे।

भर्तृहरि—भाभीजी! आप शक-कन्या हैं तथा शीला भी। यदि उनके साथ विवाह करने का मैं विचार करूँ, तो आपकी क्या आज्ञा हो?

हर्नेंदुदेवी—देवर राजा! मैं आपकी रुचि के प्रतिकूल कोई आज्ञा देनी योग्य नहीं समझती, किंतु सम्मति मेरी यह है कि मैं उस कन्या के आचरणों पर न्यूनाधिक संदेह करती हूँ। मेरे इस धृष्ट भाषण को क्षमा कीजिएगा। मेरी सम्मति इस संबंध के प्रतिकूल है, यद्यपि आज्ञा कुछ नहीं है।

भर्तृहरि—सौंदर्यादि में तो वह अच्छी तथा चातुर्य में भी मुझसे न्यून नहीं दिखती। किसी बात की कमी तो है नहीं, केवल आचरण का प्रश्न रह जाता है। जब मैं उसके राज्य में बंदी था, तब उसने मुझे हर प्रकार से प्रसन्न रखने का प्रयत्न किया था। बंधन-मुक्त करने को भी प्रस्तुत थी। इन्हीं बातों से मैं उससे संतुष्ट बहुत हूँ।

हर्नेंदुदेवी—बातें तो सब ठीक हैं, किंतु आचरण का प्रश्न सबसे कठिन है। समय पर आप ही जीवन से उदासीन हो सकते हैं। मुझे कौन-सी कठिनाई है? तुम्हारी ही प्रसन्नतार्थ कहती हूँ, देवर राजा!

भर्तृहरि—क्या आपको उनके आचरण के प्रतिकूल कुछ ज्ञात है?

हर्नेंदुदेवी—सो तो नहीं है, किंतु आभास होता है।

भर्तृहरि—केवल संदेह पर क्या किसी को एकदम बुरा समझना चाहिए? माताजी! यदि प्रतिकूल आज्ञा तक दे दीजिए, तो मैं मानने को प्रस्तुत हूँ।

हर्नेंदुदेवी— आज्ञा मैं नहीं दे सकती, केवल संदेह-मात्र है।

भर्तृहरि—तब फिर विवाह की आज्ञा दे दीजिए।

हर्नेंदुदेवी—मैं तुम्हें रोकती नहीं, देवर राजा! अप्रसन्न भी न हूँगी। तुम्हारे ही भविष्य का भय है। आज्ञा मैं नहीं दे सकती।

भर्तृहरि—यह भय छोड़ दीजिए।

हर्नेंदुदेवी—सो तो छूटेगा नहीं, किंतु आपत्ति हटाए लेती हूँ।

भर्तृहरि—अब तो आप बहुत अच्छी आर्य-भाषा बोल लेती हैं।

हर्नेंदुदेवी—बहुत दिनों से प्रयत्न भी तो करती आई हूँ।

अनंतर भ्राता से पूछकर भर्तृहरि ने शीला से उसके पिता का आशय जानकर स्वीकार-सूचना दे दी, तथा समय पर दोनो का विधि-पूर्वक विवाह हो गया। हगाम ने कन्यादान करके प्रचुर मात्रा में दायज दिया, तथा वह स्वच्छंद कर दिया गया। अनंतर पुत्री और जामातृ को आशीर्वाद देकर षोडास की सम्मति से वह भी शकस्थान चला गया। इधर महात्मा भर्तृहरि ने इस स्त्री पर अपने से भी विशेष प्रेम रक्खा। समय पर उज्जयिनी के कोतवाल का पद रिक्त हो गया, जिस पर शीला के प्रयत्न से भर्तृहरि के इच्छानुसार भूतपूर्व कोतवाल रुचिराश्व प्रतिष्ठित किया गया। यद्यपि पति-प्रेम के महदाधिक्य से शीला प्रसन्न बहुत थी, तथापि कोतवाल से अपना प्राचीन प्रेम और संबंध भुला न सकी, वरन् भर्तृहरि से उसी को विशेष चाहती थी, यहाँ तक कि वह रानी को स्वप्राणों

से भी अधिक प्रिय था। इसका कारण सोच निकालना सुगम नहीं है। कुछ पाश्चात्य लेखकों का विचार है कि स्त्री अपने सर्व-प्रथम प्रेमी को कभी भुला नहीं सकती, यहाँ तक कि उसके कितने ही सह्य अपकारों को भी भुलाकर सर्वोत्कृष्ट प्रेम उसी को अर्पित करती रहती है। वे लोग कहते हैं कि शारीरिक शक्ति से भी स्त्रियों का प्रेम पति पर विशेषता पाता है। इन दोनो कारणों के अतिरिक्त कोई तीसरा कारण ध्यान में नहीं आता, जिससे शीला भर्तृहरि के अमोघ प्रेम का वास्तविक आदर न कर सकी, और उसका विशेष प्रेम कोतवाल ही पर रहा।

सोलहवाँ परिच्छेद

विक्रमीय राज्य और स्वर्गारोहण

(अ) तपश्चर्या और वरदान

सम्राट् विक्रमादित्य ने शकों से जीत में प्रचुर धन पाकर उसकी प्रसन्नता मनाने को राजसेवकों में परम उदारता-पूर्वक पुरस्कारों का वितरण किया, अथच एक वर्ष के लिये फिर प्रजा को कर-मुक्त कर दिया। आपने यह नियम-सा बना लिया कि प्रति पाँचवें वर्ष एक साल को सारी प्रजा कर-मुक्त रहे। इन कारणों से जनता बहुत ही संपन्न तथा राजभक्त रहती थी। आप विद्वानों, कलाविदों, कवियों आदि का मान भी बहुतायत से करते थे। महाकवि भास द्वारा विरचित विविध नाटकों का पठन तो होता ही था, उनके संसर्ग में नाटक भी प्रायः खेले जाते थे, जिनके लिये नाट्य-गृह प्रस्तुत किए गए थे। प्रवीण चित्रकारों द्वारा अच्छे-अच्छे पर्दे बनवाए गए, तथा कई बहुत ही चित्ताकर्षिणी यवनिकाएँ भी बनीं। भास कवि का भी मान बहुत किया जाता था, यहाँ तक कि उनके साथ मित्रता का-सा व्यवहार था। आपने एक बार उनसे मंत्र किया कि शैव होकर भी इन्होंने न तो कभी तपस्या की, न उत्कृष्ट योग-साधन, यहाँ तक कि महाकालेश्वर-से प्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग की कभी पूर्ण प्रार्थना न हुई। इस प्रश्न पर यों वार्तालाप होने लगा। वहाँ दोनो राजमहिषियाँ भी प्रस्तुत थीं।

भास कवि—देव! राज्य और योग प्रायः अनमिल विषय हैं।

अब तक आपने दोनो महिषियों-सहित जितना कुछ योग-साधन किया है, वह एक प्रकार का व्यायाम-मात्र है, जिससे आप तीनो महात्माओं के शरीर शुद्ध और सबल रहते आए हैं।

विक्रम—पूर्ण योगी तो मैं हो नहीं सकता, न इन दोनो देवियों को इनके वर्तमान प्रयत्नों से आगे बढ़ने देना चाहता हूँ, क्योंकि जितना योगाभ्यास ये दोनो करती हैं, वह इनके लिये पर्याप्त है। तथापि मेरी इच्छा यह है कि एक बार कुछ काल के लिये महाकालेश्वर के विधिवत् पूजन तथा योग-साधन में विशेष वृद्धि हो। आपकी क्या सम्मति है ? कितने दिनों तक इसमें प्रवृत्त रहकर संतोष हो सकेगा ?

रूपरेखा—आप अब अनावश्यक बातों की ओर निष्कारण चित्त दौड़ाते हैं। इन बेकार प्रयत्नों में क्या रक्खा हुआ है ? क्यों न बहनजी !

हर्नेदुदेवी—यही बात है, जीजीजी ! (विक्रम से) वायु-मंडल में यह अनावश्यक दुर्ग-रचना क्यों चाहते हैं ? क्या पेट कूटकर पीड़ा उपजानी है ?

विक्रम—पीड़ा का इसमें क्या प्रश्न है ? आज पंद्रह वर्षों से राज-भार वहन करता चला आता हूँ। यदि साल-छ मास का अवकाश लेना चाहूँ, तो क्या इतना भी अवसर अलभ्य है ?

हर्नेदुदेवी—ऐसी बातें रुचिकर तो हैं नहीं; किंतु यदि करना ही चाहिए, तो हम दोनो राज्य-भार सँभालने को सन्नद्ध न होंगी, क्योंकि ऐसी दशा में हम आप ही की व्यक्तिगत रक्षा अपना धर्म समझेंगी। कोई बात है नहीं, किंतु चिंता न छोड़ेंगी।

रूपरेखा—यही बात है, बहनजी !

विक्रम—(भास कवि से) आपने मेरे प्रश्न का उत्तर न दिया।

भास कवि—जब देवियों का चित्त दृढ़ता नहीं पकड़ता, तब

इसकी आवश्यकता ही क्या है ? है कोई भय नहीं, वरन् मानसिक तथा शारीरिक उन्नति की भी आशा है, तथापि जैसा कुछ चल रहा है वही क्या कम है कि अनावश्यक कौटुंबिक उद्विग्नता उत्पन्न की जाय ?

विक्रम—जब भय का कोई संदेह नहीं, तब ये देवियाँ भी ऐसी अदृढ़चित्त नहीं हैं, कि आपत्ति किए ही जायँ। रहा राज्य-प्रबंध, उसे भर्तृहरि उठा सकता है। अब वह भी वयस्क है।

रूपरेखा—(भास कवि से) जब कोई भय अथवा संदेह तक की बात नहीं, तब आप कथन कीजिए ; हम दोनो की आपत्ति पर विचार छोड़ दीजिए।

भास कवि—मेरी तो सम्मति ऐसी है कि यदि देव केवल छ मास-पर्यंत राज्य-चिंताओं को पूर्णतया तजकर योग-साधन तथा शैव पूजन में संलग्न हों, तो धार्मिक तथा दैहिक लाभ कुछ हो ही।

विक्रम—उसके विधानों का बतानेवाला कौन होगा ?

भास कवि—इस विषय को मैंने गुरुवर से जानकर अवगत कर लिया है।

विक्रम—तब फिर कोई कठिनता नहीं है। जब से कहिए, आरंभ हो जाय। कई योगासन मुझे अवगत हो ही चुके हैं, कष्ट कदाचित् न पड़े। दोनो देवियाँ उचित समयों पर पधार सकेंगी।

भास कवि—यही बात है। योग-साधन के समय मेरे अतिरिक्त और कोई साथ न होगा; इतर समयों में कोई भी आ सकता है। किंतु राज्य-चिंता क्या किसी भी चिंता का पूर्ण परित्याग आवश्यक है। मानस, वाचिक और कायिक ब्रह्मचर्य रहेगा ही।

विक्रम—सो तो बना-बनाया है। अच्छा, शीघ्र आरंभ हो जाय।

भास कवि—जो आज्ञा।

अनंतर विक्रम ने भ्राता भर्तृहरि का स्मरण कर एकांत में बात की।

विक्रम—भैया ! मैं मित्रवर भास की सम्मति से छ मास के लिये राज्य-चिंता से विरक्त होना चाहता हूँ। इतने समय-पर्यंत यहीं रहकर महाकालेश्वर के मंदिर में तपश्चर्या में लीन हूँगा, तथा तुम्हें सारे मालव-साम्राज्य का पालक बनाता हूँ। आशा है, इतने काल-पर्यंत तुम इन कामों को योग्यता-पूर्वक चलाओगे। अब तुम वयस्क हो, जिससे ऐसे कार्यों में तुम्हें भाग लेना चाहिए भी।

भर्तृहरि—मैंने तो अब तक अध्ययन तथा यौगिक क्रियाओं में ही विशेष चित्त लगाया है। इतने बड़े साम्राज्य के पालन का भार मुझे अपने लिये बहुत गुरु कार्य समझ पड़ता है।

विक्रम—लोकतंत्र-परिचालन के कार्य का भी अनुभव मैंने तुम्हें न्यूनाधिक कराया है ही ; उत्साह-दौर्बल्य में क्यों पड़ते हो ?

भर्तृहरि—क्या आपकी सम्मति में मुझसे यह महाकार्य चल जायगा ?

विक्रम—चल क्यों न जायगा ? हर कार्य में उत्साह-धारण योग्य है।

भर्तृहरि—अच्छा, फिर माताजी की भी सम्मति समय पर ले लिया करूँगा। वह सब जानती-समझती हैं।

विक्रम—जानती तो सब कुछ हैं, किंतु पिताजी के पीछे से इन कार्यों में कभी पड़ना नहीं चाहतीं।

भर्तृहरि—तो दोनो राजमहिषियों से आवश्यकतानुसार मंत्र मिल जायगा।

विक्रम—उन्होंने भी राज्य-चिंता छोड़कर इतने समय-पर्यंत मेरी केवल वैयक्तिक सेवा करने का निश्चय किया है।

भर्तृहरि—तब फिर क्या हो ? कार्य तो मैं करूँगा, किंतु समय-कुसमय पर कोई पूर्ण विश्वास-पात्र व्यक्ति पास रखना चाहता हूँ।

क्या ऐसा संभव है कि तीन-तीन मास राजा सोमदेवजी तथा राजा वीरवरजी यहाँ विराजने की कृपा कर सकें ?

विक्रम—यह विचार उचित है। राजभार पालक रूप में रहेगा तुम्हीं पर, किंतु सम्मति-प्रदानार्थ ये दोनों महोदय तीन-तीन मास के लिये तुम्हारे सहायक बने रहेंगे। आज ही उनकी सेवाओं में प्राभृतक भेज दूँगा। अब तो कोई चिंता नहीं है ?

भर्तृहरि—यदि किसी कारण-वश मैं अशक्त हो जाऊँ, तो कार्य-भार किस पर छोड़ सकूँगा ? इसकी भी आज्ञा हो जाय।

विक्रम—ऐसी दशा में दोनो राजमहिषियों में से समय-समय पर एक-एक को मेरी सेवा छोड़कर साम्राज्य-भार उठाना पड़ेगा, किंतु ऐसा तुम सोचते क्यों हो ?

भर्तृहरि—समय-कुसमय के लिये सभी बातें पूछे लेता हूँ। होना कुछ भी नहीं है, किंतु एक भारी साम्राज्य का विषय ठहरा, सब बातों का उचित विचार पहले ही से कर लेना चाहिए।

अनंतर प्रिय अनुज को पालक के रूप में राज्य-भार सौंपकर यथा-समय राजा विक्रमादित्य घोर तपश्चर्या में लीन हुए। भास कवि ने योग-धारणा तथा शैव पूजन में इन्हें बराबर सहायता दी, और यह धार्मिक समय स्वस्थता-पूर्वक समाप्त होने को आया। आप बराबर महाकालेश्वर के ही मंदिर में रहा करते थे, अथच पूजन तथा योग-साधन में तिल-मात्र असावधानी किसी भी मानस, वाचिक या कायिक रूप में न आने पाई। एक रात्रि में आपने स्वप्न देखा कि महाकालेश्वर की विशाल मूर्ति से वृषभासीन, सर्प-भूषणधारी, गिरिजा-सहित अर्द्धांग शैव रूप निकला। इन्होंने स्वप्न ही में पूर्ण भक्ति के साथ प्रणाम किया, तथा सदाशिव के वत्स ! वरंब्रूहि कहने पर आप हाथ जोड़कर बोले—"हे गिरिजारमण ! मैंने किसी आशा से भवदीय सेवा-अर्चा न करके शुद्ध अमिश्र भक्ति

से ही ऐसा किया है। अतएव कुछ माँगने की इच्छा मुझे नहीं है। ऐसी ही कृपा-मात्र बनी रहे।"

शिव—कृपा तो मेरी तुझ पर सदैव से थी तथा रहेगी। राजरूप धारण करने से भूल गया है, तथापि अब जान ले कि तू मेरा ही गण माल्यवान है। तेरे पिता की आराधना से प्रसन्न होकर मैंने शक-पराभवार्थ तुझे पृथ्वी पर भेजा है। अब जो इच्छा हो, सो वर माँग ले। प्रसन्न तो मैं तुझ पर सदैव से हूँ।

विक्रम—जब शक-पराभवार्थ ही मैं देव के आज्ञानुसार भेजा गया हूँ, तब यही वरदान माँगता हूँ कि मैंने जो शक-पराजय प्राप्त की है, वह भारत में सदैव अटल रहे। भारतीय होकर हम लोगों के साथ मिले हुए शक उन्नति करें, किंतु विदेशी विजयी बनकर नहीं।

शिव—बेटा! किसी का तप-प्रभाव मिथ्या नहीं होता। मैंने शकों को प्रायः साढ़े तीन सौ वर्षों का भारतीय खंड राज्य विजयी रूप में दिया है। आज तुझे तीन रूपों में डेढ़ सौ वर्षों का राज्य देता हूँ। तू इन्हीं तीन रूपों में मिलाकर तप-प्रभाव क्षीण होने पर अंतिम शक-पराभव पूर्णरूपेण करेगा, और उसके पीछे शक-प्रभाव इस रूप में न होकर जो होगा, वह केवल शुद्ध भारतीय रूप में।

इतना कहकर नंदी-सहित अर्द्धांग शिव-पार्वती-रूप श्रीमहाकालेश्वर की मूर्ति में समा गया, तथा विक्रम ने तुरंत जागकर अपनी तपस्या की पूर्ति पर पूर्ण प्रसन्नता मनाई। इसका विवरण आत्मीय भाव से आपने केवल भास कवि, राजमाता तथा दोनो राज-महिषियों पर प्रकट करके इसे गुप्त रखने की दृढ़ प्रार्थना उनसे कर दी, जिसे उन्होंने भी स्वीकार करके जीवन-पर्यंत निभा दिया।

तो भी विक्रम ने अपनी तपश्चर्या आरंभ काल से पूरे छ मास-पर्यंत पूर्ण दृढ़ता और प्रेम से, सारे विधि-विधानों के साथ, स्थापित रक्खी ।

(ब) अमृत-फल

उधर राजकुमार भर्तृहरि ने पूर्ण मनोयोग तथा न्याय के साथ साफल्य-पूर्वक विशाल मालव-साम्राज्य का संचालन किया । प्रथम त्रैमास राजा सोमदेव इनकी सहायतार्थ उज्जयिनी में प्रस्तुत रहे, और द्वितीय त्रैमासिक समय के लगते ही राजा वीरवर आ गए, तथा लाट-नरेश अपने देश को पधारे । विक्रम से साक्षात्कार इन दोनों में से किसी का न हुआ, न उन्हें या राजमहिषियों को किसी राज्यकाज़ की सूचना दी जाती थी । तो भी लाटेश्वर अपनी स्वासा से मिलते अवश्य थे, तथा किसी भारी घटना के उपस्थित होने पर दो राजमहिषियों में से एक राजसेवा में रहकर दूसरी उस घटना पर उचित विचार करने का वचन दे चुकी थी । प्रथम त्रैमासिक काल में कोई विशेष घटना न हुई, किंतु जब द्वितीय त्रैमासिक समय के केवल पंद्रह दिवस शेष रहे, तब एक महत्प्रश्न उपस्थित हो गया । वह इस प्रकार उठा कि किसी महात्मा द्वारा एक निर्धन, वृद्ध ब्राह्मण को अमृत-फल प्राप्त हुआ । महात्मा ने उसे समझाया कि उस फल के खाने से ब्राह्मण सदा अजर-अमर रहेगा । वह ब्राह्मण परम प्रसन्न होकर अपनी ब्राह्मणी के पास अमृत या अमर-फल ले जाकर बोला—

ब्राह्मण—प्रिये ! आज यह अमर-फल मुझे मिला है । चाहे तुम खाओ या मैं । जैसी तुम्हारी इच्छा हो, सो कहो । इसका प्रभाव एक ही व्यक्ति पर चलेगा, एकाधिक पर नहीं, ऐसा महात्मा महोदय कह गए हैं ।

ब्राह्मणी—तब फिर तुम्हीं इसे खाओ । विना तुम्हारे अकेली

जीकर मैं क्या करूँगी ? सदैव युवा होकर कितने दिन वैधव्य जीवन चलाऊँगी ?

ब्राह्मण—मैं भी समझता हूँ कि सदैव युवा रहकर कितने विवाह करूँगा, और कितनी छोटी-छोटी कन्याओं का समय-समय पर पति होकर कितने संतान उत्पन्न करूँगा ? बार-बार अपनी प्रिय पत्नियों, पुत्र-पुत्रियों आदि का विनाश देख-देखकर विकल हूँगा । कोई सधन पुरुष तो हूँ नहीं, कब तक भीख माँग-माँगकर इतरों का आभारी होता रहूँगा ? मैं तो ऐसे चिरस्थायी जीवन का आकांक्षी नहीं हो सकता ।

ब्राह्मणी—है तो तुम्हारे कथन में बहुत कुछ सार ; तब फिर इस फल को करोगे क्या ? वस्तु अमूल्य है ही । राजा को देकर धन प्राप्त क्यों न किया जाय ? राजा यदि सदैव जीवित रहेगा, तो शुद्ध न्याय, वितरण अथच यथायोग्य प्रजा-पालन के द्वारा संसार में सभी को सुखी रक्खेगा ।

ब्राह्मण—यही मैं भी समझता हूँ प्रिये ! अब इसे लेकर राज-दरबार को जा रहा हूँ । मेरे लिये इसकी आवश्यकता नहीं है ।

अनंतर उस ब्राह्मण ने राजदरबार में जाकर अमर-फल के सारे गुण भर्तृहरि को सुनाए, तथा फल उन्हें समर्पित कर दिया । उन्होंने ब्राह्मण को प्रचुर धन उपहार में देकर एकांत में जा वह फल राजमहिषी रूपरेखा को भेंट करना चाहा ।

भर्तृहरि—यह फल देव अथवा आप दोनो में से कोई भी खाय, ऐसी मेरी इच्छा है । सबसे विशेष अधिकार इस पर नियमानुसार देव का ही समझ पड़ता है, तो भी जैसा योग्य हो, किया जाय ।

रूपरेखा—जब फल आपकी भेंट हुआ है, तब न्याय-पूर्वक आप ही को मिलना चाहिए । मैं इसे नहीं ले सकती । पंद्रह दिन

यह ठहर सकता नहीं। अतएव देव की आज्ञा प्राप्त हो सकती नहीं। अपने ही अधिकार से मैं इसे आपको दे रही हूँ। तो भी ऐसी अलभ्य वस्तु का लोभ न करने पर आपको अनेकानेक धन्यवाद भी देती हूँ।

भर्तृहरि—फिर एक बार विचार कर लीजिए, भाभीजी महोदया!

रूपरेखा—देवर राजा! मैंने इस पर पूर्ण विचार कर लिया है। यह तुम्हारी ही वस्तु है; ले जाकर इसका आस्वादन करो तथा सदैव के लिये अजर-अमर बनो। तुम्हें अमर देखकर हम दोनो बहुत प्रसन्न होंगी, और तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राता भी। हमें तुम पुत्र-वत् प्रिय हो!

भर्तृहरि—बड़ी कृपा।

अनंतर राजकुमार एकांत में उसे ले जाकर विचार करने लगे। विना प्रिय पत्नी शीला के अजर-अमर होना उन्हें अच्छा न लगा। उसके कृत्रिम प्रेम को वास्तविक समझकर वह बहुत ही निहाल रहते थे। अतएव रानी को ही फल समर्पित करके उसके अमर होने के उत्सुक हुए। रानी ने माया-जाल फैलाकर उनके अनस्तित्व में अपना जीवन वृथा कहकर उन्हीं के द्वारा उसे खाए जाने की कल्पित प्रार्थना की, तथा दो-चार बार उनके हठ करने से फल स्वीकार कर लिया। अनंतर एकांत में विचार करके विना कोतवाल रुचिराश्व की प्रस्तुति के उसने अपने जीवन में कोई स्वाद न देखा, और उसे युक्ति-पूर्वक बोलवाकर फल उसी की भेंट कर दिया। उधर रुचिराश्व कोतवाल केवल माया-जाल से रानी शीला को प्रसन्न रख रहा था, और उसकी वास्तविक प्रीति एक सामान्या पर थी, जिसके बिना उसे अपना जीवन अकारथ समझ पड़ा, जिससे उसने वह फल उसी गणिका को दे दिया। इधर गणिका ने सोचा

के अजर-अमर होकर अपना पाप-पूर्ण जीवन कब तक चलाया जाय, तथा इसमें वास्तविक आह्लाद ही क्या है ? ऐसा दृढ़ विचार करके उसने राजा का जीवन श्लाघनीय माना, तथा जाकर फल उन्हीं को भेंट कर दिया। उन्होंने चकित होकर सामान्या से एकांत में बात की, तो प्रकट हुआ कि फल उसे कोतवाल से प्राप्त हुआ था। अनंतर उसे प्रचुर धन देकर आपने फल छिपाए हुए अपनी रानी से इस प्रकार बात की—

भर्तृहरि—देवीजी ! मैंने अपना विचार परिवर्तित कर दिया है, और अब उस अमर-फल का भक्षण स्वयं करना चाहता हूँ। यदि आपने अब तक उसे न खाया हो, तो क्या मुझे दे सकेंगी ?

शीला—आर्यपुत्र ! आपके उसे खाने से तो मैं कृतार्थ ही हो जाती, किंतु बड़ा दुःख है कि मैं उसका भक्षण कर ही चुकी हूँ।

भर्तृहरि—मुझमें इतनी शक्ति है कि मैं उस फल को आपके उदर से जैसे-का-तैसा निकाल सकता हूँ। (फल दिखलाकर) देखिए, निकाल लिया कि नहीं ? (रानी उसे देखकर किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर अवाक् रह जाती है।) अब मुझे यह बतलाने की कृपा कीजिए कि मेरी अमोघ प्रीति में कौन-सी न्यूनता या कच्चापन आपने पाया, जो उसका निरादर करके नीच कोतवाल के कल्पित प्रेम की शरण ली। उसने आपके प्रेम का ऐसा प्रचंड निरादर किया कि आपका दिया हुआ अमर-फल एक सामान्या को समर्पित किया, जिसने आकर मुझ योगाकांक्षी को अपना वास्तविक और योग्य प्रीति-भाजन समझा।

शीला—आर्यपुत्र ! आपके अमोघ प्रेम में तिल-मात्र न्यूनता न थी, किंतु आपने एक बराही के आगे मौक्तिक फेंके। मैं

पहले ही से इस अधम कोतवाल से संलग्न थी, और श्रीगंगाजी के सम्मुख एक तलैया-मात्र का मान करती हुई उस कलुषित एवं तिरस्करणीय प्रेम से अपना मोचन कर न सकी। आप-से परमोच्च मानस-पूर्ण तपस्वी के योग्य मैं न थी। (पृथ्वी पर गिरकर साष्टांग दंडवत् करती तथा पति के पैर पकड़ना चाहती है।)

भर्तृहरि—(पीछे हट जाते हैं, जिससे रानी के हाथों से उनके किसी चरण का स्पर्श नहीं होता।) देवीजी ! अब कृपा करके मेरे शरीर का स्पर्श न कीजिएगा, क्योंकि आपका कर-कमल अब मेरे अंगों के छूने का अधिकारी नहीं रहा।

शीला—(उठकर खड़ी होती और हाथ जोड़कर बिनती करती है) नाथ ! क्या एक अपराध से सारे जीवन के प्रेम-पूर्ण व्यवहार का पूरा संसर्ग समाप्त हो गया ? क्या किसी भाँति अपराध क्षमा नहीं हो सकता ? यह अपराधिनी किसी प्रकार इन पूज्य चरणों की सेवा इस बार शुद्ध हृदय से चाहती है। अपराध मुझसे अवश्य अवश्य हुआ है, तथापि आप-सरीखे उदार तपस्वियों को कुछ भी अदेय न होना चाहिए। किसी भी प्रकार क्षमा-प्रदान हो, यही इस दीन अपराधिनी की करबद्ध प्रार्थना है।

भर्तृहरि—देवीजी ! ईश्वर ने संसार में सारे मनुष्यों को सम रचा है। ईश्वरीय सृष्टि में कोई न्यूनाधिक नहीं। मैं आज से आपको स्वच्छंद करता हूँ। आपने न केवल विवाहोपरांत, वरन् उससे पूर्व भी मुझे बड़ा गर्हित धोखा दिया। किसी की उप-पत्नी को मुझसे विवाह करने का अधिकार न था। स्वामी नित्यानंद के रूप में मालव-वीर जगज्जीत ने मुझे मूर्ख तथा आपको चतुरा-चंचला बतलाया था। जो बात उन्होंने तीन दिन के प्रयत्न से जान ली, वह मैं महीनों में न जान पाया। उन्होंने हम दोनों को चेतावनी दे दी थी, किंतु न तो मैं अपनी मूर्खता छोड़ सका, न आप

चांचल्य। उसने पहले ही कह दिया था कि चांचल्य से हमारा आपका प्रेम स्थिर न रहेगा। वही दिन सम्मुख आ गया। राजमहिषी हर्नेदुदेवी ने भी आपके आचरण को संदिग्ध बतलाकर मुझे रोका था, किंतु मुझ मूर्ख ने उनके भी मान्य वचनों का अनादर कर दिया। आपकी माया ने मुझे अंधा कर डाला था। क्या नेत्रवान् होने पर भी आप फिर मुझे वैसा ही बनाना चाहती हैं ?

शीला—अंधा न बनाकर मैं अपराधों की क्षमा-मात्र चाहती हूँ।

भर्तृहरि—क्षमा करने का अधिकार केवल ईश्वर को है, किंतु वह भी क्षमा करता नहीं। आपके संसर्ग से मेरा शरीर स्वयं अशुद्ध हो चुका है। अब किसी प्रकार मैं उसे शुद्ध करूँगा। यह मायामय संसार मुझ-सरीखे मूर्खों के लिये नहीं है। मैं आपको धिक्कार के साथ क्षमा-प्रदान करता हूँ, किंतु स्वयं अपनी मूर्खताओं को क्षमा नहीं कर सकता। अपने और आपके संबंध में मुझे यह श्लोक ठीक दिखता है—

"यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ;
अस्मत्कृते च परिशुष्यति काचिदन्या
धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च।"

"जाहि सदा हौं गुनौं नेह युत मो को चाहै ;
तौन अन्य लखि मुदित, अन्य लखि अन्य उमा है।
मो प्रदत्त मैं परी और की हा! परछाहीं ;
ताके तौं इन आय प्रीति कीन्हीं मो माहीं।
यहि हेत ताहि धिक, वाहि धिक, धिक ताकहँ, धिक मम कुमति ;
पुनि धिक-धिक मदन-महीप कहँ, जेहि कीन्हों यह सकल गति।"

शीला—आर्यपुत्र ! आपने कृपा-पूर्वक सधिकार ही सही, मुझे क्षमा तो कर दिया है। क्षमा होने से जब मैं निष्पाप हो गई, तब फिर अपने को क्षमा न कर सकने का क्या अर्थ है ?

भर्तृहरि—अर्थ यह है, देवीजी ! कि जैसा मैंने आपसे पहले भी कहा था, मैं योग-साधन चाहता ही था, किंतु गृहस्थ अथवा वनवासी होकर दोनो प्रकार से यह हो सकता है। मैं संसार को बुद्धिमानों के रहने योग्य समझता हूँ, अपने-से मूर्खों के लिये नहीं। अतएव आज ही उज्जयिनी छोड़कर वन-वासार्थ प्रस्थान कर रहा हूँ। यह अमृत-फल अब मैं ही खाऊँगा। (यह कहकर राजपुत्र उसका भक्षण करते हैं।)

शीला—यह बहुत उचित है कि आर्यपुत्र ने अमृत-फल खा लिया। इसके योग्य आप ही थे और हैं। रहा वन-यात्रा का विचार, सा विनती यह है कि दूसरे के अपराध से आप अपने को दंडित क्यों करते हैं ? पाप मैंने किया। यद्यपि आप क्षमा कर चुके, तो भी मेरा स्थान अब राजप्रासाद न होकर उज्जयिनी का पशु-पथ है। मैं अभी इस प्रासाद से जाती हूँ, किंतु आपसे प्रार्थना यह है कि एक पापिनी के कारण अपना भविष्य न बिगाड़िए। मैंने विवाह से पूर्व पाप किया, विवाहार्थ आपको धोखा दिया, तथा विवाहोपरांत भी देव-तुल्य प्रेमी पति के मान करने की बुद्धि मुझमें न आई। मैं तो अपने योग्य दंड का भोग करूँगी, किंतु आप निष्पाप हैं ; कृपा करके अपना भविष्य न बिगाड़िए, इतना ही वरदान इस पापिनी सेविका को मिल जाय।

भर्तृहरि—प्रार्थना पर मैंने आपको सहर्ष क्षमा कर दिया। अब यह भी वरदान देता हूँ कि अपना भविष्य न बिगाड़ूँगा, किंतु करूँगा आज ही वन-गमन, क्योंकि योग-साधन से मुझ मूर्ख का भविष्य बिगड़ने के स्थान पर सुधरेगा।

इतना कहकर भर्तृहरि रानी के प्रासाद से बाहर जाकर हर्नेंदु-देवी की सेवा में उपस्थित होते हैं।

हर्नेंदुदेवी—देवर राजा! आज आपकी मुख-कांति ऐसी बिगड़ी हुई है कि देखकर डर लग रहा है। कहिए, क्या बात है?

भर्तृहरि—आपने अमृत-फल का सारा विवरण सुना ही होगा। मैं महा घोर मूर्ख था, जो पापिनी हगाम-कन्या के विषय में आप की शुद्ध सम्मति मानने में समर्थ न हो सका। अब कृपा करके मुझे वन-यात्रा के लिये आज्ञा दीजिए। मुझ मूर्ख के लिये यह संसार बहुत विकट है। मैं अब पूर्णता के साथ योगाभ्यास करूँगा, आपकी भाँति गृहस्थाश्रम में नहीं।

हर्नेंदुदेवी—अभी माता मदनरेखाजी तुम्हारा इधर आना सुनकर पधार रही हैं, उनसे भी बात कर लो।

इतने में मदनरेखाजी भी आकर वहीं विराजती हैं।

मदनरेखा—बेटा भर्तृहरि! तूने अपनी रानी शीला से जितना अमोघ प्रेम किया, वह हर प्रकारेण धन्यवादार्ह है। फिर भी जब मैंने उसके घोर दुश्चरित्रों का हाल जाना, तब नित्यानंद बननेवाले जगजीत मालव से इसका कोई उपाय करने की आज्ञा भावी-वश दे दी। उसने महात्मा बनकर यहाँ अज्ञात एक सुंदर फल काशमीर से मँगवाकर उस ब्राह्मण को अमृत-फल के नाम से दिया, जिससे तुझे भारी कष्ट पहुँचा है। सच्ची दशा तो, बेटा! तुझ पर अवगत हो गई है किंतु गृह-त्याग का जो तू विचार कर रहा है, उससे सारे कुटुंब का हृदय विदीर्ण हुआ जाता है। यदि एक बार कोई मूर्खता भी कर गया, तो उससे हम सबको रोता-कलपता छोड़कर तुझे वन-गमन करना योग्य नहीं। अनुभव से ज्ञान-गरिमा वृद्धिमती हो जाती है।

भर्तृहरि—पूज्यवरे! मैंने अब तक अनेकानेक मूर्खताएँ की हैं।

मैं अपने को माया-पूर्ण वक्र गति के पथिक दुर्गम संसार के योग्य नहीं समझता। यदि किसी प्रांत में राज्य करूँगा, तो मेरी भूलों से वहाँ की जनता पर मेरे न चाहते हुए भी अत्याचार होगा। ऐसा मनुष्य लोकतंत्र-संचालन के योग्य नहीं है। अब जाता ही हूँ। किसी से आज्ञा नहीं माँगता, क्योंकि जानता हूँ कि वह मिलनी नहीं है। मैं तो पयानार्थ सूचना-मात्र देता हूँ। अब इसके प्रतिकूल समझाने-बुझाने का प्रयत्न करके अपने गंभीर वचनों का अपमान न कराइए, क्योंकि बड़ों की आज्ञा अविचारणीय और अपेल होनी चाहिए। अब मैं केवल इन पुनीत चरणों का स्पर्श करके यहाँ से प्रस्थान ही करता हूँ। अपराधों को क्षमा कीजिएगा, इतनी ही प्रार्थना है। मेरे लिये योगाभ्यास ही योग्य है।

हर्नेंदुदेवी—देवर राजा! आपके ज्येष्ठ भ्राता साम्राज्य-भार आप ही पर छोड़कर तपश्चर्या में लीन हैं। उनके निकलने को केवल एक पखवारा शेष है। उन्हें तो निकल लेने दो।

भर्तृहरि—इसके विषय में मैं पहले ही आज्ञा ले चुका हूँ। आप दोनो राजमहिषियाँ बारी-बारी एक-एक सप्ताह-भर सँभाल ही लेंगी।

मदनरेखा—अच्छा बेटा! जब तू नहीं मानता है, तब मैं तेरे साथ चलूँगी। मैं भी अब योग-साधन करूँगी। बहुत दिन गृहस्थाश्रम का सुख भोग लिया। जब मेरी ही मूर्खता से प्रिय पुत्र वनवासी हो रहा है, तब मैं ही यहाँ क्या करूँगी? यों भी चिर-काल से मेरी कामना वन-गमन की थी।

हर्नेंदुदेवी—माताजी! यह आप क्या कह रही हैं? तपश्चर्या से अपने ज्येष्ठ पुत्र को तो निकल लेने दीजिए।

मदनरेखा—जब कनिष्ठ पुत्र आज ही जाने को कह रहा है, तब मैं भी यहाँ रुक नहीं सकती। विक्रम वहीं मुझसे मिल लेगा।

इस भाँति कथनोपकथन करके मदनरेखा और भर्तृहरि, दोनो उसी दिन सब कुछ छोड़कर योग-साधनार्थ वन को प्रस्थान कर गए। राजमहिषियों ने छिपे-छिपे युक्ति-पूर्वक वहाँ उन दोनो के सुपास का उचित प्रबंध कर दिया। अनंतर एक पक्ष बीतने पर जब विक्रम मंदिर से बाहर निकले, तब उन्होंने देखा कि रानी शीला प्रासाद छोड़कर जा चुकी थीं, तथा माता और भ्राता वन-गमन कर चुके थे। उधर मातामह देव ताम्रलिप्तर्षि उज्जयिनी में पधार चुके थे। आपने उनके चरण स्पर्श करके दोनो राजमहिषियों के साथ उनके पास बैठकर एकांत में वार्तालाप प्रारंभ किया।

विक्रम—पूज्यपाद नानाजी महोदय! आजकल मेरा घर ही उथल-पुथल हो गया है, कुछ कहते-सुनते नहीं बनता।

ताम्रलिप्तर्षि—बेटाजी! इसी संबंध में तो मैं भी आया हूँ। भर्तृहरि के वन-गमन का वृत्तांत सुनकर अत्यंत दुखी हुआ हूँ। बड़ा ही शुद्ध-हृदय और सच्चरित्र राजकुमार है। बेचारी कन्या का वन-गमन क्या हुआ, मानो मुझे चेतावनी मिल रही है कि मैं ही अनावश्यक मोह-माया में पड़ा हुआ हूँ। अब अपने उस राज्य का भी प्रबंध सुधारो, मैं भी अति शीघ्र वन-गमन करूँगा। जो प्रबंध तुम्हें करना हो, उसका संस्थापन-मात्र वहाँ जाकर कर दूँगा, और तब एक दंड न ठहरकर जहाँ प्रिय पुत्री और भर्तृहरि हैं, उसी वन का रास्ता लूँगा।

विक्रम—पूज्यपाद! यह आप क्या कह रहे हैं? मैंने षड्मास की तपश्चर्या क्या की, सारा घर-का-घर उथल-पुथल हुआ जाता है।

ताम्रलिप्तर्षि—उन दोनो ने वन-गमन में शीघ्रता अवश्य की, किंतु मेरे लिये तो उचित से बहुत विलंब हो चुका है। अब इन बातों को छोड़कर प्रबंध-संबंधी विचार प्रकट कर।

विक्रम—क्या किसी भाँति अपना सम्मत न बदलिएगा?

ताम्रलिप्तर्षि—इस कथन पर विचार भी न करूँगा। अब प्रबंध पर आ जा।

विक्रम—तब फिर इस विषय में भी आप ही आज्ञा कर दीजिए।

ताम्रलिप्तर्षि—मैं तो बेटा! तुझी को अपने स्थान पर चाहता हूँ, किंतु इतना बड़ा साम्राज्य छोड़कर तू वहाँ कैसे जा सकता है? ज्येष्ठतम पुत्र धर्मादित्य तेरा युवराज ही है। उससे छोटा, किंतु शेष सबों से बड़ा विक्रम-चरित्र अपनी माता पुत्री इनेंदुदेवी के साथ मेरे यहाँ तथा सिंध-प्रांत में प्रायः बना भी रहता है। (इनेंदुदेवी से) अब तू ही बेटी! उसकी अभिभाविका होकर वह राज्य सँभाल। मुझे तो यही देख पड़ता है।

इनेंदुदेवी—नानाजी! इस अवस्था में सुख-पूर्वक वन में कैसे रह सकेंगे? मेरे विचार से राज्य ही में विराजिए। काम चाहे जितना स्वयं कीजिए या दूसरों पर छोड़े रहिए। चाहे कुछ भी न कीजिए, किंतु वन में आपका सुखी या दीर्घायु रहना कुछ कठिन दिखता है।

ताम्रलिप्तर्षि—बेटी, है तेरे कहने में भी बहुत कुछ सार, किंतु जब स्वयं मेरी कन्या वन जा चुकी, तब मैं कैसे घर में बैठा रहूँगा? किसी प्रकार चल ही जायगा। प्राचीन काल से भारतीय राजन्य-वर्ग वानप्रस्थाश्रम का मान करते आए हैं। अब तैं वहीं चलकर अपना प्रबंध ठीक कर ले, फिर यदा-कदा यहाँ और वहाँ जैसा जब दिखे रहा करना।

विक्रम—आज्ञा देव की यथार्थ ही है, केवल आपके भावी कष्टों के विचार से चित्त नहीं मानता।

ताम्रलिप्तर्षि—अब मेरा चित्त इस विषय पर दृढ़ हो चुका है। यथासाध्य वहाँ भी सुख-पूर्वक जीवन का प्रबंध हो जायगा।

न्याय

अनंतर विक्रमचरित्र, हर्नेंदुदेवी और कुछ प्रवीण मालवों को भी साथ लेकर उत्तरी गुजरात-नरेश स्वदेशार्थ प्रस्थित हो गए। हर्नेंदुदेवी के दोनो छोटे राजकुमार भी उन्हीं के साथ गए। प्रति-वर्ष विक्रम ने भी वहीं कुछ मास बिताने का निश्चय किया, तथा हर्नेंदुदेवी ने भी कुछ मास उज्जयिनी में रहने का रूपरेखा को वचन दिया। पीछे समय पर विक्रम के सम्मुख न्यायार्थ शीलादेवी तथा कोतवाल का मामला आया। देवीजी राजप्रासाद छोड़कर बाहर जा चुकी थीं। कोतवाल पर राजद्रोह का अभियोग था, जिसमें उसकी सारी संपत्ति छीनने का विषय था, किंतु राज्य के एक कुटुंबी के भी अपराध पर विचार करके वह राज्य की सेवा-मात्र से पृथक् कर दिया गया, तथा जिस राजकीय हर्म्य में उसका निवास था, उसे १९ दिनों के भीतर छोड़ने की उसे आज्ञा हुई। यह आज्ञा उसके कथन इस विषय पर सुनने के पीछे दी गई। दुष्कर्मों के कारण उसे किसी ने कोई अच्छा गृह भाड़े पर भी न दिया, और विवश होकर नगर के बाहरी भाग में एक साधारण गृह में उठ जाना पड़ा। शीलादेवी ने अपने विषय में कथनोपकथन करने को न तो सभा में आना पसंद किया, न कोई प्राड्विवाक भेजना। अतएव पूर्ण विचार के पीछे उनके पास निम्न-लिखित पत्र भेजा गया —

मान्य देवी शीलाजी महोदया,

राजा मालव-पति को अत्यंत दुःख के साथ आपकी सेवा में यह पत्र भेजना पड़ रहा है। आपके आचरणों पर निष्पक्ष भाव से विचार करने से समझ पड़ता है कि प्रकट कारणों से राजपरिवार में रहना तो आपके लिये असंभव हो गया है, और आपने स्वयं अपना राज-प्रासाद छोड़ भी दिया है। मेरे निष्पाप, निष्प्रपंच तथा सांसारिक समुचित अनुभव से शून्य प्रिय भ्राता से जो संबंध आपने जोड़ा,

वह छलवार्ता पर अवलंबित था, अथच विवाह के पीछे भी आपने अपनी अनुचित लिप्सा स्ववश न कर पाई। इतना सब होते हुए भी हैं अब भी एक माननीय राजकीय व्यक्ति, तथा आपको अनुचित कष्ट होना मालव-पति को असह्य है। यद्यपि आपके कारण उनका जो भ्रातृवियोग हुआ है, उससे उन्हें हृदय-विदारिणी दारुण वेदना हो रही है, तथापि सूचित किया जाता है कि जिस नगर में चाहें, वहीं आपके निमित्त उचित हर्म्य का प्रबंध कर दिया जाय, तथा वृत्ति के लिये जो व्यय आवश्यक हो, उसके विषय में भी राजाज्ञा हो जाय। कृपा-पूर्वक इस पत्र का उत्तर शीघ्र भेजिए, और यदि इसमें कोई अनौचित्य हो, अथवा आपको कुछ और कथनीय हो, तो स्वयं पधारकर या किसी अन्य प्रकार से मालव-पति की सेवा में प्रकट करने या कराने की कृपा शीघ्र कीजिएगा। जो हुआ, सो हो चुका, अब एक राजन्यवर्ग के पूज्य व्यक्ति को अनुचित कष्ट न होना चाहिए।

पत्र पाकर रानी शीला ने यह कहला भेजा कि विचार बहुत योग्य था, अथच उनके निमित्त तपश्चर्या से इतर कोई मार्ग शेष न रह गया था, अतएव किसी प्रबंध की आवश्यकता न थी। यह उत्तर पाकर मालव-पति को खेद हुआ, और उन्होंने एक बार पुनः विचार करने की देवीजी से प्रार्थना करवाई, किंतु उन्होंने अपना मत परिवर्तित न किया।

(ख) रानी शीला और भर्तृहरि

पति-परित्यक्ता रानी शीला ने सोचा कि दो वर्षवाले अपने गत पाप-पूर्ण जीवन में इन्होंने पिता और पति को छला था, जिससे उनकी दी हुई किसी वस्तु पर इनका अधिकार न था, किंतु माता को न छला था। अतएव केवल मातृदत्त वस्त्रालंकार धारण करके तथा

कुछ उन्हीं की दी हुई संपदा लेकर अपनी अंतरंगा सखी के साथ केवल दो प्राचीन सेवकों को ले वह राजप्रासाद से चली गईं, तथा एक धर्मशाला में ठहरने का विचार करके उसी ओर पदाती चलीं। उनकी मातृस्वसा की एक कन्या उज्जयिनी में ही ब्याही थी, जो उपर्युक्त अपमान की बात सुनकर इन्हें मार्ग में मिली, और समझा-बुझाकर अपने घर ले गई। उसका पति एक प्रसिद्ध व्यापारी था। उसकी तथा भगिनी और सखी की सम्मति से इन्होंने अपनी प्रायः सारी संपत्ति उसके द्वारा व्यापार में लगवा दी, जिससे उसके लाभ से भविष्य में इनका कालक्षेप स्वतंत्रता-पूर्वक हो सके। अनंतर अंतरंगा सखी को साथ लेकर एक दिन आप कोतवाल के नवीन गृह को जाकर उससे वार्तालाप करने लगीं।

शीला—रुचिराश्वजी! सुना, आप बड़े ही संकट में पड़ चुके हैं। अपना कुछ विवरण मुझे सुनाने की कृपा कीजिए। (एक कटार दिखलाकर) मैंने यह कटार आपका शरीरांत करने को साथ ले रक्खी थी, किंतु वर्तमान दशा सुनकर विचार बदल चुका है।

रुचिराश्व—देवीजी! यदि आप ऐसा कर देतीं, तो मेरे ऊपर बड़ी ही कृपा हो जाती। अब वर्तमान जीवन देखते हुए मृत्यु मेरे लिये अभिशाप न होकर आशीर्वाद होगी। आत्महत्या केवल इसी विचार से नहीं करता हूँ कि बहुत-से पाप कर ही चुका हूँ, अब अंत में ईश्वर के सम्मुख जाते समय उनमें एक और घोर पाप आत्म-हत्या करके कैसे जोड़ूँ?

शीला—इस बात से समझ पड़ता है कि यद्यपि राजकीय दंड तुम्हारे लिये मृदु रहा, तथापि ईश्वरीय दंड से तुम न बच सके।

रुचिराश्व—राजकीय दंड न होने के बराबर था, क्योंकि सेवा से पृथक् किया जाना तो अनिवार्य था ही। और दंड ही क्या हुआ?

शीला—अच्छा, अपनी घटनाओं का तो कथन करो।

रुचिराश्व—मेरे घोर पापों के कारण दूना भाड़ा भी लेकर नगर में किसी ने कोई अच्छा भवन न दिया। विवश हो यहाँ आकर रहा। दंडपाश-विभाग में काम करने से बहुतेरे पापियों को दंडित करा चुका था। उनमें से जो कारागार से छूट चुके थे, अथवा कारागार-भोगियों के कुटुंबियों में थे, उन्होंने मुझसे बदला लेने की ठानी। अतएव दस-बारह दुष्टों ने मिलकर एक रात को मेरे यहाँ डाका डाला, जिसमें पहले तो मुझे इतना मारा कि मेरा बायाँ हाथ एवं दाहना पैर टूट ही गया, अथच सारे शरीर में भी बहुत चोट लगी। सिर भी फूटा, जिससे प्रचुर मात्रा में रुधिर निकल गया। फिर मेरी सारी संपदा उन्होंने लूट ली, यहाँ तक कि घर में एक डोरा भी न रह गया। अनंतर दो चार लातें तथा पादत्राण मुझे और मारकर वे तो चले गए। इधर मैं मूर्च्छित हो गया। दंडपाश-विभागवालों ने यह समाचार सुनकर मेरा राजचिकित्सालय में उपचार कराया, जिससे अब कुछ-कुछ स्वस्थ हूँ। हाथ और पैर अब भी भली भाँति जुड़े नहीं हैं। इधर घर में खाने को कुछ है नहीं, इससे लोगों के लिये दाहिने हाथ से पत्रादि लिखकर या लेखन-संबंधी अन्य कार्य करके किसी भाँति शरीर-यात्रा चलाता हूँ। दंडपाश-विभाग के प्रयत्नों से मेरे कुछ डाकू पकड़े तो गए हैं, किंतु कुछ भी माल न तो मिला, न मिलने की आशा है।

शीला—तुम्हारी दशा का विवरण सुनकर दुःख मनाने के स्थान पर मैं प्रसन्न हूँ। यही प्रार्थना करती हूँ कि ईश्वर तुम्हें दीर्घजीवी करके इसी प्रकार के नारकीय कष्ट भोगवावे।

रुचिराश्व—यही तो दशा हो ही रही है। मौत इससे शत बार श्रेष्ठतर है। अब कृपया यह आज्ञा कीजिए कि मेरे दुखों पर प्रसन्नता मनाने के अतिरिक्त क्या कोई और भी कार्य था, जिसके लिये यह कष्ट

किया गया है ? यदि सत्य कथन सह्य हों, तो मेरे-आपके संबंध पर शुद्ध तार्किक दृष्टि से विचार हो जाय।

शीला—इसीलिये तो यहाँ आई हूँ। कृपया कथन कीजिए।

रुचिराश्व—ऐसे लोगों के विषय में साहित्याचार्यों के जैसे विचार हैं, पहले उनका कुछ कथन छंदोबद्ध रीति पर करता हूँ, सुनिए—

"पात्र मुख्य सिंगार को शुद्ध स्वकीया नारि ;
प्रथम संग नव नेह के वरे परे दिन चारि।
परकीया उपपति विरह होति प्रेम स्वाधीन ;
पति सम्मति तन विपति में दौरि परै पन पीन।
पर रस चाहै परकिया तजै आप गुन गोत ;
आप औटि खोवा मिलै खात दूध फल होत।"

(खोए को पानी में गरम करके खाने से कहीं दूध का स्वाद आता है ?)

"काची प्रीति कुचालि की बिना नेह रस रीति ;
मार रंग मारू मही बारू की-सी भीति।"

(चौपड़ के खेल में रंग का-सा मरना।)

"तब ही लौं सिंगार-रस, जब लौं प्रेम अनूप ;
यम को-सी तिय प्रेम बिनु मनु आसीविषरूप।"

यह शुद्ध साहित्यिक, किंतु सत्य कथन है। मेरा-आपका संबंध प्रायः दो साल रहा। मैं आपके रूप पर मुग्ध अवश्य हुआ, किंतु उपरिक की कन्या से प्रेम प्रकट करने का न तो मेरा पद था, न साहस। यदि आपकी ओर से भी प्रेम-प्रदर्शन न होता, तो मेरा पापी विचार जहाँ-तहाँ दबा रहता।

शीला—है यहाँ तक तथ्यांश, किंतु प्रारंभ होने के पीछे विविध प्रकार से युक्तियाँ कर-करके तुमने अवसर निकाले कि नहीं ?

रुचिराश्व—आदि में ऐसा हुआ अवश्य, किंतु दो-चार मास के

पीछे जब मैं विवाह अथवा त्याग के विचार में पड़ा, तब आप ही ने दो में से एक बात भी न मानी, तथा उच्च पद के दर्प से मेरी नसें गाड़ डालने तक की धमकी देकर न तो विवाह करने दिया, न किया, न संबंध-विच्छेद ही होना स्वीकार किया। मुझे विवश होकर इस पाप-पंक में संलग्न रहना पड़ा, जिससे दोनो राज्यों में मैं घोर स्वामिविद्रोह का पापी हुआ। आपको तो अपनी बुद्धि पर बड़ा गर्व है, क्या इतना न समझना था कि अनिच्छा-पूर्ण व्यवहार दंड-भय से स्थापित रहकर केवल दिखलौवा प्रेम का कारण हो सकता है, शुद्ध प्रीति का नहीं। हमारा-आपका प्रेम-पूर्ण व्यवहार न रहकर अंत में केवल कामुक अर्थात् इंद्रिय-लालसासेवी-मात्र रह गया था। विवाह मैं करने न पाया; तब यदि किसी प्रेमवती सामान्या से गुप्त-रूपेण अनुरक्त हुआ, तो क्या आश्चर्य था?

शीला—ऐसा रूक्ष कथन कभी किया क्यों नहीं?

रुचिराश्व—भय-वश ऐसा न कह सका; आप यदा-कदा क्रोध करती थीं कि नहीं? क्या ऐसे संपर्क में भी आपको शुद्ध प्रेम का स्वप्न देखना था?

शीला—विवाहोपरांत जब मैंने यह बंधन शिथिल करना चाहा, तब तुमने क्यों हठ करके मुझे विवश किया?

रुचिराश्व—यह कार्य मेरा लालसा-वश बहुत अनुचित हुआ। फिर भी जब दो-चार मास में मैंने वही करना चाहा, तब क्यों बाधा दी गई?

शीला—वही लालसा का प्रश्न था। दो वर्ष-पर्यंत हम-तुम दोनो पूरे पापी रहे। सौ में साठ अंश पाप मेरा था और शेष तुम्हारा।

रुचिराश्व—यही बात थी, देवीजी महोदया! अब क्या आज्ञा है?

शीला—अब तो मैं प्रायश्चित्तार्थ कठिन तप करूँगी। अब भविष्य

में कभी अपना काला मुख मुझे न दिखलाना। यदि कभी भूलकर ऐसा किया, तो ईश्वरीय भय भी छोड़कर इसी कटार से वहीं तुम्हारा संहार कर डालूँगी। समझ रखना।

रुचिराश्व—समझा तो सही, किंतु इतने घोर क्रोध का कारण क्या है ?

शीला—यदि तेरे शरीर में इतना सौंदर्य, इतनी शक्ति और ऐसा मिष्ट भाषण गुण न होता, तो मैं काहे को रानी से भिखारिन होती ? तेरा अधम शरीर देखकर अब मेरे हृदय में ज्वाला उठती है। तेरे ही कारण देव-तुल्य ऐसा निष्पाप स्वामी मुझसे विमुख हुआ, जो मुझे अपने से भी अधिक सदैव मानता था। मुझ अधमा मूर्खा ने उसके अमोघ प्रेम का मान तेरे ही कारण न कर पाया। यदि तूने मुझे धोखा ही न देकर मद्दत्त फल खा लिया होता, तो भी मेरी यह दशा न होती। एक प्रकार से यह भी अच्छा ही हुआ, क्योंकि अब ईश्वर के यहाँ मेरा मुख उज्ज्वल हो जायगा। अच्छा, सदा को नमस्कार।

रुचिराश्व—नमस्कार देवीजी ! इतना क्रोध है तो अनुचित, किंतु आज्ञा-पालन में त्रुटि न होगी।

शीला और तपस्या

अनंतर केवल अंतरंगा सखी को साथ लेकर रानी शीला उसी वन में ढूँढ़-खोज करके पहुँचीं, जहाँ भर्तृहरि तथा रानी मदनरेखा तपश्चर्या में लीन थीं। राज्य द्वारा प्रेषित दस-बीस लोग वहाँ पहुँचे थे, जिनमें से दो को छोड़कर रानी ने सबको उलटा फेर दिया था। वे दोनो आज्ञानुसार वन्य फलादि-मात्र इकट्ठा कर दिया करते थे। रानी शीला ने वहाँ पहुँचकर दधि-दुग्ध का भी प्रबंध उन्हीं के द्वारा अपने व्यय से कराया। कुछ-कुछ पक्वान्न का प्रबंध किया, अथच माखन-मिसरी आदि का भी। भोजन में आप-से-आप ऐसी उन्नति देखकर राजमाता मदनरेखा ने अनुचरों से पूछा,

तो उन्होंने बतलाया कि दो तपस्विनी स्त्रियों ने आकर अपने तथा इन दोनो के निमित्त प्रबंध-परिवर्तन किया था। राजमाता ने उनको बुलवाकर बात करनी चाही, किंतु सामने शीला को देखकर वह सन्न रह गईं।

शीला—(दूर से पैर छूकर) कहिए माताजी! क्या आज्ञा है? मैं आपकी कृपा-मात्र की भूखी हूँ।

राजमाता—बेटी! हम दोनो तेरे ही कृत्यों से यहाँ चले आए हैं, अब तेरे आने का क्या कारण है? मुझे कुछ आश्चर्य-सा लगता है।

शीला—पूज्य माताजी! इसमें आश्चर्य क्या है? मैं पाप-मार्ग की पथिक होकर स्वपति द्वारा उचित ही अपने अधिकार खो चुकी हूँ, किंतु भार तो सारे-के-सारे अब भी शेष हैं। क्या आप मेरे लिये मातृतुल्य पूजनीया नहीं, और क्या आर्यपुत्र की मंगल-कामना तन, मन, धन से मुझ पर बाध्य नहीं?

राजमाता—बाध्य तो सब कुछ थी बेटी! किंतु तूने अपने भारों का मान कब दिया?

शीला—ऐसी मूर्खता करके ही न मैंने सारे अधिकार खो दिए? उनके पुनः प्राप्ति की प्रार्थना मैं करती नहीं, किंतु भार हैं तो अब तक मुझ पर बाध्य। यदि कुछ काल मैंने उनका मान न किया, तो हो क्या गया? अभी एक ही वर्ष न मैं भारों से न्यूनाधिक विमुख रही? सत्रह साल की हूँ। यदि वैदिक ऋचा के अनुसार सौ वर्ष जीऊँ, तो अभी ८३ वर्ष उन्नति के लिये पड़े हैं। मैं कुछ माँगती तो हूँ नहीं, केवल आप तथा पतिदेव का दूर से योग्य पूजन-मात्र चाहती हूँ। आप तपश्चर्या में लीन हैं, और मैं भी वही कर रही हूँ। तपस्या के अतिरिक्त दो प्रत्यक्ष दैवत मूर्तियों का पूजन और करती हूँ, सो भी परोक्ष में गुप्त भाव से। आपके सम्मुख आने की

भी धृष्टता बिना बोलाए मैंने न की और इतनी प्रार्थना भी करती हूँ कि पतिदेव से मेरे यहाँ आने या सेवा करने का समाचार न बतलाया जाय, क्योंकि उनको अभी इससे उद्विग्नता संभव है।

राजमाता—बेटी! कदाचित् तुझे ज्ञात नहीं कि मैंने ही तेरे आचरण पर संदेह करके जगज्जीत द्वारा अमृत-फल का ढोंग रचाया था, जिसका फल मेरे विचारों के नितांत विपरीत हो पड़ा।

शीला—माताजी! यह सारा वृत्तांत मुझे ज्ञात है। मेरे पापों के कारण आपने जो कुछ किया, वह उचित ही किया। संदेह जब आपका निर्मूल न था, तब उससे मेरा असंतोष कैसा? बनी तो आप फिर भी देवी-तुल्य पूजनीया हैं। प्रार्थना केवल इतनी है कि मैं पूजा तथा धर्म-पालन से विमुख न की जाऊँ। आपका कोई कार्य मैं अनुचित नहीं समझती।

राजमाता—धन्य बेटी! यदि तू ऐसे ही विचार पहले से रखती होती, तो इस मेरे कुटुंब में यह भारी दैवी आपत्ती क्यों पड़ती?

शीला—इसके लिये माताजी! मैं अपनी बुद्धि की भर्त्सना शत बार कर चुकी हूँ। मैं सब अधिकार छोड़ चुकी; अब केवल इन दोनो दैवत मूर्तियों के पूजन में ही अहोभाग्य समझ रही हूँ। यह जन्म तो बिगड़ चुका ही; अब ईश्वर के यहाँ मुख उजला रखना चाहती हूँ।

राजमाता—धन्य बेटी धन्य! मैं भारों से तुझे पृथक् करने का पातक अपने ऊपर न लूँगी। तेरे इच्छानुसार बेटे भर्तृहरि से तेरा विवरण तब तक न कहूँगी, जब तक कहना ठीक न समझूँगी।

शीला—धन्य भाग्य माताजी!

इस प्रकार वार्तालाप करके शीला रानी अपने स्थान को जाकर फिर से पूर्ववत् प्रबंध और घोर तपस्या में लीन हुई। प्रायः पंद्रह

दिनों के भीतर राजा ताम्रलिप्तर्षि वहीं पधारे, और शीला का विवरण राजमाता के द्वारा सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। दो ही चार दिनों में रूपरेखा के साथ विक्रम भी वहीं पहुँचे, और यथायोग्य प्रणामाशीष के पीछे तथा इतरों से योग्य संभाषण करके भर्तृहरि से वार्तालाप करने लगे।

विक्रम—भाई भर्तृहरि! तुम्हारी तपस्या देखकर तो मैं अप्रसन्न नहीं हूँ, किंतु इतनी शीघ्रता क्या थी कि मेरे मंदिर से निकलने के पूर्व ही तुम वहाँ से चल दिए? कुछ तो ठहरना था।

भर्तृहरि—चित्त विशेषतया खेदित हो गया। प्रबंध बिगड़ने का कोई भय भी न था। यदि ठहर जाता और आप आज्ञा न देते, तो भी कठिनता पड़ती।

विक्रम—मैंने कभी तुम्हारी इच्छाओं को टाला तो न था।

भर्तृहरि—किंतु यह बड़ी उद्दंड इच्छा थी; संभवतः आप न मानते।

विक्रम—अभी तो पंच वर्ष तुम्हारे ब्रह्मचर्य-व्रत के ही शेष थे। स्वयं मैं २६ वर्ष के पीछे गृहस्थ बना था। तुम्हारे योगाभ्यास को अनुचित नहीं कहता, किंतु इससे विशेष समय मिलता होगा ही; अतएव किसी विद्यापीठ में प्रविष्ट न होकर यदि तुम वन में ही चले आए, तो कोई हानि नहीं। मैं दो-तीन परम प्रवीण अध्यापक तक्षशिला से बोलवाकर यहीं लगा दूँगा, जिनसे योग के अतिरिक्त समर-कौशल, शस्त्रास्त्र-प्रहार, अस्त्राभ्यास तथा लोकानुभव का समुचित ज्ञान तुम्हें प्राप्त हो जायगा।

भर्तृहरि—लगाया न आपने झमेला। कहाँ संसार-त्याग और कहाँ शस्त्रास्त्र-प्रहार की शिक्षा।

विक्रम—संसार-त्याग तो एक असंभव कथन-मात्र है। क्या यह वन संसार के बाहर है? अपनी मूर्खता से ही खिन्न होकर तो तुम

यहाँ आए हो। मैं कहता हूँ कि मूर्खता वस्तु ही क्या है? प्रवीणता-पूर्वक लोकानुभव की समुचित अप्राप्ति का ही द्वितीय नाम मूर्खता है। ईश्वर बुद्धि की मात्रा न्यूनाधिक्यरीत्या सबको देता है, केवल उसके समुचित प्रयोग तथा परिश्रम में अंतर हो जाता है। परिश्रम से तो तुम पीछे हटते नहीं। पहली बात की न्यूनता अभी तुममें स्थापित नहीं हो सकती, क्योंकि अद्य-पर्यंत तुम्हारा समुचित शिक्षण ही कहाँ हुआ है? तुम जगजीत के भारी ज्ञान की अपने अज्ञान से तुलना करते थे, किंतु यह न सोचा कि उनके समान वय तथा शिक्षा भी तुमने अभी नहीं पाई है। फिर अपना अनुचित दोष क्यों समझ बैठे? यदि वन में रहना चाहते हो, तो यही सही। मैं यहीं तुम्हें पूर्ण विद्वान्, वीर और बुद्धिमान् बना दूँगा। तुम्हारी योग्यता, त्याग तथा सहस्रों सद्गुणों के देखते हुए तुम्हारे सम्मुख जगजीत है क्या वस्तु? स्वयं अपने से बढ़कर धीमान् बना दूँगा। घबराने की क्या बात है? परिश्रम करते और गुरुओं की आज्ञा मानते-भर रहो। बालक हो, तुम्हें ऐसे-ऐसे भारी निर्णय करने का बोध अभी है कब? समय और शिक्षण के साथ मनुष्य पूरा मनुष्य बनता है। विचार-शक्ति बढ़ाओ।

भर्तृहरि—दादाजी! आपकी आज्ञा के बाहर भला कैसे हो सकता हूँ।

विक्रम—धन्य बेटे! धन्य! यही बात है।

अनंतर शीला का विवरण सुन वह बहुत प्रसन्न होकर माताजी से बोले कि अभी पाँच वर्षों तक ऐसी ही तपस्या होने दीजिए, अनंतर सब उलझाव आप ही सुलझ जायँगे। मैंने भी परम प्रिय राजमहिषियों को सालों तक जाँचा, तब कहीं विवाह किए थे। एकाएकी कोई बात होने से पछताना पड़ता ही है। तब भ्राता की शिक्षा-सुपासादि का पूरा प्रबंध करके मालव-पति सबसे मिल-भेंटकर राज-

धानी चले गए। इधर एक दिन शीला का विवरण जानकर भर्तृहरि राजमाता से वार्तालाप करने लगे।

भर्तृहरि—माताजी! आपने शीला रानी का विवरण मुझसे न बतलाया। क्या बात थी?

राजमाता—उसका कथन करने से तुम्हारी तपश्चर्या में विघ्न पड़ने का भय था। वह तुम्हारे सम्मुख होना भी नहीं चाहती, केवल हम तीनो की देव-तुल्य पूजा-मात्र करती है। अपने अधिकारों को छोड़कर भारों पर अब विशेष ध्यान दे रही है।

भर्तृहरि—किंतु माताजी! मैं उन्हें अब ग्रहण नहीं कर सकता।

राजमाता—वह इसकी प्रार्थना भी तो नहीं करतीं, केवल परलोक-साधनार्थ तपश्चर्या में लीन हैं, और हम तीनो का पूजन-मात्र देवत प्रतिमाओं की भाँति करना चाहती हैं।

भर्तृहरि—यह बुद्धि पहले कहाँ गई थी?

राजमाता—कहती हैं कि इसीलिये तो अधिकार खोए हैं।

भर्तृहरि—यह झमेला ठीक है नहीं।

राजमाता—किसी शुद्ध पूजक को विमुख करना भी तो पातक है।

भर्तृहरि—बात यह भी यथार्थ है।

इस प्रकार ताम्रलिप्तर्षि, राजमाता, भर्तृहरि और शीला रानी सब इस वन में घोर तपस्या करती रहीं, तथा भर्तृहरि ने योग्य शिक्षकों से उपर्युक्त सभी बातों का समुचित ज्ञान कठिन परिश्रम द्वारा प्राप्त किया। पाँच वर्ष पूरे हो जाने पर एक बार विक्रम वहाँ फिर आए। बीच-बीच में भी यदा-कदा आया-जाया करते थे। इस बार राजमाता और नानाजी से सम्मत करके भर्तृहरि को फिर से गृहस्थ बनाने तथा शीला रानी के भी ग्रहण का मंत्र दृढ़ किया गया। अनंतर एकांत में भ्राता से वार्तालाप करने लगे।

विक्रम—अब तो तुम्हारा अध्ययन समाप्त हो चुका है, और एक प्रकार से अवभृथ-स्नान भी माना जा सकता है। आशा है, इतने घोर परिश्रम के पीछे अब तुम अपने अनुभव में विशेष न्यूनता न समझते होगे।

भर्तृहरि—दादाजी! अब तो यही बात जान पड़ती है।

विक्रम—तब फिर वानप्रस्थ के रूप में अपना द्वितीय ब्रह्मचर्य समाप्त करके अब तुम्हें नानाजी की, माताजी की तथा मेरी सम्मति के अनुसार गृहस्थाश्रम को फिर से स्वीकार करना चाहिए। अल्पवयस्क होकर भी तुमने समय से बहुत पूर्व घोर तप-साधन किया है, अब चलो मेरे साथ संसार-परिचालन का वास्तविक अनुभव फिर से प्राप्त करो।

भर्तृहरि—क्या यह भी आज्ञा दीजिएगा? यदि क्षमा कर सकते, तो अच्छा था।

विक्रम—क्षमा करने की आवश्यकता ही क्या है? तुमने केवल लोकानुभव की कमी से वन-यात्रा की थी। अब वह न्यूनता पूरी हो चुकी है। तब फिर घर पलटने में हानि ही क्या है? भाँति-भाँति से घोर कष्ट सहकर अब तुम्हें जीवन के माधुर्य का भी कुछ अनुभव करना चाहिए। तुम्हारी तपस्विनी माता ने भी पितृचरण के उपदेशों से संन्यास के पीछे इसी भाँति गृहस्थाश्रम स्वीकार किया था, और उसके प्रतिकूल शिक्षा देने के कारण तुम्हारे मातुल की न केवल प्रचंड भर्त्सना की, वरन् उस नीच को शापित भी किया, जिसका प्रयोग मेरे ही हाथों से हुआ। अब तुम भी सारा भय छोड़कर मेरी सम्मति क्या, आज्ञा पर अनुगमन करो।

भर्तृहरि—जब सभी गुरुजनों की यही आज्ञा है, तब मुझे भी स्वीकार है, यद्यपि इच्छा मेरी पूर्ण योग-साधन पर अब भी है।

विक्रम—वह इच्छा असामयिक होने से त्याज्य है। उन्नति के

लिये परिश्रम योग्य है, न कि अनावश्यक त्याग। अच्छा, अब अपनी रानी शीलादेवी के भविष्य पर भी विचार करो।

भर्तृहरि—उन्होंने एक ओर तो मेरा निष्कारण त्याग किया, और दूसरी ओर पुनः प्राप्ति के लिये पाँच वर्षों से घोर तप-साधना भी की है। ऐसे पुनीत व्यक्ति का अपमान अनुचित है। उधर उनका आदिम द्विवार्षिक आचरण अत्यंत गर्हित था ही, जिसमें छल-वार्ता भी सम्मिलित थी। बड़ा कठिन प्रश्न है। मैं इसका न्याय आप ही पर छोड़ता हूँ।

विक्रम—केवल मेरा नहीं, वरन् पूज्य नानाजी तथा पूजनीया माताजी का भी विचार है कि उनके द्विवार्षिक पातक पंच-वार्षिक प्रचंड तपस्या की अग्नि में भस्म हो चुके हैं, जिससे अब वह पूर्णतया पवित्र मानी जा सकती हैं, वरन् ऐसी निःस्वार्थ तपस्विनी को पापिनी कहनेवाला स्वयं पापी माना जायगा।

भर्तृहरि—पापिनी तो उन्हें अब मैं भी नहीं कह सकता, किंतु वह अधिकार-प्राप्ति की प्रार्थिनी भी तो नहीं हैं, वह तो अपने भारों-मात्र का ग्रहण कर रही हैं।

विक्रम—अधिकार और भार दो न होकर एक ही हैं। अधिकार-प्राप्ति से भार का उत्तरदायित्व हो जाता है, और उचितप्रकारेण भार-वहन करनेवाले के पूरे अधिकार आप-से-आप जाग्रत् हो जाते हैं। गुरुगण से समुचित विद्या प्राप्त करके स्वयं तुम इस विषय को कैसा समझते हो?

भर्तृहरि—देव के कथनों में कोई तिल-मात्र दोष नहीं है। उनका प्राचीन पाप तो एक इतिहास-मात्र है, तथा वर्तमान घोर तप उन्हें पूजनीया अवश्य बनाता है।

विक्रम—फिर अब तुम्हारा छब्बीसवाँ वर्ष लगने को है, तथा उनका बाईसवाँ। अवस्थाओं में भी कोई अनौचित्य नहीं है।

भर्तृहरि—तब आप ही उन्हें गुरुजनों का तथा मेरा स्वीकार सूचित कर देने की क्या कृपा कर सकेंगे ?

विक्रम—मैंने ही उनके प्रतिकूल राजाज्ञा निकाली थी, अतएव मुझी को उसे काटकर नवीन आज्ञा भी देनी होगी।

अनंतर शीला रानी वहाँ मान-पूर्वक आहूत होकर योग्य आसन पर विराजती हैं, तथा ताम्रलिप्तर्षिजी और राजमाता भी पधारकर आसन ग्रहण करती हैं। यों वार्ता होती है—

विक्रम—मान्यवरे ! मैंने बड़े कष्ट के साथ आपकी सेवा में पाँच वर्ष हुए जो पत्र लिखा था, उसके विषय को आपकी कठिन तपस्या ने दग्ध कर दिया है। अब हम सब लोग आपको चिरकाल से अपने सभी कुटुंबियों के समान पाप-हीना तथा मान्या समझते हैं। ईश्वर को कोटि-कोटि धन्यवाद है कि आपको सुमति प्राप्त हुई, जिससे सारी प्राचीन दुर्घटनाएँ दग्ध हो चुकी हैं। इधर मेरे भ्राता ने भी तपस्या तथा महती शिक्षा द्वारा योग्यता समुचितप्रकारेण बढ़ाकर अपना सारा खेद धो डाला है। अब यह फिर से मेरे साथ उज्जयिनी चल रहे हैं। अतएव आपसे भी प्रार्थना करता हूँ कि इन्हीं के वामांक में विराजकर अपना प्राचीन प्रासाद पवित्र कीजिए।

शीला—मैं अपने सभी गुरुजनों से भूरि-भूरि कृतज्ञता प्रकट करती हूँ कि महत्ता की अंतःपुर-सीमा दिखलाते हुए आपने मेरे प्राचीन कुकृत्यों को धो डालने की अमोघ उदारता दिखलाई है। उधर पतिदेव से करबद्ध प्रार्थना है कि मेरा द्वितीय जन्म मानकर वर्तमान तपस्या पर ही ध्यान रक्खा जाय, प्राचीन मूर्खताओं पर नहीं। आज न केवल मैं, वरन् मेरे माता-पिता के भी कुटुंब धन्य हुए। (उठकर पतिदेव के चरणों पर मस्तक रखती है, और वह मान-पूर्वक उठाकर उसे अपने निकट वाम-पार्श्व में स्थान देते हैं।)

भर्तृहरि का राज्य

अनंतर पूज्य मामाजी और राजमाता वन में रह जाती हैं, तथा विक्रम शीला और भर्तृहरि को लेकर उज्जयिनी पधारते हैं, जहाँ उनके सपत्नीक पलटने से भारी हर्षोत्साह मनाया जाता है। उचित समय पर विक्रम इन दोनो से राज्यार्थ कोई प्रांत चुनने का आदेश देते हैं। ये दोनो तक्षशिला-प्रांत का राज्य पसंद करते हैं, और वहीं नियम-पूर्वक इनका अभिषेक होता है। इससे प्रायः एक वर्ष के पीछे राजा ताम्रलिप्तर्षि अस्वस्थ होते हैं। यह समाचार पाकर विक्रम, रूपरेखा, इंदुदेवी, विक्रम-चरित्र, भर्तृहरि तथा शीला कुछ विशेषज्ञ श्रेष्ठ वैद्यों के साथ वहीं पधारती हैं। पूर्ण प्रयत्न से औषधोपचार होने पर भी वृद्ध वय के कारण उनका शरीरांत हो जाता है, और यथायोग्य मरणोत्तर-संस्कारों के पीछे सब कुटुंबियों के पलटने का समय आता है। सर्व-सम्मति से यही निश्चय होता है कि राजमाता वन से पलटकर राजा दिलीप की भाँति किसी राजधानी के निकट वानप्रस्थाश्रम का पालन करें। यों वार्तालाप होता है—

भर्तृहरि—माताजी! उज्जयिनी में आपका विराजना दीर्घकाल-पर्यंत हो चुका है, अब हम दोनो की करबद्ध प्रार्थना यह है कि तक्षशिला की ओर भी ध्यान दिया जाय।

विक्रम—तुम्हारा ऐसा कहना है तो बहुत योग्य, किंतु मेरी प्रार्थना ऐसी है कि माताजी को उज्जयिनी पर ही कृपा करनी चाहिए।

राजमाता—कृपा तो मेरी सभी पर होनी चाहिए और है, किंतु बेटा भर्तृहरि को मैं अकेला कैसे छोड़ सकती हूँ? इसी के कारण तो वन से पलटना मान रही हूँ।

भर्तृहरि और शीला—शतशः धन्यवाद, माताजी!

विक्रम—जाना तो वहाँ भी अनुचित नहीं, किंतु मेरी प्रार्थना पर समुचित विचार हो नहीं रहा है। मेरा भी कुछ भार एवं अधिकार हो सकता है।

राजमाता—अधिकार तो मुझ पर अब किसी का शेष है नहीं, वरन् पालित, पोषित अथवा रक्षित होने का मेरा ही अधिकार तुम दोनो पुत्रों पर है। तुम्हें जानना चाहिए कि इस(भर्तृहरि)की तपस्विनी माता इसे मेरी गोद में सौंपकर मेरे स्थान पर स्वयं पतिदेव की पवित्र चिता पर चढ़ी। तभी से यह मेरा दत्तक पुत्र हो चुका है, और मैं इसे यावज्जीवन अपनी गोद से पृथक् नहीं कर सकती। वह तो पितृचरण के सेवार्थ मैं यहाँ एक वर्ष रुक गई, नहीं तो इसी के साथ अभी तक्षशिला चली गई होती।

रूपरेखा—माताजी ! यहाँ भी तो आपके छोटे-छोटे पौत्र प्रस्तुत हैं।

राजमाता—बेटी, वे तेरे तथा इनँदु के हैं, इधर ये दोनो मेरे ही बच्चे हैं। छोटे पुत्र पर माताओं की विशेष ममता होती है।

विक्रम—धन्य पूज्यवरे ! आपने सदैव ऐसा ही व्यवहार निभाया है, और यही आपके योग्य भी है। (भर्तृहरि से) भाई ! तू मातृहीन नहीं है, वरन् मुझे ही आज से मातृदर्शनों का पुण्य दुर्लभ हो जायगा।

भर्तृहरि—दादाजी ! आप समर्थ हैं, इधर मैं इनकी कृपा से बहुत सुखी रहूँगा।

राजमाता—बेटा विक्रम ! हो अब तुम दोनो योग्य और सज्जन, तथापि तेरी मुख्यता योग्यता में है और इसकी सौजन्य में। तू छली या प्रपंची नहीं, किंतु इन विषयों का ज्ञान पूरा रखता है।

विक्रम—माताजी ! अब इसे भी मैंने वे सब विषय अवगत करा दिए हैं, नहीं तो यह मूर्ख-का-मूर्ख ही बना रहता।

राजमाता—(भर्तृहरि से) क्यों बेटे ! क्या तू अब इन विषयों में भी प्रवीण हो चुका है ?

भर्तृहरि—माताजी ! प्रवीणता तो अभी विषयों में प्राप्त करने

का समुचित प्रयत्न किया है, किंतु किसी में भी दादाजी की समता नहीं कर सकता। (सब लोग हँसते हैं।)

(ड) विक्रमीय अंतिम प्रबंध तथा स्वर्गारोहण

अनंतर यह पूरा समाज उज्जयिनी जाता है। वहाँ विक्रमचरित्र के उन्नीसवें वर्ष में पदार्पण के कारण हर्नेंदुदेवी अपनी अभिभावकता हटा लेती हैं, तथा उत्तर गुर्जर राजधानी में ही उनके स्वयं राज्य चलाने अथच भर्तृहरि की भाँति प्रवीण गुरुओं से विद्या-प्राप्ति का प्रबंध होता है। स्वयं हर्नेंदुदेवी रूपरेखादेवी के आग्रह से पुनर्वार उज्जयिनी में ही रहने लगती हैं। इतर राजकुमारों की विद्या-प्राप्ति के भी नियम यथापूर्व दृढ़ रहते हैं। कुछ ही काल बीतने पर भर्तृहरि राजमाता तथा शीलादेवी के साथ तक्षशिला जाते हैं।

समय पर सौराष्ट्र-प्रांत तो मालवीय राज्य में सम्मिलित हो जाता है, तथा सिंध प्रांत का राज्य हर्नेंदुदेवी के दोनो शेष राजकुमारों में बट जाता और माथुर राज्य के मालव प्रांतों से निकटवाले भाग उसी राज्य में आ जाते हैं, तथा रूपरेखा के दोनो छोटे राजकुमार माथुर राज्य के शेष प्रांत दो भागों में विभक्त करके लेते हैं।

विक्रम की मैत्री आंध्र शातवाहन सिंधुक से पूर्ण प्रेम के साथ स्थापित रहती है। समय पर उत्तरी भारत में विशेष अनवधानता देखकर वह (सिंधुक) आक्रमण करके पाटलिपुत्र के काण्व साम्राज्य का २६ संवत् में अंत कर देते हैं, और फिर आगे बढ़ शुंगों का भी शेष अधिकार ध्वस्त करते हैं। इस प्रकार काण्व सुशर्मन तथा शुंगों के प्रभाव लुप्त हो जाते हैं, और उत्तरी भारत में आंध्रों का साम्राज्य चिरकाल के लिये स्थापित होता है। सम्राट् विक्रम पूर्ण नीति के साथ पचासी वर्ष प्रजा-पालन करके १११ वर्ष की अवस्था में स्वर्गारोहण करते हैं। इनकी दोनो राजमहिषियाँ यथासमय

पहले ही स्वर्गवासिनी हो चुकी थीं। विक्रम के पुत्र-पौत्रों ने प्रचुर काल-पर्यंत अपने-अपने देशों का प्रजा-वत्सलता के साथ पालन किया।

सत्रहवाँ परिच्छेद

ऐतिहासिक परिशिष्ट

त्रिविक्रम

(अ) प्रथम विक्रमादित्य मालव-कुल-वीर विक्रम

आप राजा वीर विक्रमादित्य कहलाते तथा प्रमार समझे जाते हैं। उस काल इनकी संज्ञा मालव थी। न्याय और दानशीलता के लिये आप प्रसिद्ध हैं। इनका मान भारतीय साहित्य में राम, कृष्ण, अर्जुन, बलि आदि के समान है। हिंदी-साहित्य के प्राचीन छंदों में इनका नाम प्रायः आता है। यथा—

भूलि गए भोज, बलि, बिक्रम बिसरि गए,
जाके आगे और तन दौरत न दीदे है।

(देव कवि)

बलि, बिक्रम, बैन, दधीच गए अरु पार्थ गए जिन भारत ठाना;
बालि गए, बलि रूप गए, जिनकी कखरी दसकंठ दबाना।
गए दुरजोधन अंग छुरे, जिन चौसठि कोस लौं छत्रहि ताना;
धरा को प्रमान यही 'तुलसी' जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।

(गोस्वामी तुलसीदासजी)

ऐसे ही सैकड़ों छंद इनकी दानशीलता तथा महत्ता के साक्षी हैं।

विक्रम का संवत् ५७ ईसा - पूर्व (बी० सी०) में चला। इनके निश्चित अस्तित्व पर भी कुछ लोगों को संदेह है। किसी पुराण-ग्रंथ में इनका कथन नहीं हुआ है। फिर भी अन्य प्रकार से विक्रमीय तत्कालीन अस्तित्व सिद्ध है। सबसे प्रथम पहली बा

दूसरी शताब्दी ईसवी के शातवाहन सम्राट् 'हाल' ने इनका परम पूज्य भाव-पूर्ण वर्णन गाथा-सप्तशती में दिया है, जिसका विवरण हमारे इस ग्रंथ में आ चुका है। मेरु तुंगाचार्य - रचित पटावली में आया है कि नभोवाहन के पीछे गर्दभिल्ल ने १३ वर्ष राज्य किया, तथा तत्पश्चात् उज्जयिनी में १४ वर्ष शकों का राज्य रहा, जिन्हें विक्रम ने संवतारंभ में पराजित किया। इनका राजत्व-काल पटावली में ६० वर्ष लिखा है, और पुत्र का नाम विक्रम-चरित्र उपनाम धर्मादित्य कथित है, जिसका राज्य ४० वर्षों का कहा गया है।

कथा-सरित्सागर क्षेमेंद्र-कृत बृहत्कथा-मंजरी पर आधारित है। यह मंजरी हाल के समकालीन गुणाढ्य-कृत बृहत्कथा पर चलती है। कथा-सरित्सागर में विक्रम के पिता महेंद्रादित्य और माता सौम्यदर्शना हैं। उनकी शैव आराधना से माल्यवानगण विक्रम होकर उत्पन्न हुआ। पुत्र का नाम विक्रमादित्य उपनाम विषमशील था। वह शास्त्रों में पारंगत हुए। उनकी ध्वजा अपराजित रही, और वह शक-वधू-वैधव्य-दीक्षा-गुरु कहलाए। गुणाढ्य में विक्रम-कथा है तथा क्षेमेंद्र-कृत बृहत्कथा-मंजरी में भी। कल्पसूत्र में गुर्जर ताम्रलिप्तर्षि की कन्या मदनरेखा से गंधर्वसेन का विवाह कथित है। इसी रानी से विक्रम तथा दासी से भर्तृहरि उत्पन्न कहे गए हैं। वैताल-पचीसी तथा सिंहासन-बत्तीसी में भर्तृहरि रानी से उत्पन्न हैं। ये ग्रंथ हैं तो नवीन, किंतु जनश्रुति भर्तृहरि को पूज्य समझती है, दासी-पुत्र नहीं। कल्पसूत्र के अनुसार विक्रम ने प्रजा को ऋण-मुक्त किया। संवत् विक्रम के जन्म से चला, तथा इन्होंने ३६ बी० सी० में शकों को हराया। अनंतर राज्य पाया। १११ वर्ष की आयु में स्वर्गारोहण किया। गर्दभिल्ल ने १३ वर्ष राज्य किया था। लाट के राजा ने ९६ शाहियों को

सहायता की। उज्जयिनी में हारकर विक्रम की माता प्रतिष्ठान चली गईं। उज्जयिनी विक्रमपुर या विक्रमपट्टन भी कहलाती थी। इनके नाम विक्रमराज तथा विक्रमादित्य थे।

तेरहवीं शताब्दी में लिखित प्रभावक-चरित्र जैन-ग्रंथ में कालकाचार्य की कथा है। वीरसिंह राजा धारा-पति के पुत्र कालक तथा कन्या सरस्वती सूरि गुणाकर, जैन भिक्षु के गुरुत्व में, संन्यासी हुई, जिसके पीछे कालक पीठाधिपति हुआ। उज्जयिनी में गर्दभिल्ल सरस्वती को अंतःपुर में बंदिनी करके उससे व्यभिचार करने लगा। सिंध में शाही उपाधिधारी ९६ शक शासक थे, जिनका सम्राट् शाहानुशाही पदभोगी था। उनमें से एक शाहीपति कालकाचार्य का मित्र हुआ। इनमें से कई शाहियाँ काठियावाड़ में आकर जमीं। कालक का मित्र भी इन्हीं की सलाह से वहीं आकर जमा। अनंतर काठियावाड़ में बल बढ़ाकर उसने गर्दभिल्ल को पराजित करके सरस्वती का मोचन किया। गर्दभिल्ल जंगल में भागा, जहाँ वह शेर का शिकार हुआ। बी० सी० ६० के निकट शक उज्जयिनी के शासक थे। शकों ने चौदह वर्ष इस नगरी का शासन किया। बौद्ध और पौराणिक साहित्य विक्रम पर मौन हैं। जब सरस्वतीदेवी का संग उज्जयिनी-पति से सात-आठ वर्षों का रहा, जैसा कि कालकवाली कथा की घटनाओं पर विचार करने से जान पड़ता है, तब वह केवल व्यभिचार नहीं समझ पड़ता, वरन् सरस्वती की इच्छा के साथ माना जायगा। ऐसी दशा में कालक द्वारा उनका मोचन केवल अपने धार्मिक व्यक्ति की अनुयायियों द्वारा अनुचित प्रशंसा है। वास्तव में वह बदला लेने की बात होगी।

ऐतिहासिक ग्रंथों के अनुसार शकों का शासन क्रूर एवं कठोर था। वे बोलन-घाटी के द्वारा सिंध होकर भारत आए। तक्षशिला

में माडवश १२० बी० सी० में शासक था। अनंतर वहाँ कुसलक-वंशी महाक्षत्रप लिअक और पतिक की मुख्यता हुई। दूसरा शक-अड्डा मथुरा था, जहाँ खरओस, हगाम तथा हगामस क्षत्रप थे, अथच राजबुल और षोडास महाक्षत्रप। खरओस राजबुल का बेटा था और षोडास भाई, तथा इन उभ्य (राजबुल) की बेटी थी। १०० बी० सी० के निकट राजबुल मथुरा का शासक था। ८८ बी० सी० में शक बैक्टिया-नरेश मिथ्रडेटस से स्वतंत्र हुए। सिंध से तीसरी शक-धारा सौराष्ट्र गई, जहाँ भूमक की मुख्यता थी। मथुरा के शकों की महत्ता उत्तरी मालवा-पर्यंत थी। विक्रमादित्य से षोडास अथवा खरओस का युद्ध हुआ। राजबुल की रानी नंद सिवयसा बौद्ध थी। उसने एक बौद्ध स्तूप बनवाया, ऐसा मथुरा की सिंहमूर्ति में लिखित है। रानी के पिता का नाम आपसिकीमूसा और माता का अबूला था। मूर्तों में शकों के मुच्छ या दाढ़ी न थी। राजबुल के सिक्कों पर "अप्रतिहत जउल छत्रपस राजबुलस" लिखा है। उसने भूमक की सहायता से गर्दभिल्ल को जीता। जउल का अर्थ है विजयी।

तक्षशिला के शक कुसलक-वंशी कहलाते हैं। उनके नाम क्षत्रप लिअक व क्षत्रप पतिक हैं। वे दोनो बौद्ध थे। ये कथन तक्षशिला में ७८ बी० सी०वाले प्रतिक के ताम्रपत्र में हैं। माथुर शकों का युद्ध कुनिंदों से भी हुआ। यह एक गणराज्य था, जिसका फैलाव वर्तमान कुरुक्षेत्र से अंबाला तक था। गार्गी-संहिता के युग-पुराण के अनुसार कौनिंद देश में शकों द्वारा भारी उजाड़ हुई। तक्षशिला, मथुरा और सौराष्ट्र के शक सब १०० बी० सी० के निकट सिंध से फैले। पेरिप्लस में लिखा है कि सिंध मानो शक-स्थान था। शकों ने सुराष्ट्र में वृष्णि और कुकुर-वंशियों को समाप्त किया। मथुरा-वाले हिंदू राजों के सिक्के मिले हैं, जिनमें नाम प्रायः मित्र शब्द पर

समाप्त होते हैं। ये पुष्यमित्र शुंग के वंशधर समझ पड़ते हैं। इन सिक्कों से सिद्ध है कि मथुरा में मित्रों का राज्य एक सौ वर्षों से अधिक रहा। इन्हीं शकों ने पराजित करके वहाँ राज्य फैलाया। राजवुल का बेटा खरओस केवल क्षत्रप कहलाया, यद्यपि उसका बाप राजुल या राजवुल महाक्षत्रप था, तथा बाप के पीछे बेटा महाक्षत्रप न हुआ, वरन् भाई षोडास हुआ। इससे समझ पड़ता है कि खरओस बाप के पीछे न जिया, और भाई षोडास उत्तराधिकारी हुआ। महाक्षत्रपों के बेटे बाप के समयों में प्रायः क्षत्रप कहलाते थे।

विक्रम का मंत्री अमरगुप्त था और नौकर वीरवर, जिसने स्वामी के लिये अपने बेटे तक का बलिदान करना चाहा। कथा सरित्सागर के अनुसार विक्रमादित्य विक्रमार्क भी कहलाते थे। वह महाकालेश्वर शिव के भक्त थे और शक्ति के भी। वह वीर, न्यायी तथा दंड देने में मृदु थे। एक श्लोक में कथित है कि उस नयशाली का खड्ग तीव्र था, किंतु दंड में नहीं। उसकी आसक्ति सदैव धर्म में थी, मृगया अथवा स्त्रियों में नहीं। उस काल धार्मिकता और विश्वासात्मिकता बढ़ी हुई थीं। महाकाल का मंदिर ऊँचा था, तथा कैलास-समान श्वेत प्रासाद नगर में थे। सुबंधु-कृत वासवदत्ता में विक्रमीय कीर्ति की प्रशंसा है। पटावली इत्यादि तेरहवीं शताब्दी के जैन-ग्रंथ हैं।

विक्रमीय संवत् तीसरी-चौथी शताब्दी-पर्यंत कृत-संवत् कहलाया, और तब मालव। गुप्त-राजत्व-काल में उत्तरी और मध्य भारत में गुप्त-संवत् चलता था, तथा केवल मालवा में कृत-संवत् के चलने से यह मालव-संवत् कहलाने लगा होगा। ९वीं शताब्दी (८९८) में यह विक्रमीय संवत् कहलाने लगा, किंतु एक बार मालवेश भी कहलाया। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में विक्रमीय संवत्

शब्दों का बहुत चलन हो गया, तथा ११३१ के एक लेख में यह विक्रमादित्य द्वारा स्थापित संवत् कहा गया। पीछे से यह बराबर विक्रमीय संवत् कहलाता रहा है। न्याय - कथन के संबंध में हमने जो चार कथाएँ लिखी हैं, उनमें से प्रथम दो के मूल वैताल-पच्चीसी में हैं, यद्यपि हमने उनमें कुछ-कुछ परिवर्तन कर दिए हैं। सिंहासन-बत्तीसी में आया है कि लूतवर्णा काग के रूप में भी रहता था, तथा एक बड़े सम्राट् का मंत्री था, जिस सम्राट् के जीतने का विचार विक्रम के लिये भारी धृष्टता कही गई है। लूत-वर्णा की सम्मति से विक्रम ने उस सम्राट् से मिलकर सिंहासन माँगने पर मित्र-भाव से पाया। हमने यह कथा सिंधुक से संबद्ध कर दी है। बत्तीसी में उस राजा का कोई पता नहीं लिखित है। इन ग्रंथों की शेष कथाएँ बहुत साधारण हैं।

आंध्रों का वर्णन

आंध्र-महीप शातकर्णी और शातवाहन (अपभ्रंश शालिवाहन) भी कहलाते थे। यह थे हिंदू, किंतु दान ब्राह्मणों तथा बौद्धों दोनो को देते थे। यह अज्ञात है कि आंध्रों का अधिकार कब कितने उत्तरी भारत पर रहा। राजधानी श्रीकाकुलम थी। पहले लिखित आंध्र-नरेश ने काण्व सुशर्मा को २८ बी० सी० में मारकर उत्तरी भारत का भी साम्राज्य प्राप्त किया। यह भी लिखा है कि चंद्र-गुप्त मौर्य के समय आंध्रों की सेना बढ़ी थी। वे लोग मौर्योदय के समय बल-हीन हुए। इससे जान पड़ता है कि सिंधुक के कुछ पूर्ववर्ती आंध्र भी राजे थे, किंतु उनके नाम पुराणादि में लिखित नहीं हैं, क्योंकि वे ग्रंथ केवल स्वतंत्र राजाओं के नाम देते थे, और मौर्य-काल में वे शायद परतंत्र समझे गए हों। आंध्र २३२ से २८ बी० सी० पर्यंत स्वतंत्र राजे रहे, २८ बी० सी० से २२५ ई० तक सम्राट् तथा इसके पीछे

इनका अनस्तित्व हो गया। सिंधुक विक्रमादित्य का समकालीन था। इनके पीछे आंध्र-नरेशों में कृष्ण शातकर्णी, अपीलव, पत्तिमावी, नेमिकृष्ण, हाल (सप्तकमंडलक), पुलीक-सेन, शातकर्णी (सुंदर), चकोर शातकर्णी, शिवस्वाति, गौतमी-पुत्र यज्ञ श्रीशातकर्णी (१२४ ईसवी), विजयदंड श्रीशात-कर्णी और पुलमावी आदि के नाम लिखे हैं। पुलमावी को उसके श्वशुर रुद्रदामन शक ने पराजित किया।

वीर विक्रमादित्य ने ५७ बी० सी० में भारतीय शक-शासन समाप्त कर दिया। इसके पीछे स्वयं इनका राज्य २८ ईसवी-पर्यंत रहा। तब तक किसी शक शासक का नाम इतिहास में इनके द्वारा पराजित शकों के अतिरिक्त नहीं आता है। पराजित शक सब संवतारंभ से पूर्व के थे। अनंतर महाक्षत्रप रुद्रसिंह का समय १०१,१०५, तथा ११४ ईसवी लिखा है, और क्षत्रप रुद्रसेन प्रथम का १२१ ईसवी। ६८ ईसवी में प्रायः दस सहस्र यहूदी बाहर से आकर मलाबार में बसे। चष्टन-नामक प्रतापी शक का समय १२६ ई० है। नहपान एक प्रतापी शक था, जिसका १२० ईसवी का सिक्का तथा लेख मिला है। इसका दामाद उषवदात (ऋषभदत्त) भी नामी सेना पति था, जिसने १२७ ईसवी में पुष्कर के निकटवाले उत्तम भद्रों के बचाने में मालवों को हराया। इन बातों से प्रकट होता है कि ५७ बी० सी० में विक्रम से पराजित होकर प्रायः डेढ़ सौ वर्षों के पीछे १०० ईसवी के निकट शक लोग फिर भारत में प्रबल हुए, तथा कनिष्क ७८ ईसवी में था, जिससे शक-संवत् चला।

(ब) द्वितीय विक्रमादित्य शातकर्णी

इनका नाम गौतमी-पुत्र शातकर्णी आंध्र था। उपर्युक्त आंध्रों के विवरण में यह नाम है। यह बड़े मातृभक्त थे। इनके नाम ही

में गौतमी-पुत्र शब्द लगे हुए हैं। इनकी माता गौतमी ब्राह्मण-कन्या समझ पड़ती हैं, क्योंकि यह अपने पुत्र को श्रेष्ठ ब्राह्मण कहती हैं। इनकी विजय - प्रशस्ति माता बालश्री गौतमी की लिखाई हुई नाशिक तिरंड (तिररिम) की गुफा में मिली है, जो इनके बेटे वशिष्ठी - पुत्र पुलमावि के १६ वें राजवर्ष की है। इस लेख का कथन है कि गौतमी-पुत्र असिक (ऋषिक) अश्मक (गोदावरी का निचला कांठा प्रांत), मुलक (पैठण के आस - पास), सुराष्ट्र (काठियावाड़), कुकुर (पूर्वी या दक्षिणी गुजरात), अपरांत (उत्तरी कोंकण), अनूप (उत्तरी नर्मदा देश माहिष्मती), विदर्भ (पश्चिमी बरार), आकर (पूर्वी मालवा), अवंती (पश्चिमी मालवा) के राजा थे, विंध्य, ऋक्षवत (सतपुरा), पारिमात्र (पश्चिमी विंध्य), सह्य (सह्याद्रि), कृष्ण गिरि (थाना की पहाड़ी), मलय (पश्चिमी घाट का दक्षिणी भाग), महेंद्र (महानदी और गोदावरी के बीच की शृंखला), श्वेत गिरि और चकोर दोनों (अज्ञात) के स्वामी थे। इनके वाहनों ने तीन समुद्रों के जल का व्यवहार किया। ये निरंतर अभयोदक दान करते रहे, अविपन्न मातृशुश्रूषा में रत रहे तथा पौर जनों के सुख-दुःख में सम्मिलित थे। इन्होंने शकों यवनों और पह्लवों का संहार किया, द्विजों और शूद्रों को बढ़ाया। खहरात - वंश का मूलोच्छेदन तथा शातवाहन-वंश के यश का प्रतिष्ठापन किया। वर्णसंकर का प्रतिरोध होता था। अनेक समर जीते। विजय-पताका अपराजित रही। अद्वितीय धनुर्धारी तथा अद्वितीय ब्राह्मण थे। शत्रु - समूह जीते। महादेवी गौतमी बालश्री सत्य, दान, दया, अहिंसा में निरत थीं। इन्होंने भिक्षु-संघ को दान दिया। पुलमावि दक्षिण पथ का स्वामी था। उसने पिशाचि पद्रक ग्राम दिया।

इतर ऐतिहासिक आधारों से प्राप्त है कि यवन, शक और पह्लव

बौद्ध हुए। बौद्धों को मठ, गुफाएँ मिलीं। ब्राह्मणों का मान गौतमी-पुत्र उषवदत्त और रुद्रदामन ने किया। व्यापार अच्छा था। व्याज की दर पाँच से साढ़े सात सैकड़ा वार्षिक थी, जिससे देश में शांति का राज्य समझ पड़ता है। न्यायालय अच्छा काम करते थे। व्यापार समितियों, ग्राम्य पंचायतों, निगम-सभा आदि की देख-रेख में था। गौतमी-पुत्र ने नहापन को हराया, तथा सौराष्ट्र छीना। इन्होंने शक, पल्लव आदि जाति-हीन विदेशियों को भारत से निकाल दिया, ऐसा कथित है, किंतु यह भी था कि इनके पुत्र का विवाह एक शक-कन्या से हुआ।

उषवदात शक च्हरात नहपान शक का दामाद था। नाशिक-शिला-लेख में लिखित है कि उस(उषवदात)ने तीन लाख गोदान किए, १६ गाँव देवताओं पर चढ़ाए तथा ब्राह्मणों को दिए, एक लक्ष ब्राह्मणों को प्रतिवर्ष खिलाया, ८ ब्राह्मणी कन्याओं के विवाह कराए, और कुएँ, तालाब, प्याऊ, विश्रामस्थल आदि सड़कों पर बनवाए। पुष्करणी-नदी में नहाकर एक गाँव तथा तीन सहस्र गाएँ ब्राह्मणों को दीं। नहपान ने आंध्रों की सीमा-पर्यंत राज्य फैलाया। वह महाक्षत्रप तथा राजा कहलाता था। इसका राज्य पूर्वी राज-पूताना से नाशिक-पर्यंत था। सन् १२७वाला नहापन का सिक्का मिला है।

गौतमी-पुत्र ने शकों को हराया अवश्य, किंतु चष्टन शक को ही अपना उपरिक (गवर्नर) नियुक्त किया। उसका पुत्र जयदामन था तथा पौत्र रुद्रदामन, जो सन् १४५ ई० में स्वतंत्र हो गया।

राजपूताना के उत्तम भद्रों की मालवों से लाग-डाट रहा करती थी। एक वर्षा-ऋतु में मालवों के छेके हुए उत्तम भद्रों के छोड़ाने को उषवदात गया। मालव उसकी हुँकार-मात्र से भागे। उत्तम भद्र सुरक्षित हुए। यह मामला पुष्कर-क्षेत्र के प्रांत का था। अनंतर

ऋषवदात ने पुष्कर-क्षेत्र में पुण्य स्नान किया। थोड़े ही दिनों में गौतमी-पुत्र शातकरणी ने माथुर तथा सौराष्ट्र चहरातों का अंत किया। इन्होंने नहपान के सिक्कों पर अपने नाम के ठप्पे लगवाए।

चष्टन शकों की दूसरी धारा का सरदार था, जो इन विक्रम का कृपा-पात्र था। इन विक्रम ने शाहानुशाही शक, पल्लव और चहरातों की संयुक्त शक्ति को पराजित तथा यवनों को अवरुद्ध किया। अवंति-आकर पीछे से मालवा कहलाए। इन्होंने अनेक विशाल आनंदोत्सवों का आयोजन किया। धर्मसेतु भी स्थापित किया। समझ पड़ता है कि इन विक्रम (गौतमी-पुत्र शातकरणी) का राजत्व-काल लंबा न था, क्योंकि इनकी माता अपने पौत्रवाले राज्य के १९वें वर्ष-पर्यंत जीवित थीं। उधर इन्होंने जैसी विजय-यात्राएँ कीं, उनसे सिद्ध है कि इनका राजत्व-काल बहुत छोटा भी न था। अतएव हम बूलर के अनुसार यह काल प्रायः ३१ वर्षों का समझते हैं, जो इनके प्राप्त सिक्कों के आधार पर निर्णीत हुआ है। डॉक्टर जायसवाल इन्हीं को मुख्य विक्रम कहते हैं, किंतु इनका राजत्व-काल संवतारंभ से नहीं मिल सकता। इन्होंने कभी अपने को विक्रम कहा भी नहीं। तो भी शकारि और परमप्रतापी होने से यह द्वितीय विक्रम माने जा सकते हैं। इनकी विजयों से प्रकट है कि नहपानवाला चहरात (खखरात)-वंश तो इनके द्वारा नष्ट हो गया, किंतु चष्टनवाले का इन्होंने स्वयं मान किया, जिससे इनके प्रयत्नों से शक-प्रभाव विध्वंस न हुआ, जैसा कि प्रथम और तृतीय विक्रमों के प्रयत्नों से हुआ। प्रथम विक्रम ने प्रायः डेढ़ सै वर्षों के लिये भारत से शक-शक्ति निमूल कर दी थी, किंतु द्वितीय ने केवल चहरात-शक्ति सदा को मिटा दी, अथच इनकी कृपापात्री चष्टनवाली द्वितीया शक-धारा फलती-फूलती रही।

(स) तृतीय विक्रम चंद्रगुप्त विक्रमादित्य

१४५ ई० से शक-पति चष्टन का कुटुंब मध्य तथा पश्चिमी भारत में प्रबल रहा। एक द्वितीय शक-वंश जो कनिष्क का था, वह ७८ ई० में तो प्रबल था, किंतु पीछे न्यूनाधिक निर्बल हुआ। मालव-बल द्वितीय विक्रम के समय से ही दबा हुआ था। गुप्त-काल-पर्यंत उसकी कोई महत्ता इतिहास नहीं बतलाता। कनिष्क और शातवाहनवाले वंश १५० ई० के पीछे सबल न हुए, किंतु किसी प्रकार चलते रहे। सन् २२५ से २५० ई०-पर्यंत ये दोनो कुल इतिहास के पृष्ठों से उठ चुके थे। नाग-वंश का साम्राज्य २४० ई० के पीछे ६० वर्ष चला, और तत्पश्चात् वाकाटक-साम्राज्य स्थापित हुआ, जो गुप्तों के महत्त्व-काल (३२८-४६६ ई० तक) में साम्राज्य छोड़कर राज्य के रूप में चलता रहा। ३२८ में गद्दी पाकर सम्राट् समुद्रगुप्त ने पचास वर्ष राज्य किया। आप भारतीय नैपोलियन कहलाते हैं। उज्जयिनी तथा गुजरात के दोनो शक-राज्यों को छोड़कर आपने प्रायः शेष सभी भारत जीता। इनका ३७८ ई० में शरीरांत हो जाने से ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त सम्राट् हुए, जिनकी सम्राज्ञी महासुंदरी ध्रुव-स्वामिनी थीं। उज्जयिनी का प्रबल शक महाक्षत्रप सिंहसेन इन्हें चाहता था। चंद्रगुप्त रामसिंह के कनिष्ठ भ्राता थे, जिनके साथ सम्राट् का व्यवहार अच्छा न था। सिंहसेन आक्रमण करके रामसिंह को पराजय दे अयोध्या राजधानी के बहुत निकट ससैन्य ठहरा। उसने ध्रुवस्वामिनी-मात्र को पाकर पलट जाने का प्रस्ताव किया, तथा यह भी कहा कि गुप्त-राज्य का कोई भाग वह न छीनेगा। रामसिंह ने प्रजा-हित के ब्याज से सम्राज्ञी देने की सन्नद्धता प्रकट की। उनकी इस कादरता से परम रुष्ट होकर सम्राज्ञी ने एकमात्र देवर चंद्रगुप्त से मंत्र किया, और इन्होंने सम्राज्ञी के रूप में शक महाक्षत्रप सिंहसेन के पास जाकर उसका वध कर

डाला। सेना का भी समुचित प्रबंध इन्होंने पहले ही कर लिया था, जिसने एकाएक आक्रमण करके शक-दल को पूर्ण पराजय दे दी।

इस विजय-यात्रा से पलटने पर अपने मंत्रियों से मंत्र करके चंद्रगुप्त विक्षिप्त बने, जिससे सम्राट् की ईर्ष्या इनके प्रतिकूल बलवती न हो। तो भी रामसिंह प्रसन्न न हो सका, और एक द्वंद्व-युद्ध में इनके द्वारा मारा गया। अब ३८० ई० में चंद्रगुप्त ने सम्राट् होकर ध्रुवस्वामिनी से भी विवाह कर लिया, जिससे वही सम्राज्ञी बनी रही। ध्रुवस्वामिनी के चंद्रगुप्त से कुमारगुप्त अथच गोविंदगुप्त-नामक दो पुत्र हुए, तथा कुबेरनागा रानी से एक कन्या प्रभावती गुप्ता हुई, जिसका विवाह वाकाटक-नरेश से हुआ। सम्राट् समुद्रगुप्त ने बंग जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था। उसके समतट तथा डवाक-नामक दो भाग थे। इन दोनो पराजित नरेशों ने राजविद्रोह करके भारी युद्ध किया, किंतु ये फिर से पराजित हुए। ४०० ई० के पीछे चंद्रगुप्त ने आक्रमण द्वारा सिंहसेन के बेटे रुद्रसेन क्षत्रप को पराजित करके उज्जयिनी का राज्य गुप्त-साम्राज्य के अंतर्गत कर लिया। इस विजय के उपलक्ष में आपने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। अनंतर गुजरात पर आक्रमण कर चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने वहाँ के महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसिंह को पराजित करके वह देश भी गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया। इसके पीछे सिंधुनद के सातो मुख लाँघकर चंद्रगुप्त विक्रमादित्य अपनी विजयिनी सेना वंक्षु-नदी के उस पार पर्यंत ले गए, जहाँ हूणों को करारी पराजय दी गई। कविवर कालिदास इस सम्राट् के प्रगाढ़ मित्र थे। गुप्त सम्राट् की कन्या प्रभावती अपने बच्चे राजा दिवाकरसेन की अभिभाविका थीं। उनकी प्रार्थना पर वहाँ

कालिदास भेजे गए, जिन्होंने उचित प्रबंध किया। चंद्रगुप्त उदार दानी कहे गए हैं। इनके एक शत्रु ने लिखा है कि जिस दीन चंद्रगुप्त ने भाई को मारकर राज्य और महादेवी हर लीं, उसने यदि एक लक्ष के याचक को एक करोड़ दे दिए, तो भी कौन-सी बड़ी बात थी? गुप्तराज चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में स्वतंत्र रूप में सारा शक-बल सदा के लिये ध्वस्त हो गया, और उसके पीछे शक लोग इतर भारतीयों से ऐसा मिल गए कि इन दोनो में कोई भेद ही न रहा। इन विक्रम का राजत्व-काल ३५ वर्ष था। अतएव तीनो विक्रमों का पूर्ण राजत्व-काल १५० वर्षों का आता है। भारत में शक-शक्ति विदेशी विजेताओं के रूप में इन्हीं तीनो विक्रमों के द्वारा समाप्त हुई। पूर्णरूपेण विचार करने से प्रथम और तृतीय विक्रमादित्य बड़े महान् सम्राट् थे। हमने चंद्रगुप्त विक्रमादित्य नाम का एक इतना ही बड़ा ग्रंथ उपन्यास लिखा है, जो इस विषय को विशेषतया जानने की इच्छा रखनेवालों को पढ़ना चाहिए।

मिश्रबंधु के काव्यालोचनात्मक, ऐतिहासिक, धार्मिक एवं साहित्यिक मुख्य ग्रंथ

नंबर	नाम ग्रंथ	समय	पृष्ठ-संख्या
(१)	बुद्ध पूर्व का भारतीय इतिहास	२३वीं से छठी शताब्दी बी० सी० (ईसा पूर्व)	४३२
(२)	रामचरित [नाटक]	तेरहवीं शताब्दी बी० सी०	१३८
(३)	पूर्व भारत [नाटक]	दसवीं शताब्दी बी० सी०	१६४
(४)	उत्तर भारत [नाटक]	,, ,,	२३५
(५)	चंद्रगुप्त मौर्य [उपन्यास]	चौथी ,,	३२५
(६)	पुष्यमित्र (शुंग) [उपन्यास]	दूसरी ,,	३१८
(७)	वीर विक्रमादित्य [उपन्यास]	पहली ,,	३५०
(८)	चंद्रगुप्त विक्रमादित्य [उपन्यास]	चौथी शताब्दी ईसवी	३२५
(९)	ईशान वर्मन [नाटक]	छठी ,, ,,	१६४
(१०)	वीर मणि [उपन्यास]	तेरहवीं ,, ,,	२१३
(११)	शिवाजी [नाटक]	सत्रहवीं ,, ,,	२२२
(१२)	नेत्रोन्मीलन [नाटक]	बीसवीं ,, ,,	१३५
(१३)	पियक्कड़ पतन [एकांकी नाटक]	,, ,,	२५
(१४)	धर्म-तत्त्व [निबंध]	,, ,, ,,	१२२
(१५)	हिंदू-धर्म के आठ युग [निबंध]	,, ,, ,,	७५
(१६)	हिंदू-धर्म	,, ,, ,,	२२५
(१७)	मिश्रबंधु-विनोद [चार भाग]	,, ,, ,,	२१०४